न्याय सूत्र

महामुनि गौतम कृत

और

विश्वनाथ तर्कपञ्चानन कृत वृत्ति का

हिन्दी अनुवाद

पण्डित सुखदयालु शास्त्री कृत ॥

पञ्जाब महाविद्यालय के निमित्त ।

2718

Aphorisms of the

Nyaya Philosophy

or

Sanscrit Logic

with Vishwa nath's commentary
translated into Hindi
by

Pandit Sukhdyal Shastri

Published under the auspices of the
Punjab University

1883

Anjuman i Punjab Press

Nyaya
Sastra
No. 14

First Edi
300 Cop

Price 1 Rupee

न्याय सूत्र

महामुनि गौतम कृत

और

विश्वनाथ तर्कपञ्चानन कृत वृत्ति का

हिन्दी अनुवाद

पण्डित सुखदयालु शास्त्री कृत ॥

पञ्जाब महाविद्यालय के निमित्त ।

२७१८

Aphorisms of the

Nyaya Philosophy

or

Sanscrit Logic

with Vishwanath's commentary
translated into Hindi
by
Pandit Sukhdyal Shastri

Published under the auspices of the
Punjab University
1883

Anjuman i Punjab Press

Nyaya
Sastra
No: 14

First Ed
300 Cop

Price 1 Rupee

6212.

Price Rs: 1-0-0-

6212.

Price Rs: 1-0-0-

ओं श्रीगणेशाय नमः ॥

न्यायसूत्रवृत्तिः

मंगल

वपुर्लीलालक्ष्मीजितमदनकोटिर्व्रजवधू
जनानामानन्दं कमपिकमनीयं विरचयन्।
सकोपि प्रेमाणं प्रथयतु मनोमन्दिरचरः
त्रिलोकीलोकानां सजलजलदश्यामलतनुः १

शरीर की सौंदर्य शोभा से कामदेव को जीतकर व्रज वहुओं को अलौकिक मनोहर आनन्द देने, स्वर्ग, मर्त्य और पाताल के निवासी जनों के मन (अंतःकरण) में अंतर्यामी होके स्थित, जल से भरे नये मेघ की नाईं श्यामवर्ण, अतिप्रसिद्ध कृष्णदेव हमारे प्रेम को विस्तार करें; । १॥

संयुक्तां युक्तरूपामभिनवनिहितालक्तकारक्तभासा
सन्ध्यापीयूषभानोरतिरुचिरतरां चूर्णयन्तीमभिख्या
मानव्यासेकनम्रत्रिपुरहरशिरोरम्यभूषाविशेषं
भूयोभव्यं विधातुं चरणनखरुचं भावयामो भवान्याः २

नये लगाये लाख के रंग से सायंकाल के चन्द्रमा की अतिमनोहर शोभा का तिरस्कार करती, मान दूर करने के अर्थ प्रणाम करते महादेव के सिर पर मनोहर भूषण की नाईं शोभायमान, परस्पर मिली हुई, अतिसुंदर भवानी (पार्वती) के चरणों के नखों की कांति को कल्याण की कामना से हम बार बार स्मरण करते हैं। २ ॥

यदीयतर्ककिरणैरन्तर्ध्वान्तसन्ततिम्
सन्तस्तरन्तिभास्वन्तमक्षपादंनमामितम् ३

जिस के तर्क (युक्ति) नामी किरण (प्रकाश) से सज्जन लोग अंतःकरण के अज्ञान नामी अंधकार को तर (उलंघन कर) जाते हैं, उस भास्वान् (सूर्य) अक्षपाद (गौतम) को मैं नमस्कार करता हूं; । ३ ॥

अद्वैतंगुरुधर्मयोरखिलसन्मामण्डलीमण्डने
रूपंकिञ्चनयोहवंगिरइवप्रागल्भ्यसम्पादकम्।
दानेकर्णमिवावतीर्णमपरंदीनेदयादक्षिणं
तातेविश्वविसारिचारुयशसंविद्यानिवासंनुमः ४

धर्म की मूर्त्ति धारण किये गुरु, पृथ्वी के भूषण, सरस्वती को प्रगल्भ करने में समर्थ देहधारी भट्टाचार्य, दान करने में अपर रूप दूसरे कर्ण, अनाथों पर कृपा करनेके समुद्र और सारे जगत में प्रसिद्ध यशस्वी, विद्यानिवास नामी अपने पिता जी की मैं स्तुति करता हूं । ४ ॥

अलसमतिरपीदंविस्तृतेन्यायशास्त्रे
विरहितबहुयत्नोलीलयावेत्तुचित्तः।
इतिविनिहितचेताःकौशलेकर्त्तुकामो
गुरुचरणरजोहंकर्णधारीकरोमि। ५।

आलसी भी बुद्धिमान् पुरुष अधिक यत्न करने से विना ही लीलासे इस विस्तृत न्यायशास्त्र में व्युत्पन्न होजावे; इसलिये चतुराई करने की इच्छा से मैं गुरुजी के चरणों की धूलिको कर्णधार (मल्लाह) बनाता हूं । ५ ॥

विद्यानिवाससूनोः कृतिरेषा विश्वनाथस्य
विदुषामतिसूक्ष्मधियायमन्तरांमुदेभविता ६

विद्यानिवास के पुत्र विश्वनाथ का यह (न्यायसूत्रवृत्ति) यत्न अतिसूक्ष्म बुद्धि सज्जनों पंडितों को आनन्द देवे। ६

अवतरणिका ।

सिद्धार्थंसिद्धसम्बन्धंश्रोतुंश्रोताप्रवर्त्तते ।
शास्त्रादौतेनवक्तव्यःसम्बन्धस्सप्रयोजनः ॥ १

जिस विषय का प्रयोजन और संबंध (संगति) जान लिया जावे; उसी विषय को पुरुष आनंद से चित्त देकर सुनता है; इसलिये आदि में शास्त्र का प्रयोजन और संबंध अवश्य कहना योग्य है; १ ॥ इसी आशय को लेकर गौतम जी ने आदि में दो सूत्रों के १म प्रकरण में विषय, संबंध, प्रयोजन और अधिकारी ये चार वस्तु दिखाई हैं। १म सूत्र में अथवा अन्य सूत्रों में जहां जहां द्वंद्व समास किया है, वहां कई पदार्थों का परस्पर भेद ना भी हो, तो पदार्थतावच्छेदकों (पदार्थों के विशेषणों) के भेद से ही द्वंद्व समास जान लेना; क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के विशेष विभाग सूत्रकार ने आगे आपही विस्तारपूर्वक दिखाये हैं; इससे समास के विग्रह में सब पदों से उत्तर एक वचन देने से कोई हानि नहीं प्रतीत होती, यह नवीनों का सिद्धांत ही उत्तम है। इसीसे अनुपयोगी जानकर यथाश्रुत भाष्यानुसारी और संप्रदायवेत्ताओं का विग्रह में वचन का विवाद नहीं दिखाया ॥ ❀ ॥ ❀ ॥

PRATAP SINGH MUSEUM, SRINAGAR
3266

ओम्

गौतमसूत्र ॥

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः १ ॥

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थों के तत्वज्ञान (साधर्म्य, वैधर्म्य के द्वारा यथार्थ ज्ञान) से मोक्ष होता है; यह गौतम का सिद्धांत है। यद्यपि इन सोलह पदार्थों का यथार्थज्ञान इन के नाम मात्र जानने से ही अथवा एक पहिला सूत्र पढ़ने से भी हो सकता है; तो भी इन पदार्थों का (साधर्म्य, वैधर्म्य के द्वारा) विशेष-ज्ञान उस शास्त्र के पढ़ने बिना कभी नहीं हो सकता; कि जिसमें पदार्थों के उद्देश (केवल संज्ञा विभाग,) लक्षण (इतर पदार्थों से भेद के साधक धर्म) और परीक्षा (इस पदार्थ का यह लक्षण ठीक बन सकता है; वा नहीं यह विचार) का वर्णन हो। इस न्यायशास्त्र के पांच अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में दो २ आह्निक हैं, प्रत्येक आह्निक में कई प्रकरण हैं, प्रत्येक प्रकरण में कई सूत्र हैं, प्रत्येक सूत्र में कई वाक्य हैं और प्रत्येक वाक्य में कई पद होते हैं इस शास्त्र का प्रयोजन (मोक्ष का कारण.

तत्वज्ञान है; अधिकारी वे हैं, जिन्हे तत्वज्ञान की अपेक्षा है; इसी प्रथमसूत्र का भावाशय विचारने से कई भांति के संबंध प्रतीत होते हैं; जैसे मोक्ष और तत्वज्ञान का जन्यजनकभाव संबंध है; अर्थात् मोक्ष जन्य (कार्य) और तत्वज्ञान जनक (कारण) है; इसी भांति शास्त्र और तत्वज्ञान का भी जन्य जनकभाव ही संबंध है; अर्थात् तत्वज्ञान कार्य और शास्त्र कारण है; परंतु कारण के कारण को प्रयोजक और कार्य के कार्यको प्रयोज्य कहते हैं; इसलिये मोक्ष का शास्त्र के साथ प्रयोज्यप्रयोजकभाव संबंध हुआ; कि मोक्ष प्रयोज्य (शास्त्र के कार्य तत्वज्ञानका कार्य) और शास्त्र प्रयोजक (मोक्ष के कारण तत्वज्ञान का कारण) है; प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का तत्वज्ञान के साथ विषय विषयिभाव संबंध है; सोलह पदार्थ विषय और तत्वज्ञान विषयी है। इस सूत्र में (निश्रेयसाधिगम:) यहां अधिगम पद अधिक देने का यह तात्पर्य है; घट आदि लौकिक कार्यों की नाईं मोक्ष की उत्पत्ति और प्राप्ति के कारण पृथक् २ नहीं जानने, किंतु मोक्ष की उत्पत्ति और प्राप्ति का भी कारण तत्वज्ञानही है। प्रमेयों के तत्वज्ञान से मोक्ष गौतम जीने माना है; तो आदि में प्रमेयों का निरूपण ही करना चाहिये, प्रमाणों का नाम आदि में इस निमित्त से लिया है; सारे पदार्थों की व्यवस्था प्रमाणों से ही बांधी जाती है; इसलिये प्रमाण सब से प्रधान (मुख्य) हैं। परंतु प्रमाणों के द्वारा प्रमेयों का (यथार्थ) जानना ही अपेक्षित है; इसलिये प्रमाणों से अनंतर प्रमेयों का निरूपण किया है। दो पुरुषों के विवाद में पदार्थों की

व्यवस्था के हेतु न्याय (पांच अवयवों के समूह) का निरूपण करने के लिये न्याय के पूर्वांग (पहिले अपेक्षित) संशय और प्रयोजन का निरूपण करना पड़ा; परंतु प्रयोजन साक्षात् न्याय का अंग नहीं, किंतु प्रयोजन का ज्ञान न्याय का अंग है; इसलिये पहिले साक्षात् न्याय के अंग संशय का निरूपण कर के प्रयोजन का निरूपण किया है। नैयायिक लोग इच्छा के बल से निश्चित पदार्थ की भी अनुमिति करलेते हैं; तो संशय किस रीति न्याय का अंग हुआ; इस का उत्तर यह है, कि जिन्हों ने साध्यसंशय पक्षता मानी है; उन के मत में निश्चय से अनंतर आहार्य (अयथार्थ) संशय की कल्पना करके ही अनुमिति होती है। परंतु दृष्टांत दिये विना पदार्थ पूर्ण रूप से लोगों को नहीं प्रतीत होता; इसलिये दृष्टांत का निरूपण किया है। दृष्टांतके द्वारा जो अनुमान करते हैं; वह सिद्धांत होता है, इस से सिद्धांत का निरूपण किया। इस से अनंतर सिद्धांत के अधीन पांच अवयवोंका निरूपण है। फिर न्याय के सहायक तर्क का निरूपण। पीछेसे तर्क के कार्य निर्णय का निरूपण। फिर निर्णय के अनुकूल वाद का निरूपण किया है। वाद का कार्य निर्णय जल्प से भी उपजता है; इसलिये अनंतर जल्प का निरूपण है। इस से पीछे जय की निमित्त वितंडा का वर्णन है। परंतु वाद जल्प, वितंडा इन तीनों में से कोई एक कथा भी दूषणों से विना नहीं प्रवृत्त हो सकती; इसलिये कथाओं से अनंतर दोषों का निरूपण अवश्य करना चाहिये। वादनामी उत्कृष्ट कथा में प्रयोग (कथन) की योग्यता से और सद्दे-

तु (प्रमाण हेतु) की नाईं प्रतीत होने से सब दोषों में उत्कृष्ट हेत्वाभासों का निरूपण कर के, हेत्वाभासों (दुष्टहेतुओं) से सिद्ध छल का निरूपण किया है । फिर अपने पक्ष का खंडन करने से दोषों में अधम जाति नामी असत् उत्तर का वर्णन है । अंत में (कथा की समाप्ति के समय) दोनों में से किसी एक पक्ष की हानि के हेतु निग्रहस्थानों का निरूपण है । बुद्धिनामी प्रमेय के अंतर्गत संशय और निरनुयोज्यानुयोग नामी निग्रहस्थान के अंतर्गत छल, जाति का (छात्र गणों की बुद्धि विस्तार के लिये) पृथक् निरूपण है; परंतु निग्रहस्थानों में परिगणित हेत्वाभासों के पृथक् निरूपण का बीज गोतम जी ही जानते हैं । वात्स्यायनभाष्य में लिखा है, कि वाद में कथन की योग्यता से हेत्वाभासों का पृथक वर्णन है । इस पर न्यायवार्तिक का यह आक्षेप है; कि जे कभी वाद में प्रयोग की योग्यता से हेत्वाभासों का पृथक निरूपण मानो; तो इसी योग्यता से न्यून, अधिक, अपसिद्धांत नामी निग्रहस्थानों का भी पृथक निरूपण अवश्य करना चाहिये; जिस से कथाप्रकरण में यह स्पष्टप्रतीत होगा, कि न्यून, अधिक, अपसिद्धांत और हेत्वाभास ये चारो दोष वाद में लिये जाते हैं । और यदि भाष्य का यह भाव निकासें कि जिन दोषों का पृथक् निरूपण है, वे वाद में अवश्य लिये जाते हैं; तो छल, जाति भी वाद में लेने चाहिये, जिस से सूत्रों में इनका पृथक वर्णन किया है । किंतु आन्वीक्षिकी (न्याय) त्रयी (वेद) वार्ता (धर्मशास्त्र) और दंडनीति (राजनीति) इन चारों विद्याओं के क्रम (रीति) भेद जनाने

के लिये संशय, छल, जाति और हेत्वाभासों का पृथक् निरूपण है। परंतु वृत्तिकार ने इस उत्तर को भी अयुक्त माना है; जिस से निग्रहस्थानों में इन पदार्थों का निरूपण करने से भी रीति का भेद स्पष्ट प्रतीत हो सकता है। वृत्तिकारने अपनी ओर से यह उत्तर दिया है; कि हेत्वाभास (दुष्टहेतु) को यदि निग्रहस्थान कहो, तो सारे अनुमानों में प्रमेयत्व आदि दुष्ट (व्यभिचारी) हेतु रहते हैं; इस लिये सब अनुमान निग्रहीत (खंडित) होने चाहिये। किंतु हेत्वाभासों का प्रयोग निग्रहस्थान है; अर्थात् जिस अनुमान में धूम आदि हेतुओं के स्थान प्रमेयत्व का कथन करें तो वह अनुमान दुष्ट ही कहावे गा। निग्रहस्थानों में जो हेत्वाभास शब्द है, उस का अर्थ (हेत्वाभासोंका) प्रयोग ही है; परंतु प्रयोग (कथन) का लक्षण करने की कुछ अपेक्षा नहीं है; इसी से गौतम जी ने अंतिम सूत्र लिखा है कि हेत्वाभासाश्चयथोक्ताः; अर्थात् हेत्वा भासों का जैसा वर्णन करआए है; उन्हीं का प्रयोग निग्रहस्थान जानना। और जे कभी कोई ऐसा कहे, कि हेत्वाभासों का प्रयोग जब निग्रहस्थान है; तो वहां ही विशेषण रूप से हेत्वाभास का निरूपण हो जावे गा; पृथक् वर्णन व्यर्थ है। इस का उत्तर यह है, विशेषण रूप [illegible] जिन पदार्थों का वर्णन है; उन का पृथक् निरूपण यदि न मानों; तो प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः, इत्यादि वाद के लक्षण सूत्र में विशेषण रूपसे प्रमाण तर्क आदि कई पदार्थों का नाम आया है; इस से इन सब पदार्थों का पृथक् निरूपण न करना चाहिये। पहिले अध्याय में

पदार्थों की संज्ञा, लक्षण और प्रसंग (संगति) से छल की परीक्षा का वर्णन है । और व्याप्ति, पक्षधर्मता सहित न्याय (प्रतिज्ञा आदि पांच अवयवों के समूह) का वर्णन पहिले आह्निक का प्रयोजन है । इस आह्निक के आदि में दो सूत्रों का एक प्रकरण है; जिस में न्याय शास्त्र के विषय और प्रयोजन का वर्णन है । दूसरे ६ सूत्रों के प्रकरण में प्रमाणों के सामान्य और विशेष लक्षण कहे हैं । तीसरे दस सूत्रों के प्रकरण में प्रमेयों के भेद और सामान्य, विशेष लक्षण हैं । चौथे तीन सूत्रों के प्रकरण में न्याय के पूर्वांगों का विस्तार किया है । पांचवें ६ सूत्रों के प्रकरण में न्याय के सिद्धान्तों का लक्षणों के द्वारा विस्तार किया है । फिर आठ सूत्रों के छठे प्रकरण में पांच अवयवों के स्वरूप और लक्षण हैं । सातवें दो सूत्रों के प्रकरण में न्याय के उत्तर अंग (तर्क और निर्णय) का विस्तार किया है । ये सात प्रकरण पहिले आह्निक में हैं । मोक्षधर्म में लिखा है कि यस्तर्केणानुसन्धत्तेसधर्मं वेदनेतरः इत्यादि कई प्रमाणों से सिद्ध होता है; कि न्यायशास्त्र पढ़ के वेद आदि के अनुकूल तर्क विचार किये विना धर्म और मोक्ष का अधिकार भी पुरुष को नहीं होता; इसलिये मुमुक्षु और धर्मात्माओं को न्यायशास्त्र का अभ्यास अवश्य करना चाहिये १ ॥ ∴ ∴ ∴ ॥

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापायेतदनन्तरापायादपवर्गः २ ॥

दुःख (पीड़ा) जन्म (नये शरीर के साथ प्राणों का पहिला-संयोग) प्रवृत्ति (पुण्य, पाप) दोष (राग, द्वेष, मोह) और मिथ्या ज्ञान (भ्रम) इनमें से उत्तरोत्तर (सब से पिछले) मिथ्या ज्ञान का नाश (तत्वज्ञान होने पर स्वाभाविक विरोध से ही) जब हो जाता है; तो मिथ्याज्ञान के कार्य (राग, द्वेष, मोह) अपने कारण के न होने से नहीं उपजते। फिर दोषों के न होने से दोषों के कार्य (धर्म, अधर्म) भी निवृत्त हो जाते हैं; परंतु जन्म के कारण पुण्य, पाप ही थे, इसलिये प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश होता है; परंतु शरीर से संबंध हुए विना दुःख का होना ही असंभव है; इसलिये जन्म के नाश से जो बीज सहित दुःखों का नाश होता है; इसे अपवर्ग (मोक्ष) कहते हैं। इस सूत्र का क्रम देखने से यह भी प्रतीत हुआ; कि तत्वज्ञान साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं, किंतु इसी परंपरा से कारण है। यह मोक्ष भी पर, अपर नाम से दो भांति का है; जिन पुरुषों ने अपने प्रारब्ध कर्म सब भोग लिये, शेष कर्म कोई नहीं छोड़ा, उन्हें जो तत्वज्ञान से मोक्ष मिला, उसे पर मोक्ष कहते हैं। और तत्वज्ञान के निरंतर अभ्यास से जिन का मिथ्याज्ञान तो नष्ट होगया; परंतु प्रारब्ध कर्म अभी शेष रहते हैं; भोग से विना तो इन का नाश हो ही नहीं सकता, जैसा गीता में भी लिखा है, (नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि अव-

श्यमेवभोक्तव्यं कृतंकर्म्मशुभाशुभम् १) ऐसे पुरुषों को कर्मों के भोग तक जीवन्मुक्ति नाम का मोक्ष मिलता है; इसे अपर मोक्ष कहते हैं । इच्छा (राग) के विना भी गंगाजल के संयोग से अथवा परमेश्वर स्मरण से धर्म उत्पन्न होता है; इसी भांति द्वेष से विना भी हिंसा करने से पाप उपजता है; फिर कैसे कहते हो, कि धर्म, अधर्म के कारण दोष हैं । इस का उत्तर यह है, राग, द्वेष न भी हो, तो मिथ्याज्ञान से उपजा हुआ दृढ़ संस्कार ही उक्त स्थलों में दोष है; भ्रम के नाश से अथवा तत्वज्ञान के संस्कार से इस दुष्ट संस्कार का नाश होता है । दुःखों का नाश ही जब मोक्ष हुआ, तो इस सूत्र में दुःखापायात् इस पंचमी विभक्ति का अर्थ अभेद ही करना; अथवा अपवर्ग पद का अर्थ (मोक्ष का) व्यवहार करना; अर्थात् ऐसे दुःखों के नाश से मोक्ष का व्यवहार (कथन) होता है २ ॥ न्याय शास्त्र के प्रयोजन तत्वज्ञान और सोलह पदार्थों की संज्ञाओं का प्रतिपादक पहिला प्रकरण समाप्त हुआ १ ॥ ⁂ ⁂ ⁂ ॥

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ३

प्र उपसर्ग से अनंतर मा धातु के उत्तर करण में ल्युट् प्रत्यय ले आकर प्रमाण पद सिद्ध होता है; उस में प्र उपसर्ग का अर्थ प्रकृष्ट (उत्कृष्ट) है, माधातु का अर्थ ज्ञान और ल्युट् प्रत्यय का अर्थ करणता है । ज्ञान में तद्वतितत्प्रकारता (जो वस्तु जहां हो वहां उस वस्तु को विशेषण रूप से जनाना) ही उत्कृष्टता है; इसी ज्ञान को यथार्थ भी कहते हैं, तो प्रमाण पद से ही सिद्ध हुआ, कि प्रमितिकरणत्व प्रमाण का लक्षण है, अर्थात् यथार्थज्ञान के करण (व्यापार वाले कारण) को प्रमाण कहते हैं । इस प्रमाण के चार भेद हैं, जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द । परंतु प्रमाणों के इस सामान्य लक्षण में ज्ञान पद से अनुभव नामी ज्ञान ही अपेक्षित है; नहीं तो स्मृति का करण भी एक पांचवां प्रमाण होना चाहिये; यह अनुभव भी निश्चय रूप लेना, नहीं तो यथार्थ संशय का करण भी एक पृथक् प्रमाण हो जावे । और अर्थापत्ति आदि कई प्रमाण जो अन्यशास्त्रकारों ने माने हैं; उनका खंडन दूसरे अध्याय में भली भांति किया जावेगा ३ ॥

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नंज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकंप्रत्यक्षम् ४ ॥

सब प्रमाणों में प्रधान और विवाद से विना नास्तिक पर्यंत सारे जनों को स्वीकृत होने से आदि में सब प्रमाणों में से प्रत्यक्ष का ही निरूपण करते हैं । प्रतिगत (विषय में प्राप्त) जो अक्ष (इंद्रिय) उसे प्रत्यक्ष कहते हैं; इस व्युत्पत्ति से प्रत्यक्ष

शब्द का अर्थ इंद्रिय है; और तीसरे सूत्र में जो प्रमाणों के भेद कहे हैं; तो इस सूत्र में भी प्रत्यक्ष प्रमाण (इंद्रिय) का ही लक्षण करना चाहिये; प्रत्यक्ष प्रमा (ज्ञान) का लक्षण करना असंगत प्रतीत होता है। इस का उत्तर यह है, ऐसा ज्ञान जिस करण से उत्पन्न हो; उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं; अथवा प्रमाण के एक देश प्रमाका लक्षण जब जान लिया, तो उस का करण प्रमाण है, यह प्रमाण का लक्षण सहज से ही प्रतीत होजावे गा, इस निमित्त से प्रमा का ही लक्षण इस सूत्र में कहा है। लक्षण यह है, इंद्रिय और अर्थों के संबंध से जो यथार्थ (भ्रमसेभिन्न) ज्ञान उत्पन्न हो, उस ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा कहते हैं। इस में यह आशंका है, इंद्रिय (मन) और अर्थ (आत्मा) के संयोग से सुख, दुख, अनुमिति आदि सारे ज्ञान, उत्पन्न होते हैं; लक्षण में ज्ञान पद के निवेश से सुख दुख में यद्यपि दोष नहीं लगता तो भी अनुमिति आदि ज्ञानों में लक्षण जाने से अतिव्याप्ति (लक्ष्य से भिन्न वस्तु में लक्षण की प्राप्ति) दोष लगता है। और ईश्वर का नित्य प्रत्यक्ष किसी से जन्य नहीं तो इंद्रिय और अर्थ के संबंध से जन्य कैसे हो गा; इसलिये ईश्वर के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति (लक्ष्य के किसी अंश में लक्षण का न रहना) दोष भी लगा। इस का उत्तर कोई यह देते हैं, अनुभवसिद्ध प्रत्यक्षत्व जाति जिस में रहे, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। इस लक्षण से उक्त दोष तो हट जाते हैं; जैसे अनुमिति आदि ज्ञानों में प्रत्यक्षत्व जाति के नहोने से अतिव्याप्ति हट गई; ईश्वर के प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षत्व जाति रहने से अव्या

प्ति भी नहीं लगी। परंतु यह बात आगे स्पष्ट प्रतीत होगी, ज्ञातिघटित लक्षण को ग्रंथकार लोग प्रमाण नहीं मानते; किंतु इंद्रिय और अर्थ के संबंध से भिन्न (ज्ञान) जिस का कारण न हो, ऐसे भ्रम से भिन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। इसी लक्षण को संस्कृत में यूं कहते हैं, ज्ञानाकरणकभ्रमभिन्नज्ञानत्वं प्रत्यक्षस्यलक्षणम्. अनुमिति में व्याप्तिज्ञान, उपमिति में सादृश्यज्ञान, शाब्दबोध में पदज्ञान और स्मृति में अनुभव (ज्ञान) करण होने से अतिव्याप्ति का वारण हो गया। ईश्वर के नित्य प्रत्यक्ष का कोई भी कारण नहीं तो ज्ञान कहां से करण होना था; इसलिये अव्याप्ति का भी वारण हो गया। परंतु आंशिक भ्रम (एक अंश में भ्रम और एक अंश में यथार्थ ज्ञान) को जिनों ने लक्ष माना हैं; उन के मत में वह आंशिक ज्ञान भ्रम से भिन्न नहीं हुआ, तो अव्याप्ति लगी; इसलिये ऐसा लक्षण करना, जिस में ज्ञान करण न हो, ऐसा जो उस वस्तु के आश्रय में उस वस्तु के जनाने वाला ज्ञान उसे प्रत्यक्ष कहेंगे। परंतु विशेषण, विशेष्य और संबंध जिस में नहीं प्रतीत होते, ऐसे निर्विकल्पक ज्ञान में यह भी लक्षण नहीं जा सकता; इसलिये यह लक्षण करना, जिस में ज्ञान करण न हो, ऐसा जो (उस वस्तु से शून्य देश में उस वस्तु के न जनाने वाला) ज्ञान उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। यह प्रत्यक्ष दो भांति का है, सविकल्पक (विशेषण, विशेष्य और संबंध के जनानेवाला) निर्विकल्पक (इनके न जनानेवाला) इसी प्रत्यक्ष (प्रमा) का करण (इंद्रिय) प्रत्यक्षप्रमाण है ४ ॥ ✣ ॥

अथतत्पूर्वकंत्रिविधमनुमानंपूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टंच ५ ॥

प्रत्यक्ष कारण और अनुमान कार्य है; यह (हेतुहेतुमद्भाव) संगति जनाने के लिये इस सूत्र के आदि में अथ शब्द का प्रयोग किया है। अनु उपसर्ग से अनंतर मा धातु के ऊपर भाव (शुद्ध धातु के अर्थ) वाच्य में अथवा करण वाच्य में ल्युट् प्रत्यय लेआ कर दोनों रीति से अनुमान पद सिद्ध होता है; परंतु दोनों पक्षों में लक्षण तत्पूर्वकत्व ही है; भाव वाच्य पक्ष में समन्वय इस रीति करना, (तत्पूर्वकत्व) इस लक्षण में तत् शब्द का अर्थ प्रत्यक्षविशेष (व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान) है; और पूर्वकत्व का अर्थ जन्यत्व है, अर्थात् पक्ष में व्याप्तिविशिष्ट हेतु के वृत्तित्वज्ञान से जो ज्ञान उत्पन्न हो, उसे अनुमिति कहते हैं।

इस अनुमिति के करण (व्याप्ति ज्ञान) को अनुमान प्रमाण कहते हैं; और करण वाच्य पक्ष में समन्वय का यह प्रकार है; उक्त लक्षण में तत् शब्द का अर्थ प्रत्यक्षविशेष सहचारज्ञान (साध्य के साथ हेतु के एक आश्रय में रहने का ज्ञान) है; पूर्वकत्व का अर्थ जन्यत्व ही है, अर्थात् साध्य के साथ हेतु के (एक अधिकरण में) रहने के ज्ञान से जो ज्ञान उत्पन्न हो, उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं।

यह अनुमान तीन प्रकार का है, पूर्ववत् (कारण से कार्य का अनुमान) जैसे कारण (मेघ की उन्नति) से कार्य (वृष्टि) का अनुमान, शेषवत् (कार्य से कारण का अनुमान) जैसे कार्य (नदी की वृद्धि) से कारण (वृष्टि) का अनुमान

और सामान्यतोदृष्ट (कार्य, कारण भिन्न से किसी पदार्थ का अनुमान) जैसे घट आदि पदार्थों में पृथिवीत्व हेतु से द्रव्यत्व का अनुमान। अथवा पूर्ववत् (केवलान्वयी) जैसे ज्ञेयत्व हेतु से वाच्यत्व का अनुमान, शेषवत् (केवल व्यतिरेकी) जैसे गंधवत्व हेतु से पृथिवी में इतरभेद का अनुमान, सामान्यतोदृष्ट (अन्वयव्यतिरेकी) जैसे धूम हेतु से पर्वत में वह्नि का अनुमान व्याप्ति का विस्तार तो जागदीशी आदिग्रंथों में किया है; परंतु यहां भी उपयोग के लिये कुछ लिखते हैं। जिस स्थान में हेतु रहे वहां साध्य का अवश्य रहना अन्वयव्याप्ति कहाता है; और जिस २ स्थान में साध्य न रहे वहां हेतु का सदा ही न रहना व्यतिरेक व्याप्ति कहाता है। इन्हीं दो भेदों से अनु हेतु तीन भांति के हो गये हैं; अर्थात् केवल अन्वय व्याप्ति से केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकव्याप्ति से केवलव्यतिरेकी और दोनों व्याप्तियों से अन्वयव्यतिरेकी हेतु कहाते हैं ५ ॥

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ६ ॥

प्रसिद्ध गौ आदि पदार्थों के साधर्म्य (सादृश्य) से गवय आदि पदों के शक्तिज्ञान (इस प्रकार के जीवों को गवय पद से जानना) की सिद्धि को उपमिति कहते हैं। इस उपमिति का करण (सादृश्य का ज्ञान) उपमान प्रमाण होता है; परंतु टीकाकारों ने सादृश्य की नाईं वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) से भी उपमिति मानी है; जैसे (बहुत लंबी ग्रीवा और बहुत ऊंची असम पीठ) घोड़े आदि जीवों के इस विरुद्ध

धर्म से ऊँट पद का शक्तिग्रह (इन्हें ऊँट कहना चाहिये, यह ज्ञान) होता है। इसी भांति और भी उपमिति का विषय भाष्यकार ने लिखा है; जैसे मुंगी की लता के समान जिस के पत्ते हों, वह औषध विष को हरता है; यह वैद्यों का सिद्धांत सुन के किसी स्थान एक औषध के पत्ते मुंगी के पत्तों की नाईं देखे, तो यह औषध विष हरने में समर्थ है; ऐसा शक्ति ज्ञान उपमिति से होता है। यह भी उपमिति यद्यपि सादृश्य से हुई है; तो भी इतना भेद जानना कि पहिली उपमिति से रूढि पद का शक्तिज्ञान हुआ था; इस से यौगिक पद का शक्तिज्ञान हुआ है ६ ॥

आप्तोपदेशः शब्दः ७ ॥

सद्विविधोदृष्टादृष्टार्थत्वात् ८ ॥

शब्द से जो यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो, उसज्ञान का करण प्रमाण शब्द कहाता है; कोई आचार्य यूं भी कहते हैं, आप्तों (प्रसंग से प्राप्त वाक्य के अर्थ का यथार्थ ज्ञान जिन्हें हो ऐसे पुरुषों) के कहे शब्द प्रमाण होते हैं। इन दोनों अर्थों में यह आशंका है; यथार्थ पद लक्ष्य का विशेषण है; और लक्षण में भी आया है, तो लक्ष्यतावच्छेदक (लक्ष्य के विशेषण) और लक्षण के अभेद (एकता) से सिद्धसाधन दोष लगा। इसका उत्तर यह है, एकस्थान में यथार्थपद का अर्थ यह करना, विशेष्य में न रहने वाले विशेषण को जो न जनावे, उसे यथार्थ कहना; और लक्षण में भ्रम से भिन्न ज्ञान को यथार्थ जानना ७ ॥ यह प्रमाण शब्द दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ भेद से दो प्रकार का है; जिस शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष से जाना जावे

उसे दृष्टार्थ कहते हैं । जैसे घट, पट, मनुष्य आदि शब्द और जिस शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष से न जाना जावे उसे अदृष्टार्थ कहते हैं । जैसे स्वर्ग, ईश्वर आदि शब्द हैं ८ ॥

प्रमाणों के विभाग और लक्षणों का प्रतिपादक दूसरा प्रकरण समाप्त हुआ २ ॥ ⁘ ⁘ ॥

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोष
प्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तुप्रमेयम् ९ ॥

आत्मा, शरीर, इंद्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग ये बारह प्रमेय हैं । यद्यपि प्रमा के विषय होने से घट पट आदि सारे पदार्थों को प्रमेय कह सकते हैं; तो भी गौतम जी ने पारिभाषिक प्रमेयत्व (मोक्षहेतुतत्वज्ञानविषयत्व अथवा संसारहेतुमिथ्याज्ञानविषयत्व) इन्हीं में माना है; अर्थात् इन बारहों के यथार्थज्ञान से मोक्ष और इन के मिथ्याज्ञान से संसार (जनने, मरने का बंधन) माना है । इन बारहों में यह पारिभाषिक प्रमेयत्व धर्म एक है; और इनमें से एक का भी तत्वज्ञान न हो तो मुक्ति नहीं होती; इसी बात को जताने के अर्थ सूत्र में प्रमेयं यह एकवचन दिया है । इन में से पहिले छः कारण और पिछले छः कार्य हैं; उन में भी जो जिस से प्रधान है; वह उस से पहिले कहा गया है । और इन का प्रसिद्ध लक्षण तावदन्यान्यत्व है; अर्थात् इन बारहों से भिन्न पदार्थों का भेद इन्हीं बारहों में रहेगा वह ही लक्षण है । जिस क्रम से ये कहे हैं उसी क्रम से इन के लक्षण भी आगे कहे जावेंगे ९ ॥

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःख
ज्ञानान्यात्मनोलिङ्गम् १० ॥

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान इन छओं में से प्रत्येक आत्मा का लक्षण है । इस सूत्र में लिंग पद का अर्थ लक्षण ही जानना; हेतु नहीं जानना, क्यों कि आत्मा का प्रत्यक्ष

ही हो सकता है; तो उसका हेतु से अनुमान करना अयुक्त है। यह भी नहीं कह सकते कि आत्मा को शरीर से अतिरिक्त सिद्ध करने के लिये हेतु दिया है; जिस से शरीर इंद्रिय आदि से आत्मा की पृथक् सिद्धि करने के लिये आगे का सारा ग्रंथ ही व्यर्थ हो जावेगा; और लक्षण कहे विना ग्रंथ की न्यूनता भी रहेगी । ज्ञान, इच्छा और यत्न ये तीन जीवात्मा परमात्मा इन दोनों के लक्षण जानने; सुख, दुःख और द्वेष ये तीन केवल जीवात्मा के लक्षण जानने । ज्ञान आदि तीनों में नित्यत्व विशेषण देके उक्त ही तीनों केवल ईश्वर (परमात्मा) के लक्षण जानने । इन्हीं तीनों में जन्यत्व विशेषण देने से ये तीनों केवल जीवात्मा के लक्षण होजाते हैं । अर्थात् ईश्वर के ज्ञान, इच्छा और यत्न नित्य और जीवात्मा के ये तीनों अनित्य होते हैं १० ॥ ⁂ ⁂ ॥

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ११ ॥

प्रयत्न से जन्य चेष्टा (हित की प्राप्ति और अहित से हटने की-क्रिया) जिस में समवाय संबंध से रहे; अथवा घ्राण आदि इंद्रिय जिस में (अवच्छेदकता नामी) स्वरूप संबंध से रहें; अथवा सुख, दुःख (अवच्छेदकता संबंध से) जिस में उत्पन्न होवे; उसे शरीर कहते हैं । परंतु नैयायिकों ने अवयवों से अवयवी (समुदाय) का भेद माना है; तो हाथ आदि अवयवों (अंगों) में शरीर का लक्षण (चेष्टा) रहने से अतिव्याप्ति दोष लगा । इसलिये शरीर के लक्षण में अंत्यावयवित्व विशेषण और देना; अर्थात् जिस में चेष्टा रहे ऐसे अंत्यावयवी (अवयवों से जन्य और अवयवी के समवायी कारण से भिन्न द्रव्य) को शरी

र समुझना। स्वर्गीय, नारकीय शरीरों में और वृक्षों में सुख वा दुःख ग्रंथकारों ने माने हैं; इससे उनमें अव्याप्ति दोष नहीं लगता। यदि तात्विक शरीर में कोई अव्याप्ति दे; अर्थात् उस में सुख, दुःख नहीं रहते; तो शरीर का लक्षण ऐसा करना; सुख के अधिकरण में वर्तमान द्रव्यत्वव्याप्यव्याप्य (द्रव्यत्व की अपेक्षा न्यूनदेश में रहने वाली जाति से न्यून देश में रहने वाली) जाति जिस में रहे; वह शरीर है। मनुष्यत्व, चैत्रत्व आदि जातियें ले कर सब शरीरों में समन्वय करना; युगों के भेद से अनेक नृसिंह मानके नृसिंहत्व जाति ले कर नृसिंह के शरीर में लक्षण समन्वय कर लेना ११ ॥ ∴ ∴ ॥

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणिभूतेभ्यः १२ ॥

घ्राण, रसन, चक्षु, त्वचा, श्रोत्र ये पांच इंद्रिय हैं; यद्यपि मन भी इंद्रिय है, तो भी उस के न लिखने से सूत्र में कुछ न्यूनता नहीं जाननी; क्यों कि ये घ्राण आदि पांच उपलक्षण रूप से लिखे हैं, अर्थात् इन के लिखने का यह तात्पर्य है, कि ये भी इंद्रिय हैं; ऐसा तात्पर्य नहीं है, कि ये ही पांच इंद्रिय हैं; अथवा इन से इतर कोई इंद्रिय नहीं है; और वास्तव यह जानना, कि इस सूत्र में बहिरिंद्रियों का वर्णन किया है इस से आभ्यंतर इंद्रिय मन का नाम इन में अप्रसंग से नहीं लिखा; और “भूतेभ्यः यह पद इसी अर्थ को दृढ़ करता है, क्योंकि ग्रंथकारों ने इस पद का अर्थ एक तो यह किया है, कि ये पांच इंद्रिय भूतों से उत्पन्न होते हैं; इस अर्थ से भी प्रतीत होता है, इन में मन

की गणना अयुक्त है; क्योंकि नित्य मन किसी भूत से नहीं उत्पन्न हो सकता, किंतु पृथ्वी से घ्राण, जल से रसना, तेज से चक्षु वायु से त्वचा और आकाश से श्रोत्र उत्पन्न होता है; इस अर्थ में ऐसी आशंका है; कि पृथ्वी आदि भूतों से घ्राण आदि चार तो उत्पन्न हो सकते हैं; परंतु कान के अंतर्गत आकाश रूपी नित्य श्रोत्र की उत्पत्ति कैसे होगी। इसका उत्तर एक तो यह है, कि कानों की उत्पत्ति से ही श्रोत्र की उत्पत्ति भी मानी जाती है; अथवा "भूतेभ्यः" इस पद में पंचमी विभक्ति का अर्थ अभेद है, अर्थात् ये पांच भूतों से अभिन्न हैं। इस दूसरे अर्थ से श्रोत्र की उत्पत्ति का विवाद सहज से ही हट गया, अर्थात् श्रोत्र की उत्पत्ति न भी हो, परंतु आकाश से अभिन्न श्रोत्र के मानने में कोई संदेह नहीं है; और इस अर्थ के करने से भी इन इंद्रियों में मन का गिनना योग्य नहीं है, क्योंकि मन किसी भूत से अभिन्न नहीं, किंतु मन मूर्त्त है; इन दोनों अर्थों से प्रतीत हुआ, कि इस सूत्र में केवल वहिरिंद्रियों का ही वर्णन है। इंद्रियों का सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष करणत्व है, अर्थात् जिनके व्यापार (संबंध) से आत्मा में किसी वस्तु का प्रत्यक्ष हो, उन्हें इंद्रिय कहते हैं; और कई ग्रंथकार इंद्रियत्व को प्रत्यक्ष की कारणतावच्छेदक अखंडोपाधि (जिस का कोई लक्षण न हो सके) भी कहते हैं; और विशेष लक्षण इस रीति करने, जिस के संबंध से आत्मा में गंध का प्रत्यक्ष हो, उसे पृथ्वी की घ्राणेंद्रिय कहते हैं; जिस के संबंध से आत्मा में रस का प्रत्यक्ष हो, उसे जल की इंद्रिय रसना कहते हैं; जिस के संबंध से आत्मा में

रूप का प्रत्यक्ष हो, उसे तेज का इंद्रिय चक्षु कहते हैं; जिस के संबंध से आत्मा में स्पर्श का प्रत्यक्ष हो, उसे वायु की इंद्रिय त्वचा कहते हैं; जिसके संबंध से आत्मा में शब्द का प्रत्यक्ष हो, उसे आकाश का इंद्रिय श्रोत्र कहते हैं; और भूतेभ्यः कहने से प्रतीत हुआ, कि सांख्य में जो इंद्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानी है; वह मत यहां सम्मत नहीं है। इसी बात को तीसरे अध्याय में गौतम जी सूत्रों के द्वारा स्पष्ट कर के लिखेंगे १२ ॥ ∴ ∴ ∴ ॥

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमितिभूतानि १३ ॥

इंद्रियों की उत्पत्ति भूतों से कही है, वे भूत कौन से हैं, इस अवसर में सूत्रकार ने कहा है; कि पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये पांच भूत हैं; इस सूत्र में पृथिवी आदि पांच पद पृथक् २ लिखे हैं, समास करके पांचों का एक पद नहीं किया; इस से विदित होता है कि सृष्टि के प्रारंभ में ये पांचो भूत एक दूसरे की सहायता की अपेक्षा कुछ नहीं रखते; और भूतों का सामान्य लक्षण आत्मभिन्नत्वे सति विशेषगुणवत्व है, अर्थात् आत्मा से विना इन्हीं पांचों में विशेष गुण रहते हैं; और पृथिवीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व, ये चार जाति हैं, और आकाशत्व उपाधि है; पृथिवी का लक्षण गंधवत्व है, अर्थात् जिस में समवाय संबंध से गंध रहे उसे पृथिवी (मिट्टी) कहते हैं; जल का लक्षण शीतस्पर्शवत्व है, अर्थात् जिस में समवाय संबंध से शीत स्पर्श रहे, उसे जल कहते हैं; तेज का लक्षण उष्णस्पर्शवत्व है, अर्थात् जिस में समवाय संबंध से उष्णस्पर्श रहे, उसे तेज कहते हैं; वायु का लक्षण रूपरहितत्वे सति-

स्पर्शवत्त्व है, अर्थात् जिसमें समवाय संबंध से रूप न रहे, और स्पर्श रहे, उसे वायु कहते हैं; आकाश का लक्षण शब्दवत्त्व है, अर्थात् जिस में समवाय संबंध से शब्द रहे, उसे आकाश कहते हैं; इन पांचों में भूतत्व जाति नहीं हो सकती, क्योंकि मूर्त्तत्व के साथ संकर दोष लगता है; और केवल एकव्यक्ति में रहने से आकाशत्व भी जाति नहीं है १३ ॥

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः १४

गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द, ये पांच पृथिवी आदि भूतों के विशेषगुण क्रम से घ्राण आदि इंद्रियों के विषय कहे हैं; यद्यपि वैशेषिक (कणाद के मतानुयायी) ९ द्रव्य, २४ गुण, ५ कर्म, इन सब पदार्थों को अर्थ कहते हैं; तो भी इस सूत्र में अर्थ शब्द विषय के अभिप्राय से दिया है, इसलिये इंद्रियों के नियत विषय ये पांच ही हैं; इन पांचों का सामान्य लक्षण एक बहिरिंद्रिय से जिनका प्रत्यक्ष हो, ऐसी गुणत्व से न्यून देश में वर्त्तमान जातियां इन्हीं पांचों में रहेंगी; विशेष लक्षण ये हैं, घ्राण से जिस का प्रत्यक्ष हो, ऐसी गुणत्वव्याप्यजाति जिस में रहे, उसे गंध कहते हैं; रसना से जिसका प्रत्यक्ष हो, ऐसी गुणत्वव्याप्य जाति जिस में रहे, उसे रस कहते हैं; बहिरिंद्रियों में से केवल चक्षु से जिस का प्रत्यक्ष हो, ऐसी गुणत्वव्याप्यजाति जिस में रहे, उसे रूप कहते हैं; बहिरिंद्रियों में से केवल त्वचा से जिस का प्रत्यक्ष हो, ऐसी गुणत्वव्याप्यजाति जिस में रहे, उसे स्पर्श कहते हैं; और श्रोत्र से जिस का प्रत्यक्ष हो, ऐसी गुणत्वव्याप्यजाति जिस में रहे, उसे शब्द कहते हैं; वात्स्यायन भाष्य में पृथिव्यादि पद का गुण पद के साथ षष्ठीतत्पुरुष समास किया है, इससे स्पष्ट प-

तीत होता है; कि वेदांती लोग जो गुण गुणी का अभेद मानते हैं, वह नैयायिकों को संमत नहीं; क्योंकि यदि अभेद संमत होता, तो भाष्यकार कर्मधारयसमास करते १४ ॥

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् १५ ॥

बुद्धि का लक्षण करते हैं, बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान (जानना) ये सब शब्द एक अर्थ को ही जनाते हैं; सांख्य शास्त्र की नाईं ऐसा नहीं मानना, कि महत्तत्व नाम से प्रसिद्ध बुद्धि का परिणाम (कार्य) ज्ञान (अहंकार) है; इस अर्थ को आगेही सूत्र का स्पष्टकरके आगे लिखेंगे; बुद्धि का लक्षण बुद्धिपदवाच्य है, अर्थात् बुद्धि शब्द से जिस अर्थ का बोध हो, उसे बुद्धि कहते हैं; अथवा अनुभव सिद्ध बुद्धित्व जाति जिसमें रहे, उसेबुद्धि कहते हैं; सिद्धांत में बुद्धि का लक्षण यह जानना, कि किसी संबंध से विशेषण के जनाने वाले पदार्थ में रहने वाली गुणत्वव्याप्यजातिजिसजिस पदार्थ में रहे, उन सब को बुद्धि कहते हैं; इसी लक्षण को संस्कृत में यूं लिखते हैं, संबंधावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितप्रकारितासमानाधिकरणगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्; इस बुद्धि के बहुत से अवांतर भेद हैं, जिनमें से कुछ तो आगे सूत्रों के क्रम से दिखाये जायेंगे; और शेष अन्य ग्रंथों में देखने से प्रतीत होसकते हैं, सूत्रों में तो सब पदार्थ संक्षेप रूप से ही दिखाये हैं; हिंदी भाषा के रसिकों को मेरी न्यायबोधिनी में बुद्धि के भेद बहुत मिलेंगे १५ ॥ ❀ ❀ ॥

6272

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् १६ ॥

एक आत्मा में दो अथवा तीन ज्ञान जिस से एकबारगी नहीं उत्पन्न होवें, वह ज्ञानों का निमित्तकारण अणु (अतिसूक्ष्म) मन है; यथा विषयों के साथ चक्षु आदि सब इंद्रियों का संबंध होने पर भी जिस के संबंध से एक इंद्रिय ज्ञान को उपजाता है, और बिना जिस के संबंध के दूसरा इंद्रिय ज्ञान को नहीं उपजाता, वह संपूर्ण ज्ञानों का सामान्य कारण और सुख आदिकों के प्रत्यक्ष का विशेष कारण अति सूक्ष्म लाघव से एक मन आभ्यंतर इंद्रिय माना है; और सूत्र में लिंग पद का अर्थ लक्षण न करें, किंतु हेतु अर्थ करें, तो लक्षणों के प्रसंग में प्रमाण के द्वारा मन का सिद्ध करना असंगत हो जावे; क्योंकि केवल मन की नहीं किंतु संपूर्ण पदार्थों की सिद्धि आगे करनी है। कई आचार्यों का यह भी मत है, कि पहिले जो पदार्थ सिद्ध हो जावे, तो पीछे से उसका लक्षण होता है; इसलिये सूत्र से मन की सिद्धि कर के सहज से ही लक्षण निःस्पर्शत्वे सत्यणुत्व बना सकते हैं; अर्थात् जिस में स्पर्श न रहे, और अणु परिमाण रहे, उसे मन कहते हैं; अथवा जिस के संबंध से आत्मा में सुख, दुःख, ज्ञान, आदिकों का प्रत्यक्ष हो, उस इंद्रिय को मन कहते हैं (५

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः १७ ॥

राग (इच्छा) की जन्यता का नियम बांधने वाली प्रवृत्तित्व-जाति जिस में रहे, उसे प्रवृत्ति (यत्न) कहते हैं; परंतु ईश्वर के यत्न का भी लक्षण यदि करना हो, तो यत्नत्व जाति जिस में रहे, उसे प्रवृत्ति कहते हैं; यह ही लक्षण जानना, यह

तीत होता है; कि वेदांती लोग जो गुण गुणी का अभेद मानते हैं, वह नैयायिकों को संमत नहीं; क्योंकि यदि अभेद संमत होता, तो भाष्यकार कर्मधारयसमास करते १४ ॥

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् १५ ॥

बुद्धि का लक्षण करते हैं, बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान (जानना) ये सब शब्द एक अर्थ को ही जनाते हैं; सांख्य शास्त्र की नाईं ऐसा नहीं जानना, कि महत्तत्व नाम से प्रसिद्ध बुद्धि का परिणाम (कार्य) ज्ञान (अहंकार) है; इस अर्थ को आपही सूत्रकार स्पष्ट करके आगे लिखेंगे; बुद्धि का लक्षण बुद्धिपदवाच्य है, अर्थात् बुद्धि शब्द से जिस अर्थ का बोध हो, उसे बुद्धि कहते हैं; अथवा अनुभव सिद्ध बुद्धित्व जाति जिसमें रहे, उसे बुद्धि कहते हैं; सिद्धांत में बुद्धि का लक्षण यह जानना, कि किसी संबंध से विशेषण के जनाने वाले पदार्थ में रहने वाली गुणत्वव्याप्यजाति जिस जिस पदार्थ में रहे, उन सब को बुद्धि कहते हैं; इसी लक्षण को संस्कृत में यूं लिखते हैं, संबंधावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितप्रकारितासमानाधिकरणगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्; इस बुद्धि के बहुत से अवांतर भेद हैं, जिनमें से कुछ तो आगे सूत्रों के क्रम से दिखाये जावेंगे; और शेष अन्य ग्रंथों में देखने से प्रतीत होसकते हैं, सूत्रों में तो सब पदार्थ संक्षेप रूप से ही दिखाये हैं; हिंदी भाषा के रसिकों को मेरी न्यायबोधिनी में बुद्धि के भेद बहुत मिलेंगे १५ ॥ ❀ ❀ ॥

6272.

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् १६ ॥

एक आत्मा में दो अथवा तीन ज्ञान जिस से एकबारगी नहीं उत्पन्न होवें, वह ज्ञानों का निमित्तकारण अणु (अतिसूक्ष्म) मन है; यथा विषयों के साथ चक्षु आदि सब इंद्रियों का संबंध होने पर भी जिस के संबंध से एक इंद्रिय ज्ञान को उपजाता है, और विना जिस के संबंध के दूसरा इंद्रिय ज्ञान को नहीं उपजाता, वह संपूर्ण ज्ञानों का सामान्य कारण और सुख आदि कों के प्रत्यक्ष का विशेष कारण अतिसूक्ष्म लाघव से एक मन आभ्यंतर इंद्रिय माना है; और सूत्र में लिंग पद का अर्थ लक्षण न करें, किंतु हेतु अर्थ करें, तो लक्षणों के प्रसंग में प्रमाण के द्वारा मन का सिद्ध करना असंगत हो जावे; क्योंकि केवल मन की नहीं किंतु संपूर्ण पदार्थों की सिद्धि आगे करनी है। कई आचार्यों का यह भी मत है, कि पहिले जो पदार्थ सिद्ध हो जावे, तो पीछे से उसका लक्षण होता है; इसलिये सूत्र से मन की सिद्धि कर के सहज से ही लक्षण निःस्पर्शत्वे सत्यणुत्व बना सकते हैं; अर्थात् जिस में स्पर्श न रहे, और अणु परिमाण रहे, उसे मन कहते हैं; अथवा जिस के संबंध से आत्मा में सुख, दुःख, ज्ञान, आदि कों का प्रत्यक्ष हो, उस इंद्रिय को मन कहते हैं (५

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः १७ ॥

राग (इच्छा) की जन्यता का नियम बांधने वाली प्रवृत्तित्वजाति जिस में रहे, उसे प्रवृत्ति (यत्न) कहते हैं; परंतु ईश्वर के यत्न का भी लक्षण यदि करना हो, तो यत्नत्व जाति जिस में रहे, उसे प्रवृत्ति कहते हैं; यह ही लक्षण जानना, यह

लक्षण निवृत्ति और जीवनयोनि यत्नों में रह जावेगा; वाग्बुद्धि, शरीर, इन तीनों पदों का द्वंद्वसमास करके, प्रत्येक पद का आरंभ पद के साथ अन्वय करने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि प्रवृत्ति तीन प्रकार की है, यथा वागारंभ, अर्थात् वचन के अनुकूल यत्न, शरीरारंभ अर्थात् शरीर के अथवा चेष्टा के अनुकूल यत्न, और बुद्ध्यारंभ अर्थात् इन दोनों यत्नों से भिन्न सारे यत्न बुद्ध्यारंभ कहाते हैं; जो कि प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों के अनुकूल होते हैं; प्राचीन लोग प्रवृत्ति के इन प्रत्येक लक्षणों में अदृष्ट जनकत्व का निवेश करते हैं; उन का यह आशय है; संपूर्ण यत्नों का फल पुण्य अथवा पाप अवश्य उत्पन्न होता है; इसी से उक्त तीनप्रकार की कारणरूपा प्रवृत्ति कही है, और इन से उत्पन्न होने वाले धर्म, अधर्म (पुण्य, पाप) कार्यरूपा प्रवृत्ति कहाते हैं १७ ॥ ÷ ÷ ॥

प्रवर्त्तनालक्षणादोषाः १८ ॥

दोषों का सामान्यलक्षण प्रवृत्तिजनकत्व है, अर्थात् जिनसे धर्म अथवा अधर्म उत्पन्न हो, उन्हें दोष कहते हैं; यद्यपि संपूर्ण कार्यों के जनक ईश्वरेच्छा, अदृष्ट, आदि साधारण कारणों में दोषों के उक्त लक्षण (प्रवृत्तिजनकत्व) की प्राप्ति से अतिव्याप्ति दोष लगता है; तोभी "लौकिकप्रत्यक्षविषयत्वेसतिप्रवृत्तिजनकत्व" दोषों का सामान्यलक्षण जानना, अर्थात् जिनका लौकिक प्रत्यक्ष हो ऐसे धर्म अथवा अधर्म के कारण दोष कहाते हैं; ईश्वरेच्छा आदि धर्म, अधर्म के कारण तो हैं, परंतु इन (साधारणकारणों)

में से किसी का भी लौकिकप्रत्यक्ष नहीं होता, इस से अतिव्याप्ति का वारण हो गया; इस पर भी यह आशंका है, कि यज्ञ आदिकों के यथार्थज्ञान का लौकिकप्रत्यक्ष भी मन से होता है, और इस ज्ञान से धर्म भी उत्पन्न होता है. तो इस (यज्ञ के यथार्थ) ज्ञान में अतिव्याप्ति लगी; इस दोष को हर करने के अर्थ उक्त लक्षण में प्रमा के भेद का निवेश करते हैं, तो यज्ञ का यथार्थज्ञान प्रमा से भिन्न नहीं है, इस से अतिव्याप्ति का वारण हो गया; इस सूत्र में "दोषाः" इस बहुवचन से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि राग, द्वेष, मोह, यह तीन प्रकार के दोष हैं १८ ॥

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः १९ ॥

बार बार मर के जमना प्रेत्यभाव कहाता है, यह अर्थ प्रेत्यभाव शब्द से ही स्पष्टरूप से प्रतीत होता है; क्योंकि व्याकरण के क्रम से प्रेत्य शब्द का अर्थ "मरके" इतना होता है, और भाव पद का अर्थ "(जमना)" होता है; इस सूत्र में पुनः शब्द के द्वारा बार बार जमना मरना, जमनामरना जताने से यह जन्ममरण का दृढ़ बंधन अनादि, अनंत और मोक्ष से विना कभी नहीं निवृत्त होने वाला जनाया है; इस का ज्ञान वैराग्य में बहुत उपयोगी होता है, इस से प्रेत्य पद व्यर्थ नहीं किंतु सार्थक है; एक मनुष्य के जीने के कारण अदृष्टों का अथवा प्राणों के अंतिमसंयोग का अथवा अंतिम प्राण का नाश उस एक मनुष्य का मरण कहाता है; इसी भांति एक मनुष्य के प्राण का विजातीय (जो पहिले जगत में नया) शरीर के साथ पहिला संयोग उस मनुष्य का जन्म कहाता

है; इस जन्म मरण के कारण अदृष्ट ही हैं, यह बात दूसरे सूत्रकी व्याख्या में पीछे लिख भी आए हैं; और आगे युक्तिओं के द्वारा तीसरे अध्याय के अंत में स्पष्ट रूप से सिद्ध भी करेंगे १९ ॥ ❖ ❖ ॥

प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् २० ॥

सुख के अथवा दुःख के प्रत्यक्ष को मुख्य फल कहते हैं, यथा वात्स्यायनभाष्य में स्पष्ट लिखा है; कि "सुखदुःखसम्वेदनंफलम्" इस सुखदुःख के भोग (प्रत्यक्ष) के कारण धर्म अधर्म के कारण राग आदि दोष हैं; इसी से सूत्र में (प्रवृत्तिदोषजनितः) दोनों का नाम लिखा है, और यह सुखदुःख भोग देह, इंद्रिय, बुद्धि, आदि पदार्थों से विना सर्वथा अनुपपन्न है, इस से भाष्यकार ने स्पष्ट करके लिख दिया है; कि देह, इंद्रिय, बुद्धि आदि सुख अथवा दुःख के साधन भी सब गौण फल कहाते हैं; इस गौण फल का लक्षण जन्यत्व ही जानना अर्थात् संपूर्ण जन्य पदार्थ सुख अथवा दुःख के कारण होने से गौणफल हैं यथा अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः इस श्रुतिमें प्राणों के साधन अन्न को प्राण ही कहा है; इसीरीति फल के साधन देह आदिकों को फल मान लिया है; और सब जन्य पदार्थों में दोष जन्यत्व कहने से यह तात्पर्य है, कि इन सब पदार्थों को मलिन जान के शीघ्र ही विरक्त होकर मनुष्य मोक्ष के मार्ग में प्रवृत्त होजावें २० ॥

वाधनालक्षणं दुःखम् २१ ॥

वाधना, पीड़ा, दुःख, ये सब शब्द एक ही अर्थ को जनाते हैं; दुःख का लक्षण दुःखत्व जातिमत्त्व है, अर्थात् दुःखत्व जाति जिस में रहे, उसे दुःख कहते हैं; अथवा अधर्ममात्रासाधारणकारणत्वे सति प्रतिकूलवेदनीयत्व दुःख का लक्षण है, अर्थात् जो गुण केवल अधर्म (पाप) से उत्पन्न हो, और जो गुण सब जीवों को प्रतिकूल (विरुद्ध) प्रतीत हो, उसे दुःख कहते हैं; और घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा, श्रोत्र, मन, गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, ज्ञान, घ्राणजप्रत्यक्ष, रासन प्रत्यक्ष, चाक्षुषप्रत्यक्ष, त्वाचप्रत्यक्ष, श्रोत्रप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, शरीर, सुख, दुःख, इन इक्कीस दुःखों के नाश का नाम मोक्ष जिनों ने माना है; उन के मत में शरीर इंद्रिय आदि पदार्थ जिस से दुःख के साधन (उपाय) हैं, इसी से गौण दुःख सब माने गये हैं; और सुख भी आदि में अथवा अंत में दुःख के संबंधी होने से गौण दुःख माने गये हैं; इसी से आगे के सूत्र मे तत् शब्द से मुख्य दुःख (पीड़ा) ही लिये हैं; २१ ॥ ⁂ ⁂ ॥

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः २२ ॥

पूर्ववर्णित वाधना नामी मुख्य दुःख के अत्यंतनाश को अपवर्ग (मुक्ति) कहते हैं; परंतु ऐसा दुःख का नाश जन्म, मरण, के संबंध की निवृत्ति से विना कभी नहीं हो सकता; इसी आशय को लेकर भाष्य में वात्स्यायन जी ने लिखा है, कि दुःखों के संबंधी जन्म के अंतिम नाश को मोक्ष कहते हैं; और स्वसमानाधिकरणदुःखासमानकालिक दुःखों

के नाश को अत्यंत दुःखनाश कहते हैं, अर्थात् जिस दुःखनाश के आश्रय में उसनाश के वर्त्तमान काल में कोई एक दुःख भी न रहे, ऐसा दुःखों का नाश ही अत्यंत नाश (मोक्ष) कहाता है; यद्यपि अपनी उत्पत्ति से तीसरे क्षण में सब दुःख अपने स्वभाव से ही नष्ट होते हैं, परंतु इस दुःखनाश के वर्त्त मान समय में अन्य दुःख बने रहते हैं; इस से सामान्यमनुष्यों के दुःखों का नाश मोक्ष नहीं कहा सकता, किंतु किसी विशेषव्यक्ति (सनकादि) के दुःखों का नाश ही उक्त लक्षण से मोक्ष कहाता है २२॥

बारह प्रमेयों के लक्षणों का तीसरा प्रकरण समाप्त हुआ

∴ ∴ ॥ ∴ ∴ ॥

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्य नुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः २३ ॥

क्रमसे प्राप्त संशयका लक्षण करते हैं, यहां संशयलक्ष और विमर्श लक्षण है; इस लक्षण में वि उपसर्ग का अर्थ विरोध और मृश धातु का अर्थ ज्ञान है, "एक आश्रय में" इतना अपनी ओर से मिला देना; तो संशय का सामान्य लक्षण एकधर्मिविशेष्यकविरुद्धभावाभावप्रकारकज्ञानत्व हुआ, अर्थात् जिस ज्ञान से एक आधार में (परस्परविरुद्ध) भाव और अभाव दोनों प्रतीत हों, उसे संशय कहते हैं; अब संशयों के विशेष कारण दिखानेसेही संशयों के विशेष लक्षण दिखाते हैं; यथा दोनों विरुद्ध कोटिओं में रहने वाले (साधारण) धर्म के ज्ञान से कहीं संशय होता है; असाधारण (विरुद्ध दोपक्षों में से एकपक्ष में रहने वाले) धर्म के ज्ञान से कहीं संशय उत्पन्न होता है; और जिस शब्द से दोनों विरुद्ध पक्षों का ज्ञान हो, ऐसे शब्द को विप्रतिपत्ति कहते हैं; ऐसे शब्द से दोनों पक्षों के सामान्यज्ञान से अनन्तर मानस संशय उत्पन्न होता है; और ज्ञान की अव्यवस्था अर्थात् प्रामाण्य के अथवा भ्रमत्व के संशय से भी कहीं संशय उत्पन्न होता है; वास्तव यह जानना, कि प्रामाण्य का संदेह अथवा भ्रमत्व का संदेह विषय के संदेह का कारण नहीं है; किंतु ये दोनों ही संशय के योग्य स्थल को जनाते हैं, क्योंकि वही ज्ञान प्रति बंधक हो-

ता है, जिस में अप्रामाण्य का ज्ञान न हुआ हो; तो जिस ज्ञान में प्रामाण्य का अथवा भ्रमत्व का संदेह हो, इसी अप्रामाण्य के ज्ञान से वह ज्ञान किसी का भी प्रतिबंधक नहीं होगा; अर्थात् प्रतिबंधक के न होने से ऐसे स्थल में अपने (साधारणधर्म का ज्ञान आदि) उक्त कारणों से विना किसी विवाद के सहज में संशय उत्पन्न हो जावेगा; और इस सूत्र में च अक्षर से यह जनाया, है, कि व्याप्य के संदेह से व्यापक का संदेह भी होता है; संशय के निरूपण में यह सिद्धांत अवश्य जानने के योग्य है, कि किसी वस्तुका संदेह तब तक ही उत्पन्न हो सकता है, जब तक उस वस्तु को विशेष रूप से न जान लें; कि यह वस्तु इस नाम की है, किंतु ऐसा विशेषज्ञान होने से अनंतर तो संशय कभी नहीं उत्पन्न होता; यदि इस ज्ञान से पहिले संशय उत्पन्न हुआ हो; तो वह (संदेह) भी इस विशेष ज्ञान की उत्पत्ति से अनंतर नष्ट होजाता है; २३

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम् २४ ॥

क्रम से प्राप्त प्रयोजन का लक्षण करते हैं, प्रयोजन का सामान्य लक्षण प्रवृत्तिहेत्विच्छा विषयत्व है, अर्थात् जिस पदार्थ की कामना से मनुष्य किसी कार्य के करने में प्रवृत्त होता है, उस पदार्थ को प्रयोजन कहते हैं; परंतु सुख की कामना (इच्छा) के विषय सुखत्व, ज्ञान आदि पदार्थ भी होते हैं; इस अतिव्याप्ति का वारण यूं करते हैं, कि जिस पदार्थ की सिद्धि के अर्थ मनुष्य किसी कार्य में प्रवृत्त हो, उसे प्रयोजन कहते हैं; प्रकृत में सुख की सिद्धि

के अर्थ मनुष्य कार्यों में प्रवृत्त होते हैं; कोई भी सुवर्ण की सिद्धि के अर्थ नहीं प्रवृत्त होते, तो अतिव्याप्ति का वारण हो गया; परंतु स्वभाव से ही सुख और दुःखाभाव की इच्छा सब मनुष्यों को होती है, इस से सुख और दुःखाभाव मुख्य प्रयोजन कहे हैं; और धन आदि पदार्थों की इच्छा स्वभाव से नहीं होती, किंतु सुख अथवा दुःखाभाव की इच्छा से धन आदि पदार्थों की इच्छा होती है; इस से धन आदि पदार्थ गौण प्रयोजन कहे हैं; इस लक्षण में प्रवृत्तिहेतु के निवेश से ही सुमेरु के शिखरों में अतिव्याप्ति का वारण होजाता है; २४ ॥ ॥

लौकिकपरीक्षकाणांयस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यंसदृष्टान्तः २५ ॥

जिन्हों ने शास्त्र में अभ्यास कभी नहीं किया, इसी से जिन्हें विशेष ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ, ऐसे मूर्ख मनुष्यों को लौकिक कहते हैं; और शास्त्र में दृढ़तर अभ्यास करने से जिन्हें विशेषज्ञान की प्राप्ति हुई है, ऐसे पंडित मनुष्यों को परीक्षक कहते हैं; तो लक्षण यह हुआ, कि जिस आश्रय में साध्य और हेत्वभाव को पंडित, मूर्ख, सब लोग निश्चय से मानें उस आश्रय को दृष्टांत कहते हैं; अर्थात् विना विवाद के जिस आश्रय में वादी, प्रतिवादी साध्य और हेतु को अथवा साध्याभाव और हेत्वभाव को निश्चय कर के मान लें, उस आश्रय को दृष्टांत कहते हैं; यद्यपि इस सूत्र में "लौकिकपरीक्षकयोः" ऐसा द्विवचन ही देना योग्य था, तो भी वाद, जल्प, वितंडा, इन तीन कथाओं

के अभिप्राय से "लौकिकपरीक्षकाणां" यह बहुवचन दिया है; २५ ॥ ❖ ❖ ॥

न्याय के पूर्वांग (संशय, प्रयोजन) और दृष्टांत के विशेष भेद और लक्षणों का ४ चतुर्थ प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ❖ ❖ ❖ ॥

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिःसिद्धान्तः २६

क्रम से प्राप्त सिद्धांत का लक्षण करते हैं, तंत्र (शास्त्र) है अधिकरण (बोधक) जिसका ऐसे अर्थ के अभ्युपगम (स्वीकार) को दृढ़ करके मन में स्थिर करना, सिद्धांत कहाता है; अर्थात् शास्त्र से संमत अर्थ का दृढ़ निश्चय सिद्धांत नाम से प्रसिद्ध है; इस अर्थको भाष्य में वात्स्यायन जी यूं लिखते हैं; कि शास्त्र से संमत जिस अर्थ पर दृढ़ निश्चय करते हैं, वह अर्थ सिद्धांत है; यही अर्थ न्यायवार्त्तिक की टीका में यूं लिखा है, कि शास्त्र से संमत अर्थ का दृढ़ निश्चय सिद्धांत है; इन अर्थों में परस्पर विरोध कुछ नहीं जानना, क्योंकि ग्रंथकारों ने आपही उद्धार लिखा है; यथा अर्थ को प्रधान मान के निश्चय को गौण कहना, अथवा निश्चय को प्रधान मान के अर्थ को गौण कहना, यह केवल वक्ता की इच्छा के अधीन है; परंतु अर्थ में अंतर का लेश भी न आने से दोष कोई नहीं आता; और भाष्य में जो इस सूत्र का अर्थ लिखा है, कि सर्वतंत्र, प्रतितंत्र, अधिकरण, अभ्युपगम, इन चारों को सिद्धांत कहते हैं; और कोई कहता है, तंत्र (सर्वतंत्र, प्रतितंत्र,) अधिकरण, अभ्युपगम, ये तीन सिद्धांत हैं; ये दोनों अर्थ अयुक्त हैं, क्योंकि विभाग के अर्थ अग्रिम सूत्र व्यर्थ हो जावेंगे २६ ॥ ❖ ❖ ॥

सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात् २७ सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः २८ ॥

इस सिद्धांत के चार भेद हैं, यथा (१) सर्वतंत्र सिद्धांत, (२)

प्रतितंत्रसिद्धांत,(३) अधिकरणसिद्धांत,(४) अभ्युपगमसिद्धांत, इस भेद से, इन में से प्रत्येक के लक्षण आगे क्रम से लिखे हैं; २७ सर्वतंत्रसिद्धांत का यह लक्षण है, कि जो अर्थ सम्पूर्ण शास्त्रों में से किसी से भी विरुद्ध न हो, और किसी एक शास्त्र में भी स्पष्ट कर के लिखा हो, उस अर्थ को अथवा उस अर्थ के दृढ़ निश्चय को सर्वतंत्रसिद्धांत कहते हैं; कई लोग इस सूत्र का अर्थ यह करते हैं, जिस अर्थ को सब शास्त्रकार स्पष्ट करके लिखें, वह किसी एक शास्त्र में स्पष्ट लिखा अर्थ सर्वतंत्रसिद्धांत है; परंतु यह अर्थ सर्वथा अयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि तंत्रेऽधिकृतः अर्थात् किसी एक शास्त्र में स्पष्ट लिखा, यह विशेषण व्यर्थ होजाता है; पहिले अर्थ के स्वीकार से ही जाति, निग्रहस्थान आदि को अति दुष्ट उत्तर कहना भी सर्वतंत्रसिद्धांत होजाता है; और इस पहिले अर्थ में भी यदि "तंत्रेऽधिकृतः" यह विशेषण न देवें, तो यह दोष जानना कि मन को इंद्रिय कहना भी सर्वतंत्रसिद्धांत होजावे; नवीन लोग सूत्र को उपलक्षणमान के वादी, प्रतिवादी, ये दोनों जिस अर्थ को मानें कथा के उपयोगी ऐसे अर्थ को सर्वतंत्रसिद्धांत कहते हैं; २८ ॥

⁂

॥ (२९

समानतंत्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः
यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ३

जो अर्थ एक शास्त्र से सिद्ध हो, और दूसरे शास्त्र से न सिद्ध हो, अर्थात् जिस अर्थ को वादी, प्रतिवादी, इन दोनों में से कोई एक मानें और दूसरा न मानें उस अर्थ को अथवा उस अर्थ

के दृढ़ निश्चय को प्रतितंत्रसिद्धांत कहते हैं; यथा मीमांसक
लोग शब्द को नित्य मानते हैं, और नैयायिक लोग नहीं
मानते, इस से शब्द को नित्यमानना प्रतितंत्रसिद्धांत है; २५
जिस अर्थ की सिद्धि करने से ही अपने अभिलषित अर्थ की
सिद्धि होवे, उस अर्थ को अथवा उस अर्थ के दृढ़ निश्चय
को अधिकरणसिद्धांत कहते हैं; यथा सृष्टि के प्रारंभ में
पहिले द्व्यणुक में (उपादानकारण) परमाणु के प्रत्यक्ष
से द्व्यणुक के उपजाने की इच्छा से परमाणुओं में जिस
का यत्न प्राप्त होसकता है,) ऐसे अलौकिक पुरुष की जन्यता
सिद्ध करने लगें, तो ईश्वर को सर्वज्ञ मानना, अधिकरणसिद्धांत
है; अर्थात् ईश्वर को सर्वज्ञ मानने से विना
परमाणुओं का प्रत्यक्ष अथवा परमाणुओं से द्व्यणुक
उपजाने का यत्न (सामर्थ्य) ईश्वर में कभी नहीं मानसकते,
किंतु ईश्वर को सर्वज्ञमानने से ही अपनी अभिलषित
(पहिलेद्व्यणुकमें) ईश्वर की जन्यता सिद्ध होसकती है,
इस से द्व्यणुक में ईश्वर की जन्यता सिद्ध करने में ईश्वर
को सर्वज्ञ मानना, अधिकरण सिद्धांत है; इसीरीति चक्षु
औरत्वचा से एकही पदार्थ का प्रत्यक्ष करने से स्पष्ट प्रतीत
होता है, कि शरीर इंद्रिय आदि कों से आत्मा अतिरिक्त है;
इस अनुमान में इंद्रियों को नाना (बहुत) मानना, अधिकरणसिद्धांत
है; क्योंकि इंद्रियों को यदि एकही मानें तो यह
अनुमान व्यर्थ होजाता है, परंतु एक इंद्रिय के नाश होजाने
पर दूसरी इंद्रिय का नाश नहीं होता, इस से सब इंद्रियों को
एक नहीं कहसकते; तो सिद्ध हुआ, कि इंद्रियों को अनेक

मानके ही आत्मा में इंद्रिय आदिकों के भेद की सिद्धि कर सकते हैं; इस से आत्मा में इंद्रिय आदिकों का भेद सिद्ध करने में इंद्रियों को नाना (बहुत) मानना अधिकरणसिद्धांत है; सिद्धांत यह प्रतीत हुआ, कि जिस अर्थ की सिद्धि करने से बिना प्रथम अभीष्ट अर्थ शब्द से अथवा अनुमान से अर्थात् किसी प्रमाण से भी न सिद्ध हो सके, उसे अधिकरणसिद्धांत कहते हैं; इसीसे आत्मतत्वविवेक (ग्रंथ) में लिखा है, कि जगत् के दृश्य पदार्थों को उत्पत्ति से विनाश तक स्थिर मानने से बिना अर्थात् इन में क्षणिकत्व का खंडन करने से बिना यह बात किसी प्रमाण से भी नहीं सिद्ध हो सकती, कि ये पदार्थ स्थूल हैं; इस से दृश्य पदार्थों को स्थूल सिद्ध करने में इन पदार्थों को क्षणिक नहीं मानना, अधिकरणसिद्धांत है; इसी अर्थ को शिरोमणि ने वार्तिक की फांकी (वाक्यार्थस्य सिद्धौ जायमानायां तदनुषक्तीयोय सोऽधिकरणसिद्धांतः) लिख के व्याख्या से स्पष्ट दिखाया है, और यह भी जानना कि केवल साध्य ही नहीं अधिकरणसिद्धांत होता, किंतु कहीं पक्ष कहीं हेतु भी अधिकरणसिद्धांत होता है; वहां लक्षण भी उन के योग्य ही रच लेने, यह बात वार्तिक की टीका में स्पष्ट लिखा है; और भाष्य में अधिकरणसिद्धांत का उदाहरण इंद्रियों को नाना (अनेक) मानना ही दिया है, इस से अनुमिति के हेतुव्यापकताज्ञान का विषय, अथवा शाब्दबोध के हेतु पदार्थज्ञान का विषय अधिकरणसिद्धांत है; ये दोनों मत सर्वथा असंगत जानने ३० ॥ ❖ ॥

अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेष ॥
परीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ३१ ॥

जो पदार्थ स्पष्ट रूप से नाम ले कर सूत्र में नहीं लिखा, किंतु विशेष परीक्षा करने से प्रतीत हुआ, कि यह पदार्थ अवश्य अपेक्षित है, ऐसे पदार्थ का मानना अभ्युपगमसिद्धांत है। यथा मन को इंद्रियमानना अभ्युपगमसिद्धांत है, क्यों कि इंद्रियों के निरूपण में सूत्रकार ने यद्यपि मन का नाम नहीं लिखा, तौ भी विशेष विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि जो प्रत्यक्ष के कारण हैं, वे सब इंद्रिय हैं, यथा रूप के प्रत्यक्ष का कारण चक्षु इंद्रिय है, इसीभांति ज्ञान, सुख, दुःख, आदिकों के प्रत्यक्षका कारण मन भी अवश्य इंद्रिय है; यह बात विशेष परीक्षा करने से जानी गई, इस से मन को इंद्रिय मानना अभ्युपगमसिद्धांत है ३१ ॥

गोतमसूत्रवृत्ति के न्याय के सिद्धांतों के ५ वें प्रकरण का हिंदी में अनुवाद समाप्तहुआ· ५ ॥

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ३२ ॥

क्रम से प्राप्त अवयवों के (लक्षण करने वाले) विभाग करते हैं; यथा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, ये पांच अवयव हैं। इसी से लक्षण भी प्रतीत हुआ, कि क्रम से स्थापित प्रतिज्ञा आदि इन पांचों का समूह न्याय (अवयव) है; यद्यपि अवयव द्रव्य का ही होता है, तोभी शब्द समूह की अपेक्षा प्रत्येक खंड में अवयव शब्द का प्रयोग किया है; इन पांच अवयवों के कथन से दस अवयवों का मत खंडित होगया, वे दस अवयव वात्स्यायन जी ने विस्तार करके अपने भाष्य में लिखे हैं; यथा प्रतिज्ञा आदि पांच, जिज्ञासा (प्रयोजन में प्रवृत्त करानेवालीजानने की इच्छा) संशय (जिज्ञासाका हेतु साध्यकासंदेह) शक्यप्राप्ति (प्रमाणों में ज्ञानउपजाने की सामर्थ्य) प्रयोजन (त्यागकाज्ञान) संशयव्युदास (तर्क) येही दस अवयव निबंध में भी जनाये हैं; परंतु इनमें से अंत के पांच न्याय के अंतरगत न होने से अवयव नहीं हैं; यदि न्यायजन्यबोध के अनुकूल होने से इन्हें अवयव मानो, तो केवल पक्ष भी एक अवयव हो जावे, और तुमारा माना प्रयोजन अवयव न होवे ३२ ॥ ❖ ❖ ॥

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ३३ ॥

क्रम से प्राप्त प्रतिज्ञा का लक्षण करते हैं; यथा सिद्ध करने के योग्य (साध्यवाले) पक्ष का निर्देश (कथन) प्रति

ज्ञा है; अर्थात् पक्ष और साध्य को (परस्पर विशेष्य विशेषण रूप से) जनाने का हेतु शब्द प्रतिज्ञा कहाता है; प्रतिज्ञा के इस लक्षण की निगमन में अतिव्याप्ति वारण के अर्थ "साध्यांशे साध्यतावच्छेदकातिरिक्ताप्रकारकत्व" का निवेश करना आवश्यक है; अर्थात् साध्यमें साध्यतावच्छेदक (जिस धर्म से साध्य करें) की विशेषणता से विलक्षण (इतर) विशेषणता का ज्ञान जिस से न हो, ऐसा परस्पर विशेष्य विशेषण रूप से पक्ष और साध्य के ज्ञान का कारण शब्द प्रतिज्ञा कहाता है; यथा "पर्वतोवह्निमान्" यह प्रतिज्ञा है, इस रीति विशेषणताओं के भेद का निवेश कराने से "प्रमेयवह्निमान्पर्वतः" इस प्रतिज्ञा में साध्यतावच्छेदक (प्रमेय) से इतर पदार्थ अप्रसिद्ध भी है, तो सामान्य प्रमेय की विशेषणता से इतर उष्ण आदि की विशेषणता प्रसिद्ध होनेसे कोई दोष नहीं लगा; ये प्रतिज्ञात्व, अवयवत्व आदि परिभाषाओंसे सिद्ध सखंडोपाधि अथवा तत्तद्भिन्नत्वरूप है ३३ ॥

उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनंहेतुः ३४

तथावैधर्म्यात् ३५ ॥

क्रम से प्राप्त हेतु का लक्षण दो सूत्रों में करते हैं, उदाहरण (दृष्टांत) में देखी हुई व्याप्ति के द्वारा साध्य के साधन (साध्यकी बुद्धि के कारणज्ञान के विषय) अवयव को हेतु कहते हैं; न्याय वाक्य में इस हेतु का प्रयोग सर्वदा पंचम्यंत अथवा तृतीयांत पद से ही होता है; यह हेतु तीन प्रकार का है, यथा (१) केवलान्वयी (दृष्टांत से निश्चित केवल

साधर्म्य (अन्वयव्याप्ति) जिस हेतु में रहे,) (२) केवलव्यतिरेकी (दृष्टांत से निश्चित केवलवैधर्म्य (व्यतिरेकव्याप्ति) जिस हेतु में रहे, और अन्वय व्याप्तिनर है,) (३) अन्वयव्यतिरेकी (दृष्टान्त से निश्चित अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति ये दोनों जिस हेतु में रहें,) इस विचार से यह स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि दृष्टांत में निश्चित व्याप्ति से विरुद्ध व्याप्ति यदि हेतु में गृहीत हो, तो वह हेतु प्रमाण कभी नहीं माना जावेगा; अर्थात् दृष्टांत में अन्वयव्याप्ति का निश्चय करके हेतु में व्यतिरेकव्याप्ति ली जावे, अथवा दृष्टांत में व्यतिरेकव्याप्ति का निश्चय करके हेतु में अन्वयव्याप्ति ली जावे, तो ऐसे सब हेतु अप्रमाण ही गिने जावेंगे ३४ + ३५ ॥ ∴ ॥

साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी
दृष्टान्तउदाहरणम् ३६ ॥

वादी और विवादी इन दोनों की संमति से दृष्टांत देने के योग्य पदार्थ का बोध जिस शब्द से हो, उस अवयव को उदाहरण कहते हैं; अर्थात् जिस अधिकरण में साध्य और हेतु की व्याप्ति (नियम से एक आश्रय में रहने) का निश्चय विनाविवाद के (प्रत्यक्ष से) हो, उस अधिकरण को उदाहरण कहते हैं; यह उदाहरण दो प्रकार का है, यथा (१) अन्वयी उदाहरण, (२) व्यतिरेकी उदाहरण, परंतु इस सूत्र में केवल अन्वयी उदाहरण का ही लक्षण किया है, यथा जिस जिस स्थान में हेतु रहे, वहां वहां साध्य अवश्य रहे; इस (साध्य और हेतु की) अन्वय व्याप्ति का निश्चय

जिस अधिकरण में हो, उसे अन्वयी उदाहरण कहते हैं; जैसे पर्वत में धूम हेतु से वह्नि की अनुमिति करने लगें, तो जहां जहां धूम होता है, वहां वह्नि अवश्य होती है; इस (वह्नि और धूम की) अन्वयव्याप्ति का निश्चय महानस (पाक करने के गृह) में होता है, इस से "पर्वतोवह्निमान्धूमात्" इस अनुमिति में महानस अन्वयी उदाहरण है (३६

तद्विपर्ययाद्वाविपरीतम् ३७ ॥

क्रम से प्राप्त व्यतिरेकी उदाहरण का लक्षण जिस अधिकरण में (साध्य और हेतु की) व्यतिरेकव्याप्ति का निश्चय विना विवाद के हो, उसे व्यतिरेकी उदाहरण कहते हैं; यथा इस शरीर में आत्मा का संबंध अवश्य है, जिस से प्राणवायु इस में चल रहा है; इस अनुमान में "जहां जहां साध्य (आत्मा का संबंध) नहीं होता, वहां वहां हेतु (प्राणवायु का संबंध) कभी नहीं होता" इस व्यतिरेकव्याप्ति का निश्चय घट में होता है, इस से यहां घट ही व्यतिरेकी उदाहरण है; इस सूत्र में वा शब्द के प्रयोग का यह तात्पर्य है, कि अन्वयव्यतिरेकी अनुमान में अपनी स्वेच्छा से अन्वयी उदाहरण का प्रयोग करना, अथवा व्यतिरेकी उदाहरण का प्रयोग करना, क्योंकि ऐसे अनुमानों में दोनों (अन्वय, व्यतिरेक) व्याप्तियों के निश्चय से दोनों (अन्वयी और व्यतिरेकी) उदाहरणों का अवकाश होता है ३७ ॥ ⁂ ⁂ ॥

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो नतथे
तिवा साध्यस्योपनयः ३८ ॥

दृष्टांत के अनुसार साध्य (पक्ष) का उपसंहार कथन उपनय होता है; अर्थात प्रकृत उदाहरण में निश्चित व्याप्ति (अन्वय अथवा व्यतिरेक) विशिष्ट हेतु को विशेषण रूप से पक्ष में जनाने का कारण शब्द उपनय कहाता है; उदाहरण में निश्चित व्याप्ति से विरुद्ध व्याप्ति के बोधक उपनय (उपनयाभास) में अतिव्याप्ति वारण के अर्थ "दृष्टांत के अनुसार" ये अक्षर दिये हैं; वस्तुतः अवयव पद देने से ही यह दोष नहीं लगेगा, तो ऊपर का विशेष नहीं देना; यह उपनय भी दो प्रकार का है, यथा (१) अन्वयी, (२) व्यतिरेकी, तथा शब्द के द्वारा जहां पक्ष में साध्य और हेतु का प्रयोग करें, उसे अन्वयी उपनय कहते हैं; नतथा शब्द के द्वारा जहां पक्ष में साध्य और हेतु का प्रयोग करें, उसे व्यतिरेकी उपनय कहते हैं; यहां तथा और नतथा कहने की ही कुछ आवश्यकता नहीं है; किंतु अन्वयी उपनय में यह जनाना आवश्यक है, कि इस पक्ष में साध्यव्याप्य हेतु है; और व्यतिरेकी उपनय में यह जनाना आवश्यक है, कि साध्याभाव के व्यापक अभाव का प्रतियोगी हेतु पक्ष में है; ३८ ॥ ∴ ∴ ॥

हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं
निगमनम् ३९ ॥

हेतु (व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्म) के कथन से प्रतिज्ञात (सा-

ष्यविशिष्टपक्ष) अर्थ का पुनः कथन निगमन होता है, अर्थात् व्याप्ति विशिष्टपक्षधर्म(हेतु) को जना कर जो शब्द साथ ही विशेषण रूप से साध्य को भी पक्षमें जनावे, अथवा व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्म(हेतु) के ज्ञान से जिस का ज्ञान हो, ऐसे साध्य को विशेषण रूप से पक्ष में जनाने का कारण शब्द निगमन कहाता है; यह निगमन अन्वयी, व्यतिरेकी अनुमानों में एकसा ही होता है, अन्य अवयवों की नाईं अन्वय, व्यतिरेक भेद से दो भांति का नहीं होता, यह ग्रंथकारका आशय है; और किसी का यह भी मत है, अन्वयी अनुमान में "तस्मात्तथा" यह निगमन का स्वरूप है; व्यतिरेकीअनुमान में "तस्मान्नतथा" यह निगमनका स्वरूप होता है ३५ ॥

प्रतिज्ञादि पांच अवयवों के स्वरूप और लक्षणों का छठा प्रकरण समाप्तहुआ· इति· ६ ॥ ∴

अविज्ञाततत्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ४०॥

क्रम से प्राप्त तर्क का लक्षण करते हैं, जिस पदार्थ का तत्व (यथार्थस्वरूप) न प्रतीत हो, उस पदार्थ को यथार्थ रूपसे जानने के अर्थ कारण (व्याप्य) की उपपत्ति (आपत्ति) से व्यापक का ऊह (आपत्ति) तर्क होता है; परंतु जिस अधिकरण में हेतु का यथार्थ निश्चय हो, उसी अधिकरण मे उक्त आरोप (आपत्तियां) तर्क कहावेगा, ह्रद में वह्न्यभाव के आरोप से धूमाभाव का आरोप कभी तर्क नहीं कहावेगा; जिससे ह्रद में हेतु (धूम) का यथार्थ निश्चय नहीं होता; और वह्न्यभाव की आपत्ति से द्रव्याभाव की आपत्तिभी तर्क नहीं होगी, जिस से वह्न्यभाव द्रव्याभाव का व्याप्य नहीं है; जिस अनुमान में व्यभिचार की शंका होजावे, तो उस अनुमान से तबतक कुछ भी अर्थ नहीं सिद्ध होगा, जबतक तर्क से व्यभिचार शंका का उद्धार न करलेवें; और जिस अनुमान मे व्यभिचार शंका न हो, वहां तर्क की अपेक्षा कुछ नहीं है; यह तर्क पांच प्रकार का है, यथा (१) आत्माश्रय, (२) अन्योन्याश्रय, (३) चक्रक, (४) अनवस्था, (५) तदन्यबाधितार्थप्रसंग, इन प्रत्येक के लक्षण और उदाहरण दिखाते हैं, यथा अपने आप को अपनी अपेक्षा पड़ने से जो दोष लगे, उसे आत्माश्रय कहते हैं; यह आत्माश्रय (उत्पत्ति, स्थिति, ज्ञप्ति) इस भेद से तीन प्रकार का है; यह घट यदि इसी घट

से जन्य हो, तो इस घट के अनधिकरण क्षण से उत्तर क्षण में वर्त्तमान न होवे, जिस से कारण यही घट पूर्व क्षण में नहीं रहा; यह घट यदि इसी घट में वर्त्तमान होवे, तो इस घट का व्याप्य न होवे, जिस से आधार, आधेय, परस्पर व्याप्य अथवा व्यापक कभी नहीं होसकते; यह घट यदि (इस घट के) ज्ञान का स्वरूप होवे, तो इस का चक्षु से प्रत्यक्ष न होवे, जिस से ज्ञान आदि आत्मा के विशेषगुणों में से किसी का भी चक्षु आदि वहिरिंद्रियों से कभी प्रत्यक्ष नहीं होता; अपनी अपेक्षा जिस पदार्थ को अवश्य पड़ती हो, उस पदार्थ की अपेक्षा अपने आपको पड़ने से जो दोष लगे, उसे अन्योन्याश्रय कहते हैं; यह अन्योन्याश्रय भी (उत्पत्ति, स्थिति, ज्ञप्ति,) इस भेद से तीन प्रकार का है; यह कपाल यदि इस घट से जन्य हो, तो इस घट की उत्पत्ति से पहिले यह कपाल कभी वर्त्तमान न होवे, क्योंकि कारण से पहिले कार्य कभी नहीं हो सकता; यह कपाल यदि इस घट में वर्त्तमान होवे, तो इसघट का समवायी कारण न होवे, जिससे सब उपादानकारण समवाय संबंध से कार्य के अधिकरण होते हैं, आधेय कभी नहीं होते; यह कपाल यदि घट के ज्ञान का स्वरूप होवे, तो कपाल का चक्षु से प्रत्यक्ष न होवे; अपनी अपेक्षा जिस पदार्थ को अवश्य पड़े, उस दूसरे पदार्थ की अपेक्षा जिस पदार्थ को अवश्य पड़े, उस तीसरे वा चौथे पदार्थ की अपेक्षा अपने आप (पहिले पदार्थ) को पड़ने से जो दोष लगे, उसे चक्रक कहते हैं; यह चक्रक भी (उत्पत्ति, स्थिति, ज्ञप्ति, के भेदसे) तीन प्रका

र का है; क्रम से उदाहरण यथा यह कपालिका यदि इस घट से जन्य हो, तो इस घट की उत्पत्ति से पहिले वर्त्तमान न होवे, कोई भी कार्य अपने कारण की उत्पत्ति से पहिले वर्त्तमान नहीं होसकता; यह कपालिका यदि इस घट में वर्त्तमान होवे, तो घट की उपादान कारण नहोवे; क्योंकि सब उपादानकारण समवाय संबंध से कार्यों के अधिकरण होते हैं, आधेय कभी नहीं होते; यह कपालिका यदि घट के ज्ञान का स्वरूप होवे, तो कपालिका का चक्षु अथवा त्वचा से प्रत्यक्ष नहोवे; क्योंकि आत्माके विशेषगुण ज्ञान, सुख आदिकों का किसी बहिरिंद्रिय से भी प्रत्यक्ष नहीं होता और जहां पांचवीं कोटि की अथवा छठी आदि कोटियों की अपेक्षा पहिली कोटि को पड़ने से जो दोष लगे, उसे भी चक्रक ही कहते हैं; व्यवस्था (नियम) को त्याग के कल्पना की परंपरा से जो दोष लगे, उसे अनवस्था कहते हैं; यथा यह घट यदि इस घट से जन्य हो, तो यह घट समवाय संबंध से इस कपाल में नरहे; अथवा घटत्व में यदि घटत्वत्व जाति मानें तो उस में भी घटत्वत्वत्व जाति मानें इसीभांति एक २ त्व बढ़ाने से जो दोष लगेगा; उसे भी अनवस्था कहते हैं और कार्यकारण भाव के विरोध से जो दोष लगे. उसे तदन्यबाधितार्थप्रसंग कहते हैं; यथा धूम यदि बह्नि का व्यभिचारी (उस से विना होने वाला) हो, तो धूम बह्नि से जन्य न हो, अर्थात् वह्नि से विना ही धूम उत्पन्न हो जावे; प्रथमोपस्थितत्व (पहिले प्राप्त होना) उत्सर्ग (विना यत्न के प्राप्त होना) विनिगमनाविरह (दो पक्षों में से किसी एक पक्ष को सिद्धांत करने वाली युक्ति का नहोना) लाघव, गौरव, ये सब केवल अनुमान में

ही नियत नहीं होने से तर्क नहीं हैं; किंतु तर्क कीनाईं प्रमाणों का साहाय्य करने से ये सब भी तर्क कहे जाते हैं; ४० ॥

विमृश्यपक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थाव धारणंनिर्णयः ४१ ॥ ∴

क्रम से प्राप्त निर्णय का लक्षण करते हैं, पहिले संदिग्ध पदार्थ को ग्रहण करके पक्ष (अपने मत की सिद्धि) और प्रतिपक्ष (विरुद्ध पक्ष के खंडन) से पदार्थ का अवधारण (निषेध से बिना दृढ़ रूप से पदार्थ का जानना) निर्णय अथवा निश्चय कहाता है; यद्यपि निर्णय का लक्षण तो इतना ही उत्तम हो सकता है, कि "जिस ज्ञान से एक वस्तु का बोध विशेषण रूप से होवे, और उस वस्तु के अभाव का बोध न होवे" उस ज्ञान को निश्चय कहते हैं; तो भी जल्प, वितंडा, नामी कथाओं में संदेह से अनंतर ही निश्चय होता है, इस अभिप्राय से उक्त सूत्र में "विमृश्यपक्षप्रतिपक्षाभ्यां" इन पदों का निवेश कियाहै; जैसाकि वात्स्यायनभाष्य में भी लिखा है "शास्त्रेवादेचविमर्षवर्ज्यं" असीरीति यह भी जानना कि प्रत्यक्ष से अथवाशब्द से पदार्थ का निश्चय करने में संदेह की अपेक्षा कुछ नहीं पड़ती ४१ ॥ ∴ ∴ ॥

इति न्याय के अन्त अंग तर्क, निर्णय, के लक्षणों का ७ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति के पहिले अध्याय का पहिला आह्निक समाप्त हुआ १ ॥ ∴ ∴ ॥

र का है; क्रम से उदाहरण यथा यह कपालिका यदि इस घट से जन्य हो, तो इस घट की उत्पत्ति से पहिले वर्तमान न होवे, कोई भी कार्य अपने कारण की उत्पत्ति से पहिले वर्तमान नहीं होसकता; यह कपालिका यदि इस घट में वर्तमान होवे, तो घट की उपादान कारण नहोवे; क्योंकि सब उपादानकारण समवाय संबंध से कार्यों के अधिकरण होते हैं, आधेय कभी नहीं होते; यह कपालिका यदि घट के ज्ञान का स्वरूप होवे, तो कपालिका का चक्षु अथवा त्वचा से प्रत्यक्ष नहोवे; क्योंकि आत्माके विशेषगुण ज्ञान, सुख आदिकों का किसी बहिरिंद्रिय से भी प्रत्यक्ष नहीं होता और जहां पांचवीं कोटि की अथवा छठी आदि कोटियों की अपेक्षा पहिली कोटि को पड़ने से जो दोष लगे, उसे भी चक्रक ही कहते हैं; व्यवस्था (नियम) को त्याग के कल्पना की परंपरा से जो दोष लगे, उसे अनवस्था कहते हैं; यथा यह घट यदि इस घट से जन्य हो, तो यह घट समवाय संबंध से इस कपाल में नरहे; अथवा घटत्व में यदि घटत्वत्व जातिमानें तो उस में भी घटत्वत्वत्व जातिमानें इसीभांति एक २ त्व बढ़ाने से जो दोष लगेगा; उसे भी अनवस्था कहते हैं और कार्यकारण भाव के विरोध से जो दोष लगे. उस तदन्यबाधितार्थप्रसंग कहते हैं; यथा धूम यदि वह्नि का व्यभिचारी (उस से विना होने वाला) है, तो धूम वह्नि से जन्य न हो, अर्थात् वह्नि से विना ही धूम उत्पन्न हो जावे; प्रथमोपस्थितत्व (पहिले प्राप्त होना) उत्सर्ग (विना यत्न के प्राप्त होना) विनिगमनाविरह (दो पक्षों में से किसी एक पक्ष को सिद्धांत करने वाली युक्ति का नहोना) लाघव, गौरव, येसब केवल अनुमान में

ही नियत नहीं होने से तर्क नहीं हैं; किंतु तर्क की नाईं प्रमाणों का साहाय्य करने से ये सब भी तर्क कहे जाते हैं; ४० ॥

विमृश्यपक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थाव
धारणंनिर्णयः ४१ ॥ ∴

क्रम से प्राप्त निर्णय का लक्षण करते हैं, पहिले संदिग्ध पदार्थ को ग्रहण करके पक्ष (अपने मत की सिद्धि) और प्रतिपक्ष (विरुद्ध पक्ष के खंडन) से पदार्थ का अवधारण (निषेध से विना दृढ़ रूप से पदार्थ का जानना) निर्णय अथवा निश्चय कहाता है; यद्यपि निर्णय का लक्षण तो इतना ही उत्तम हो सकता है, कि "जिस ज्ञान से एक वस्तु का बोध विशेषण रूप से होवे, और उस वस्तु के अभाव का बोध न होवे" उस ज्ञान को निश्चय कहते हैं; तो भी जल्प, वितंडा, नामी कथाओं में संदेह से अनंतर ही निश्चय होता है, इस अभिप्राय से उक्त सूत्र में "विमृश्यपक्षप्रतिपक्षाभ्यां" इन पदों का निवेश कियाहै; जैसाकि वात्स्यायनभाष्य में भी लिखा है "शास्त्रेवादेचविमर्षवर्ज्यं" इसीरीति यह भी जानना कि प्रत्यक्ष से अथवा शाब्द से पदार्थ का निश्चय करने में संदेह की अपेक्षा कुछ नहीं पड़ती ४१ ॥ ∴ ∴ ॥

इति न्याय के अन्तर्गत तर्क, निर्णय, के लक्षणों का ७ वां प्रकरण समाप्त हुआ· ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति के पहिले अध्याय का पहिला आह्निक समाप्त हुआ· १ ॥ ∴ ∴ ॥

आह्निकोंकीपरस्परसंगति

पहिले आह्निक में व्याप्ति, पक्षधर्मता, सहित न्याय (पांचो अवयवें) का निरूपण करके वाद आदि पदार्थो के लक्षण करने की इच्छा से दूसरे आह्निक का प्रारंभ किया है; प्रसंग (संगति) से छल पदार्थ की परीक्षा भी इस आह्निक में होगी, तो सिद्ध हुआ, कि छल की परीक्षा, और वाद आदि पदार्थों के लक्षण, इस दूसरे आह्निक का प्रयोजन है; इस आह्निक में ४ प्रकरण हैं; (१) कथाप्रकरण, (२) हेत्वाभासप्रकरण, (३) छलप्रकरण, (४) दोषप्रकरण, आदि में कथा के विशेषभेदों (वाद, जल्प वितंडा) के लक्षण करने के अर्थ तीन सूत्रों का कथा प्रकरण है; इसी आशय को लेकर वात्स्यायनभाष्य में लिखा है, "तिस्रः खलुकथाभवन्तिवादोजल्पोवितण्डाचेति" कथा का सामान्यलक्षण यह है, "न्याय के अनुकूल तत्वनिर्णय (पदार्थकेयथार्थनिश्चय) अथवाविजय (दूसरेपक्षकेजीतने) का कारण वाक्यों का समूह कथा कहाता है; लौकिकविवादतोन्यायके अनुकूल न होने से कथा नहीं है, और जहां एकने दूसरे का कहा ही नहीं समझा वहां तत्वनिर्णय, विजय इन में से एक के भी न होने से कथा नहीं होसकती; कथाओं के अधिकारी ये पुरुष हैं; जिन्हें तत्वनिर्णयअथवाविजय की अपेक्षा हो, सारे जगत में प्रसिद्ध वस्तुका जो खंडन नकरें, समझने में चतुर, विवादकीवासनासे रहित, कथाकेउपयोगी अर्थ कहने में चतुर. ॥

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भसिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहोवादः ४२ ॥

तीनों कथाओं में प्रधान वाद का लक्षण यह है, कि जिस में यथार्थ प्रमाण से अपने पक्ष का साधन (सिद्धि) और यथार्थ तर्क से विरुद्ध पक्ष का उपालंभ (खंडन) हो, पक्ष (अपनामत,) प्रतिपक्ष (अपनेविरुद्धमत) इन दोनोंमें से प्रत्येक मत की सिद्धि के अर्थ जो परस्पर उत्तर, प्रश्न, के क्रम से कहा हुआ वाक्योंका समूह उसे वाद कहते हैं; प्रमाणाभास (दुष्टप्रमाण) से अपने मत की सिद्धि और तर्काभास (दुष्टतर्क) से विरुद्धमत का खंडन तो यद्यपि जल्प औरवितंडा में भी होता है, तोभी वाद के लक्षण में यथार्थप्रमाण और यथार्थ तर्क का निवेश करने से जल्प और वितंडा में अतिव्याप्ति नहीं लगती; इस वाद कथा में निग्रहस्थानोंकानियम बांधने के अर्थ (सिद्धांताविरुद्धः, पञ्चावयवोपपन्नः) ये दो विशेषण दिये हैं; क्योंकि पहिले विशेषण में सिद्धांत का साधारण नाम लेने से प्रतीत हुआ, कि वाद में अपसिद्धांत नामी निग्रहस्थान भी लेते हैं; और दूसरे विशेषण में सामान्यरूप से पांच अवयवों का नाम लेने से न्यून, अधिक, अवयवाभास (दुष्टअवयव) दृष्टांतासिद्धि आदि हेत्वाभास भी वाद में अनुज्ञात होते हैं; तो सिद्ध यह हुआ, कि हेत्वाभास, न्यून, अधिक, और अपसिद्धांत, यही चारो निग्रहस्थान वाद में लिये जाते हैं; वास्तव सिद्धांत यह जानना, कि भ्रम आदि दोषों की निवृत्ति से अनंतर ही मनुष्य तत्व (पदा-

र्थ के यथार्थ स्वरूप) का निश्चय करने के अर्थ वाद में प्रवृत्त होते हैं; जो वाद में अविज्ञातार्थ आदि निग्रहस्थानों की नाईं न्यून और अधिक नामी निग्रहस्थानों की भी कोई आवश्यकता नहीं है, इसी से भाष्यकार ने पांच अवयवों की आवश्यकता भी वाद में नहीं मानी; और हेत्वाभास के प्रकाश करने से भी कथा का विच्छेद नहीं होता है, जब अन्य हेतु से अर्थ की सिद्धि न कर सकें नहीं तो केवल वह पहिला हेतु ही दुष्ट होगा, कथा का विच्छेद कभी नहीं होगा; किंतु अन्य हेतु से कथा प्रवृत्त होगी; इस वाद कथा के अधिकारी ये पुरुष हैं; तत्व (पदार्थ का यथार्थ स्वरूप) जानने की इच्छावाले, संबद्ध बात कहने वाले, कलह न करनेवाले, छल न करनेवाले, जिन्हें अवसर पर स्फूर्ति हो, युक्तिसिद्ध पदार्थों का निश्चय करनेवाले, और कोई कहते हैं, राजा, मध्यस्थ पंडितों की सभा वाद में अवश्य चाहिये, परंतु वाद के अधिकारियों में राग आदि दोषों के न होने से इस सभा की अपेक्षा कुछ नहीं है ४२ ॥ ❖ ❖ ॥

यथोक्तोपपन्नच्छलजातिनिग्रह
स्थानसाधनोपालम्भोजल्पः ४३ ॥

तीनों कथाओं में मध्यम जल्प का लक्षण यह है, कि जिस में सामान्य प्रमाणों से छलों के द्वारा अपने मत की सिद्धि और सामान्य तर्कों से जाति और निग्रहस्थानों के द्वारा दूसरे मत का खंडन हो, जीतने की कामना से अपने अपने पक्ष की सिद्धि के अर्थ प्रश्न, उत्तर के क्रम से कहे हुए वाक्यों का समूह जल्प कहाता है; यद्यपि छल, जाति, निग्रहस्थानों से दूस-

रे मत का खंडन ही होता है, अपनेमत की सिद्धि नहीं होती; तोभी अन्य मत के खंडन से ही अपने मत की सिद्धि मान के यह कहा है; और वितंडा में अतिव्याप्तिवारण के अर्थ जल्प के लक्षण में उभयपक्षस्थापनावत्व का निवेश अवश्यकरना, अर्थात् दोनों पक्ष किसीनाकिसीशास्त्र की संमति से प्रवृत्त हों; यह अर्थ आगे वितंडा के सूत्र से ही प्रतीत होता है; इन छल आदि के निवेश से ही प्रतीतहोता है, कि जीतने की इच्छा से जोकथा प्रवृत्त हो, उसे जल्प कहते हैं; यहां कथा की प्रवृत्ति का यह क्रम है; वादी ने अपने पक्ष की सिद्धि का प्रयोग (कथन) करके जब इसरीति सामान्यविशेष दूषणों का उद्धारकिया, कि सामान्यलक्षण के न घटने से यह हेत्वाभास नहीं है, औरविशेष लक्षणों के न घटने से यह असिद्ध भी नहीं है; तब प्रतिवादी ने अपने अज्ञान आदि निग्रहस्थान हटाने के अर्थ वादी के कहे अर्थ का अनुवाद करके कथन से बिना प्रतीत होने योग्य अज्ञान, अननुभाषण, अप्रतिभा, नामी निग्रहस्थानों की संभावना मात्र भी न होने से, कथन से प्रतीत होने योग्य अप्राप्तकाल, अर्थांतर, निरर्थक, अपार्थक, नामी निग्रहस्थानों के भी न मिलने से, और कहे हुए प्रतीत होने योग्य प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञांतर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वंतर, अविज्ञातार्थ, विक्षेप, मतानुज्ञा, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धांत, नामी निग्रहस्थानों केभी नमिलने से, और पर्य्यनुयोज्योपेक्षण तो मध्यस्थ का ही प्रकाश्य होने से प्रतिवादी के कथन के योग्य नहोनेसे संभव दोष के हेत्वाभासों से ही वादी के मत

का खंडन करके अपना मत सिद्ध करना है, तब तीसरी कोटि मे वादीने भी प्रतिवादी के पदार्थों का अनुवाद करके और अपने मतमें दिये दूषणों का उद्धार करके हेत्वाभास से अतिरिक्त उक्त संपूर्ण निग्रहस्थानों के नमिलने से हेत्वाभासों से ही प्रतिवादी के मत का खंडन करना है; नहीं तो क्रम त्यागने से अप्राप्तकाल, अनवसर में दोष देने से निरनुयोज्यानुयोगनिग्रहस्थान दोष लगेगा; जैसे कथित हेतु के त्याग से प्रतिज्ञा हानि, अन्य विशेषण देने से हेत्वंतर दोष लगता है; प्रतिज्ञाहानि आदि की नांई हेत्वाभास भी उक्तग्राहों में आसकते हैं; तोभी अर्थदोष होने से गौणजानकर हेत्वाभासों को सब से पीछे लिखा है; ४३ ॥ ❁ ॥

सप्रतिपक्षस्थापनाहीनोवितण्डा ४४

क्रम से प्राप्त वितंडा का लक्षण करते हैं, जीतने की इच्छा से प्रवृत्त हुई जिस कथा के दो पक्षों में से प्रतिपक्ष (कोई एक पक्ष) स्थापना से हीन हो; अर्थात् किसी शास्त्र से भी सिद्ध न होसके, केवल मन की कल्पनाही हो; उस (जल्प) को वितंडा कहते हैं। यद्यपि इस सूत्र में पढ़े स शब्द से जल्प को नहीं ले सकते, क्योंकि जल्प में दोनों पक्ष शास्त्रों की संमतियों से प्रवृत्त होते हैं; तोभी जल्पका एकदेश (जीतने की इच्छा से प्रवृत्त कथा) स शब्द से लेना। इस में यह आशंका है, जिस पक्ष में किसी शास्त्र की संमति नहीं है; उस पक्ष को सिद्धकरना असंभव है, पुनः यह कथा (वितंडा) कैसे प्रवृत्त होगी; इसका उत्तर यह है, अन्य पक्ष का खंडन करना ही अपने पक्षकी सिद्धि और जय

जिन्हों ने मानी है; ऐसे विवेक हीन मूर्ख मनुष्य ही इस कथा में प्रवृत्त होते हैं; वेही इस कथा के अधिकारी भी हैं, इसी से यह कथा (वितंडा) अधम गिनी गई है ४४ ॥ ∴ ॥

कथाओं के विशेष विभाग और लक्षणों का ८ वां. प्रकरण समाप्त हुआ० ॥ ∴ ॥

सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमातीतकालाहेत्वाभासाः ४५

क्रम से प्राप्त हेत्वाभासों (दुष्टहेतुओं) के लक्षण और विभाग करते हैं; यथा सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, और अतीतकाल, येपांच हेत्वाभास (दुष्टहेतु) हैं; इस सूत्र में ("हेतुवदाभासन्ते" इस व्युत्पत्ति से हेतु (प्रमाणहेतु) की नाईं प्रतीत होने वाला) यह अर्थ हेत्वाभास शब्द से ही स्पष्ट प्रतीत होता है; जो कि हेत्वाभासों का उत्तम लक्षण है, इस से सूत्र में लक्षण के न कथन की न्यूनता नहीं जाननी; परंतु पक्षसत्व (पक्षमें रहना) सपक्षसत्व (सपक्षमें रहना) विपक्षासत्व (विपक्षमेंनहींरहना) अबाधितत्व (पक्षमेंसाध्याभावकानिश्चयनहींहोना,) असत्प्रतिपक्षितत्व (साध्याभाव के साधक प्रतिपक्षीहेतुकानहोना,) ये पांचो धर्म जिस में रहें; उसे सद्धेतु (प्रमाणहेतु) कहते हैं; और उक्त व्युत्पत्ति में वत् प्रत्यय का अर्थ (उस से भिन्न औरउसकेसदृश) है; तो लक्षण यह हुआ, कि पक्षसत्व आदि पांचो धर्म जिसमें नरहें, और जो सद्धेतु की नाईं प्रतीत हों; उसे हेत्वाभास (दुष्टहेतु) कहते हैं, क्योंकि पक्षसत्व, सपक्षसत्व, विपक्षासत्व, इन तीनधर्मों से सद्धेतु में अव्यभिचरितसामानाधिकरण्य (व्याप्ति) जनाया है; इसलिये दुष्टहेतु में इन तीनों के अभाव से व्याप्ति का अभाव (व्यभिचार) जनाया है; जिस (व्यभिचार) का निश्चय व्याप्तिज्ञान का प्रतिबंधक होता है; इसीभांति अबाधितत्व, असत्प्रतिपक्षितत्व, इन दो धर्मों से सद्धेतु में अनुमिति की प्रतिबंधकता का अभाव जनाया है; तो दुष्टहेतु में इन दोनों के अभाव से अनुमिति की

प्रतिबंधकता प्रतीत हुई; अर्थात् इन पांचों के अभाव से लक्षण यह प्रतीत हुआ, कि अनुमिति अथवा अनुमिति के कारण (व्याप्तिज्ञान) के प्रतिबंधक यथार्थज्ञान का विषय हेत्वाभास (दुष्टहेतु) होता है; यद्यपि इस अर्थ के निकासने में बहुत क्लेश प्रतीत होता है, तो भी हेत्वाभासों का लक्षण करने में और कोई सहज उपाय न मिलने से यह क्लेश भी अच्छा जाना जाता है; क्योंकि हेत्वाभास के लक्षण में यदि उक्त पांच धर्मों के अभाव का ही निवेश करें; तो जिन अनुमानों में उक्त पांचधर्म ही नहीं बन सकते, वहां उनका अभाव किस भांति कह सकेंगे; क्योंकि अभाव प्रसिद्ध वस्तु का ही हो सकता है; अप्रसिद्ध वस्तुओं (आकाशपुष्प, कूर्मरोमादि) का अभाव भी कभी नहीं कहा जाता; और यदि कहें, कि सद्धेतु में प्रसिद्ध उक्त पांचरूपों का अभाव दुष्टहेतुओं में रखलेवेंगे; तो यह दोष जानना; कि एक सद्धेतु के पांच धर्मों का अभाव दूसरे सद्धेतु में रह जावेगा; अर्थात् दुष्टहेतुओं का लक्षण सब सद्धेतुओं में जाने से अतिव्याप्ति दोष लगेगा; उक्त पांच धर्म जहां नहीं बनसकते, वे स्थल ये हैं; पृथिवी जिस से गंधवाली है, इसीसे जल आदि सब पदार्थों से भिन्न है; इस अनुमान में सारी पृथिवी को पक्ष बनाने से और पृथिवी से इतर किसी एक पदार्थ में भी गंध हेतु के न रहने से सपक्ष अप्रसिद्ध है; अर्थात् सपक्षसत्व ही अप्रसिद्ध है; इसीभांति घटप्रमेय है, जिससे घट आकाश है; इस दुष्ट अनुमान में विपक्ष अप्रसिद्ध है, क्योंकि प्रमेयत्व साध्य सारे जगत में रहता है; अर्थात् इस अनुमान में विपक्षासत्व अ-

प्रसिद्ध हुआ । और उक्त पांचधर्मों में से लाघव के अर्थ इसी एकके अभाव का निवेश लक्षण में करें, इस का विनगमक (निर्द्धारण करनेवालाहेतु) कोई दृढ़ नहीं मिलता; इसीसे पांचों के अभाव का निवेश किया है; सिद्धांत में इन पांचों के अभाव से अनुमिति और अनुमिति के करण (व्याप्तिज्ञान) की प्रतिबंधकता का निवेश करना ही अभीष्ट है; जो कि हेत्वाभासोंके उक्तसामान्यलक्षण में कह दिया है; इनहेत्वाभासों का अधिक विस्तार गदाधरी आदि ग्रंथों में है; सूत्रों में तो संक्षेप से ही वर्णनकिया है ४५ ॥ ॥

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ४६ ॥

सव्यभिचार का लक्षण कहते हैं, यथा अनैकांतिक को सव्यभिचार कहते हैं; एक (साध्य अथवासाध्याभाव) का अंत (नियम से इकट्ठे रहना) अर्थात् व्याप्ति का ग्रहण करानेवाला सहचार (नियमसे इकट्ठेरहना) जिस में रहे, उसे ऐकांतिक कहतेहैं; इस (ऐकांतिक) से भिन्न अनैकांतिक (सव्यभिचार) होता है; तो लक्षण यहहुआ, कि साध्य अथवा साध्याभाव के साथ जो हेतु नियम से इकट्ठा न रहे, उसे सव्यभिचार कहते हैं; यह सव्यभिचार तीन प्रकारका है, यथा साधारण असाधारण, और अनुपसंहारी, इन तीनों में से जो हेतु साध्य के अधिकरण में भी रहे, और साध्य से शून्य देश में भी रहे उसे साधारण कहते हैं; यथा शब्द नित्य है, जिस से शब्द में स्पर्श नहीं रहता; इस अनुमान में नित्यत्वसाध्यके अधिकरण आकाश आदि में हेतु (स्पर्श का अभाव) है; और नित्यत्व साध्य से शून्य अनित्य रूप आदि पदार्थों में भी हेतु

(स्पर्शाभाव) रहता है; इससे यह स्पर्शाभाव हेतु साधारण अनैकांतिक है; इसी को नैयायिकलोग समानाधिकरण भिचारी भी कहते हैं इस में यह आशंका करते हैं, कि जो हेतु साध्य से शून्य देश में रहे, उसी का नाम विरुद्ध भी है; अर्थात् साधारण का लक्षण विरुद्ध में जाने से अतिव्याप्तिदोष लगा; इसका उत्तर यह है, कि साधारण तो व्याप्तिज्ञान का साक्षात् प्रतिबंधक होता है, और विरुद्ध साध्याभाव की अनुमिति करादेने से साध्य की अनुमिति का प्रतिबंधक हो जाता है; इन दूषकताबीजों (प्रतिबंधकताओं) के भेद से एक हेतु में दोदोषों के आने से भी कोई संकर (दोष) नहीं जानना। जो हेतु सपक्ष (निश्चय से साध्यवाले) में न रहे, और विपक्ष (निश्चय से साध्यशून्य) में भी न रहे, उसे असाधारण अनैकांतिक कहते हैं; यथा शब्द नित्य है, जिससे शब्द आकाश है, इस अनुमान का आकाश हेतु सपक्ष (निश्चय से नित्य परमाणु आदि) में भी नहीं रहता, और विपक्ष (निश्चय से अनित्य घट आदि) में भी नहीं रहता; इस से यह असाधारण अनैकांतिक है। जिस अनुमान का पक्षतावच्छेदक (पक्षमें विशेषण) केवलान्वयी (संपूर्णपदार्थों में रहनेवाला) हो, उसे अनुपसंहारी कहते हैं, यथा सबपदार्थ नित्य हैं, जिससे प्रमेय हैं; इस अनुमान में पक्ष का विशेषण सर्वत्व है, जो कि सारे जगत में रह सकता है; इससे यहां प्रमेयत्वहेतु अनुपसंहारी अनैकांतिक है और नवीन लोग असाधारण, अनुपसंहारी का यूं वर्णन करते हैं; कि जो हेतु साध्य के अधिकरण में न रहे, उसे असाधारण

प्रसिद्ध हुआ। और उक्त पांचधर्मों में से लाघव के अर्थ इसी एकके अभाव का निवेश लक्षण में करें, इस का विनगमक (निर्धारण करनेवाला हेतु) कोई दृढ़ नहीं मिलता; इसीसे पांचों के अभाव का निवेश किया है; सिद्धांत में इन पांचों के अभाव से अनुमिति और अनुमिति के कारण (व्याप्तिज्ञान) की प्रतिबंधकता का निवेश करना ही अभीष्ट है; जो कि हेत्वाभासों के उक्त सामान्यलक्षण में कह दिया है; इन हेत्वाभासों का अधिक विस्तार गदाधरी आदि ग्रंथों में है; सूत्रों में तो संक्षेप से ही वर्णनकिया है ४५ ॥ ॥

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ४६ ॥

सव्यभिचार का लक्षण करते हैं, यथा अनैकांतिक को सव्यभिचार कहते हैं; एक (साध्य अथवासाध्याभाव) का अंत (नियम से इकट्ठे रहना) अर्थात् व्याप्ति का ग्रहण कराने वाला सहचार (नियमसे इकट्ठे रहना) जिस में रहे, उसे ऐकांतिक कहतेहैं; इस (ऐकांतिक) से भिन्न अनैकांतिक (सव्यभिचार) होता है; तो लक्षण यहहुआ, कि साध्य अथवा साध्याभाव के साथ जो हेतु नियम से इकट्ठा न रहे, उसे सव्यभिचार कहते हैं; यह सव्यभिचार तीन प्रकारका है, यथा साधारण, असाधारण, और अनुपसंहारी, इन तीनों में से जो हेतु साध्य के अधिकरण में भी रहे, और साध्य से शून्य देश में भी रहे उसे साधारण कहते हैं; यथा शब्द नित्य है, जिस से शब्द में स्पर्शनहीं रहता; इस अनुमान में नित्यत्वसाध्यके अधिकरण आकाश आदि में हेतु (स्पर्श का अभाव) है; और नित्यत्व साध्य से शून्य अनित्य रूप आदि पदार्थों में भी हेतु

(स्पर्शाभाव) रहता है; इससे यह स्पर्शाभाव हेतु साधारण अनैकांतिक है; इसी को नैयायिक लोग समानाधिकरण भिचारी भी कहते हैं इस में यह आशंका करते हैं, कि जो हेतु साध्य से शून्य देश में रहे, उसी का नाम विरुद्ध भी है; अर्थात् साधारण का लक्षण विरुद्ध में जाने से अतिव्याप्तिदोष लगा; इसका उत्तर यह है, कि साधारण तो व्याप्तिज्ञान का साक्षात् प्रतिबंधक होता है, और विरुद्ध साध्याभाव की अनुमिति करादेने से साध्य की अनुमिति का प्रतिबंधक हो जाता है; इन दूषकताबीजों (प्रतिबंधकताओं) के भेद से एक हेतु में दोदोषों के आने से भी कोई संकर (दोष) नहीं जानना। जो हेतु सपक्ष (निश्चय से साध्यवाले) में न रहे, और विपक्ष (निश्चय से साध्यशून्य) में भी न रहे, उसे असाधारण अनैकांतिक कहते हैं; यथा शब्द नित्य है, जिससे शब्द आकाश है, इस अनुमान का आकाश हेतु सपक्ष (निश्चय से नित्य परमाणु आदि) में भी नहीं रहता, और विपक्ष (निश्चय से अनित्य घट आदि) में भी नहीं रहता; इस से यह असाधारण अनैकांतिक है। जिस अनुमान का पक्षतावच्छेदक (पक्षमेंविशेषण) केवलान्वयी (संपूर्णपदार्थों में रहनेवाला) हो, उसे अनुपसंहारी कहते हैं, यथा सबपदार्थ नित्य हैं, जिससे प्रमेय हैं; इस अनुमान में पक्ष का विशेषण सर्वत्व है, जो कि सारे जगत में रह सकता है; इससे यहां प्रमेयत्वहेतु अनुपसंहारीअनैकांतिकहै और नवीन लोग असाधारण, अनुपसंहारी का यूं वर्णन करते हैं; कि जो हेतु साध्य के अधिकरण में न रहे, उसे असाधारण

कहते हैं; व्याप्तिज्ञान के कारण साहचर्य (साध्य, हेतु के इकट्ठे रहने) के ज्ञान को न होने देने से यह (असाधारण) व्याप्तिज्ञान का प्रतिबंधक माना है; और जिस हेतु का साध्य केवलान्वयी (सारे जगत में रहने वाला) हो, उसे अनुपसंहारी अनैकांतिक कहते हैं; इस अनुमान में साध्य के सारे जगत में रहने से साध्याभाव की अप्रसिद्धि होने पर व्यतिरेक व्याप्ति (साध्याभाव के व्यापक अभाव का प्रतियोगी हेतु सहेतु है) का ज्ञान कभी नहीं होसकता; अर्थात् यह अनुपसंहारी व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान का प्रतिबंधक होता है, क्योंकि सिद्धांत में केवलान्वयी का लक्षण यह ही है, कि जो विद्यमान अत्यंताभाव का प्रतियोगी न हो; उसे केवलान्वयी कहते हैं; यथा प्रमेयत्व सारे जगत में रहता है, इससे प्रमेयत्व का अभाव कहीं विद्यमान नहीं होसकता किंतु विद्यमान अभाव घटाभाव का प्रतियोगी घट और अप्रतियोगी प्रमेयत्व है; इसी से प्रमेयत्व केवलान्वयी है ४६

सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ४७ ॥

क्रम से प्राप्त विरुद्ध का लक्षण करते हैं, सिद्धांत (सिद्ध पत के अंत में कहने के योग्य साध्य) की सिद्धि के अर्थ कहा हुआ, साध्य का विरोधी (साध्याभाव का व्याप्य) हेतु विरुद्ध होता है; यथा यह ह्रद (तलाव) अग्नि वाला है, जिस से यह जल है; इस अनुमान में साध्याभाव (वह्न्यभाव) का व्याप्य जलत्व हेतु वह्नि की सिद्धि के लिये प्रविष्ट किया है, इस से यह जलत्व हेतु विरुद्ध है; यह विरुद्ध साध्याभाव की अनुमिति का कारण होने से साध्य की अनुमिति

का प्रतिबंधक होता है; इसमें यह आशंका है, कि सत्प्रतिपक्ष भी साध्याभाव की अनुमिति का का कारण है, और यह (विरुद्ध) भी साध्याभाव की अनुमितिका कारण है; अर्थात् विरुद्ध का लक्षण सत्प्रतिपक्ष में जाने से अतिव्याप्ति दोष लगता है; इस का उत्तर यह है, सत्प्रतिपक्ष में साध्य की अनुमिति का कारण हेतु अन्य होता है, और साध्याभाव की अनुमिति कारण हेतु अन्य होता है, अर्थात् सत्प्रतिपक्ष में दो हेतु होते हैं; और विरुद्ध में साध्याभाव की अनुमिति का कारण हेतु ही साध्यकी अनुमिति का कारण बनादिया है; अर्थात् विरुद्ध में एकही हेतु होता है; इस भेद से अतिव्याप्ति नहीं लगती ४७ ॥ ॐ ॥

यस्मात्प्रकरणचिन्तासनिर्णयार्थ
मपदिष्टःप्रकरणसमः ४८ ॥

प्रसंग से प्राप्त प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) का लक्षण कहते हैं, जो हेतु साध्य अथवा साध्याभाव का निश्चय करने के अर्थ कहा जाय, परंतु किसी बलवान विरोधी अन्य हेतु के प्रतिबंध से किसी प्रकार के निश्चय को भी नउत्पन्न कर सके, किंतु यह (पक्ष) साध्यवाला है, अथवा साध्याभाववाला है, इस संदेहको उपजावे; उसे प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) कहते हैं। पक्ष (साध्यवाला) प्रतिपक्ष (साध्याभाववाला) इन दोनों को प्रकरण कहते हैं; यथा वात्स्यायनभाष्य में लिखा है, "प्रकरणंपक्ष प्रतिपक्षौ" कोई यूं भी कहते हैं, कि प्र शब्दका अर्थ उत्कृष्ट है, जो उत्कृष्ट करण (परामर्श अथवा हेतु) यह प्रकरण शब्द का अर्थ हुआ; अर्थात् इन दो पक्ष

मर्शों में से कौनसा परामर्श यथार्थ और कौनसा अयथार्थ है; अथवा इन दो हेतुओं में से कौनसा हेतु अनुमिति को उपजा सकता है, और कौनसा नहीं उपजा सकता; यह चिंता (जिज्ञासा) जिस से प्रकट हो, उसे सत्प्रतिपक्ष कहते हैं; और अवशिष्ट (यस्मात् इत्यादि) तो केवल सत्प्रतिपक्ष के स्वरूप का ही वर्णन है। लक्षण तो सत्प्रतिपक्ष का यह है, तुल्य युक्तिओं से सिद्ध विरोधी (साध्याभाव का साधक) परामर्श के समय में वर्त्तमान परामर्श का विषय सत्प्रतिपक्ष है; अथवा जिस समय अपने साध्य का परामर्श हो, उसी समय में वर्त्तमान विरोधी (साध्याभावका साधक) परामर्श सत्प्रतिपक्ष होता है; यथा यह ह्रद (तलाव) वह्निवाला है, जिससे धूमवाला है; और यह ह्रद वह्न्यभाववाला है, जिससे शैवालवाला है; तुल्ययुक्तिओं से सिद्ध विरोधी परामर्श (यह ह्रद वह्न्यभाव के व्याप्य शैवाल वाला है) के समय में वर्त्तमान परामर्श (यह ह्रद वह्नि के व्याप्य धूमवाला है) का विषय धूम हेतु सत्प्रतिपक्ष दोष से दुष्ट है; अथवा यह ह्रद वह्निव्याप्य धूमवाला है, इस परामर्श के समय में वर्त्तमान विरोधी परामर्श (यह ह्रद वह्न्यभाव के व्याप्य शैवालवाला है) सत्प्रतिपक्ष दोष है; इसी दोष से धूम हेतु दुष्ट है, परंतु यह दोष धूम हेतु में एकज्ञानविषयत्व संबंध से रहता; और यह (सत्प्रतिपक्ष) दोष अनित्य जानना, अर्थात् किसी समय लगता है, और किसी समय नहीं लगता; इसी से विरोधी (साध्याभावके साधक) परामर्श के समय सद्धेतु भी दुष्ट होजाता है; परंतु सिद्धांत यह जानना, कि सद्धेतु में सत्प्रतिपक्ष

के भ्रम से अनुमिति का प्रतिबंध ही होताहै; हेतु दुष्ट नहीं होता

साध्याविशिष्टस्साध्यत्वात्साध्यसमः ४९ ॥ ४८ ॥

क्रम से प्राप्त साध्यसम का लक्षण करते हैं, साध्य की नांई जिस हेतु की भी (किसी युक्ति के द्वारा अथवा किसी अन्य हेतु के द्वारा) सिद्धि करनी पड़े, उस हेतु को साध्यसम कहतेहैं; इसी निमित्त से ऐसे हेतु को असिद्ध भी कहते हैं; यह असिद्ध तीन प्रकार काहै, यथा आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, व्याप्यत्वासिद्ध, इस भेद से; इन तीनों में से पक्ष में पक्षतावच्छेदक (पक्ष के विशेषण) का अभाव (नहोना) आश्रयासिद्धि दोष है, इसी दोष से हेतु आश्रयासिद्ध कहाता है; यथा इस स्वर्ण के पर्वत में अग्नि है, जिस से इस में धूम है; इस अनुमान के पक्ष पर्वत में पक्षतावच्छेद स्वर्णत्व का अभाव ही आश्रयासिद्धि है, और इसी दोष से यह धूम हेतु आश्रयासिद्ध है; पक्ष में हेतु का अभाव स्वरूपासिद्धि है, इसी दोष से हेतु स्वरूपासिद्ध कहाता है; यथा यह ह्रद द्रव्य है, जिस से इस में धूम है; इस अनुमान के पक्ष ह्रद में धूम हेतु का अभाव ही स्वरूपासिद्धि है, इसी दोष से यह धूम हेतु स्वरूपासिद्ध है; और नियम से इकट्ठे रहने (व्याप्ति) का अभाव व्याप्यत्वासिद्धि कहाता है, इस सूत्र में यह आशंका है, कि अक्षरों के अर्थ से तो केवल स्वरूपासिद्धि का नाम ही साध्यसम प्रतीत होताहै; तो आश्रयासिद्ध, व्याप्यत्वासिद्ध को किसरीति साध्यसम कहते हो, इस का उत्तर यह है, कि साध्यसम के लक्षण में हेतु पद का निवेश करते हैं; जिस हेतु का अर्थ व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्ट हेतु है; अथवा लक्षण में व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्म का ही निवेश कर देना, अर्थात् लक्षण यह करना, कि साध्य की नांई जिस (व्याप्तिपक्ष-

धर्मताविशिष्ट हेतु, अथवा व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्म) की भी सिद्धि करनी पड़े, उसे साध्यसम अथवा असिद्ध कहते हैं; परंतु पक्ष, हेतु, व्याप्ति, इन तीनोंमें से कोई एक भी जहां साध्य की नाईं सिद्ध करना पड़ेगा, वहां उक्त लक्षण के घट जाने से साध्यसम व्यवहार होगा; इसलिये लक्षण से ही आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, और व्याप्यत्वासिद्ध, ये तीनों निकस आते हैं, अर्थात् किसी के सब अंश और किसी के कुछ अंश सिद्ध कर ने पड़ते हैं; इसी से साध्य में साध्यतावच्छेदक (साध्यके विशेषण) का अभाव, और हेतु में हेतुतावच्छेदक (हेतुके विशेषण) का अभाव भी व्याप्यत्वासिद्धि कहाता है; जैसे पक्ष में पक्षतावच्छेदक (पक्षके विशेषण) का अभाव, पक्षमें पक्षतावच्छेदक (पक्षके विशेषण) वाले का भेद, पक्ष में अवृत्ति पक्षतावच्छेदक इत्यादि सब आश्रयासिद्धि कहाते हैं; और पक्ष में हेतु का अभाव, पक्ष में हेतुवाले का भेद, पक्ष में अवृत्ति हेतु इत्यादि सब स्वरूपासिद्धि कहाते हैं; इसी भांति साध्यमें साध्यतावच्छेदक का अभाव, हेतु में हेतुतावच्छेदक का अभाव, इत्यादि सब व्याप्यत्वासिद्धि कहाते हैं; कोई ग्रंथकार व्याप्यत्वासिद्धि का उदाहरण यह दिखाते हैं; कि इस पर्वत में अग्नि है, जिस से इस में नीलधूम है; इन का यह अभिप्राय है, कि साध्य की संबंधिता (इकट्ठे रहने) का अवच्छेदक (नियम बांधनेवाला) धर्म व्याप्ति कहाता है, परंतु गुरुधर्म अवच्छेदक कभी नहीं होता, उक्त उदाहरण में धूमत्वकी अपेक्षा नीलधूमत्व गुरु होने से साध्यसंबंधिता का अवच्छेदक नहीं हो सकता तो व्याप्यता (व्याप्ति) की असिद्धि हुई; अर्थात् साध्य-

में साध्यतावच्छेदक के अभाव की नाईं और हेतु में हेतुतावच्छेदक के अभाव की नाईं हेतुतावच्छेदक में साध्यसंबंधिता की अवच्छेदकता का अभाव भी व्याप्यत्वासिद्धि होती है; अर्थात् जिस साध्य की सिद्धि करने के अर्थ व्याप्ति का कोई अंश भी अन्य हेतु देकर सिद्ध करना पड़े, वहां व्याप्ति की असिद्धि ही व्याप्यत्वासिद्धि कहाती है ४९ ॥

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ५० ॥

क्रम से प्राप्त अतीतकाल (बाध) का लक्षण करते हैं; अतीतकाल और कालातीत ये दोनों शब्द एक अर्थ (बाध) को ही जनाते हैं, इस से हेत्वाभासों के सामान्यसूत्र में अतीतकाल और बाध के इस विशेष सूत्र में कालातीत कहा है, तौभी अंतर कोई नहीं जानना; अर्थ इस (कालातीत) शब्द का यह है, काल (साध्य की सिद्धि करने का समय) के अत्यय (न रहने) पर अर्थात् साध्य का संबंध निवृत्त होजाने पर अपदिष्ट (साध्य की सिद्धि के अर्थ प्रयुक्त) हेतु कालातीत (बाध दोष से दुष्ट) कहाता है; इस अर्थ से प्रतीत हुआ, कि पक्ष में साध्याभाव की प्रमा (यथार्थ ज्ञान) बाध होता है, और इस बाध दोष से हेतु बाधित (बाधितसाध्यवाला) कहाता है; क्यों कि साध्याभाव का यथार्थ निश्चय होने पर साध्य की सिद्धि का करना सर्वरीति असंभव के समान है; उदाहरण यथा वह्नि उष्ण (तप्त) नहीं है, जिस से कार्य है; इस अनुमान के पक्ष (वह्नि) में प्रत्यक्ष सेही उष्णत्व (साध्याभाव) का यथार्थ निश्चय होने पर अर्थात् बाधनिश्चय के होने पर किसी युक्ति से भी इस (वह्नि उष्ण नहीं है) अनुमिति को सिद्ध नहीं करसकते ।

इस पर यह आशंका है, जिस अनुमान में बाध दोष लगता है, वहां हेतु यदि पक्ष में रहे, तो व्यभिचार दोष लगता है; और यदि हेतु पक्ष में न रहे, तो स्वरूपासिद्धि दोष लगता है; और इन्हीं (व्यभिचार अथवा स्वरूपासिद्धि) दोषों से ही वह हेतु दुष्ट होजावेगा, पुनः बाधनामी पांचवां हेत्वाभास मानने की क्या अपेक्षा है; इस का उत्तर यह है, कि बाध अनुमिति का प्रतिबंधक होता है, और स्वरूपासिद्धि पक्षधर्मताज्ञान की प्रतिबंधक होती है; इनदूषकताबीजों के भेद से इन का एक दूसरे सेपरिवर्तन नहीं होसकता; और उत्पत्तिक्षण में घट गंधवाला है, जिस से पृथिवी है, ऐसे २ अनुमानों में बाधसे अन्य व्यभिचार अथवा स्वरूपासिद्धि कोई दोष भी नहीं लगता, और यह हेतु हैं दुष्ट, इस में बाधदोष अवश्य मानना योग्य है ५० ॥ ⁂

इति विश्वनाथपंचाननकी बनाई न्यायसूत्रवृत्ति के ६ वें हेत्वाभासों के प्रकरण का पं॰ हरदयालु का बनाया हिंदीभाषा में अनुवाद समाप्त हुआ॰ ६ ॥ ⁂ ⁂ ॥

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याछलम् ५१ ॥

क्रम से प्राप्त छल का लक्षण करते हैं, अर्थ (वक्ता के तात्पर्य के विषय) से विकल्प (विरुद्ध अर्थ) की उपपत्ति (युक्तिओं से सिद्धि) के द्वारा वचन (वक्ता के वाक्य) का विघात (खंडन) छल कहाता है; अर्थात् वक्ता के अभिलषित अर्थ से विरुद्ध अर्थ की कल्पना करके वक्ता के वाक्य का खंडन करना छल है; यह विरुद्ध कल्पना तीन भांति की है, यथा कहीं विशेष्य की कहीं विशेषण की और कहीं संबंध की इन प्रत्येक के उदाहरण यथा किसी ने संस्कृत में अनुमान किया, 'नेपालादागतोऽयं नवकंबलवत्त्वात्' अर्थात् यह नेपाल से आया है, जिस से इस के पास नव (नया) कंबल है; किसी ने इस का खंडन किया, कि तुमारा कथन असंगत है, क्योंकि इस के पास नव (नौ) कंबल नहीं हैं; किंतु इस अनुमान में स्वरूपासिद्धि दोष है। यह प्रमेय है, जिस से धर्म (कहीं वर्त्तमान) है; इस का खंडन करना, यह असंगत है, क्योंकि घट आदि पदार्थ धर्म (पुण्य) नहीं हैं; किंतु पृथिवी है, अर्थात् पक्ष के बहुत अंशों में स्वरूपासिद्धि दोष लगने से यह अनुमान दुष्ट है। पर्वत में अग्नि है, जिस से इस में धूम है; इसका खंडन करना कि धूम तो अपने अवयवों में है, और अग्नि वहां नहीं है; अर्थात् व्यभिचार दोष से यह अनुमान दुष्ट है। इन तीनों उदाहरणों में क्रम से विशेष्य, विशेषण और संबंध की विरुद्ध कल्पना दिखाई है ५१ ॥ ⁘ ॥

तत्त्रिविधंवाक्छलंसामान्यच्छलमुपचारच्छलञ्चेति ५२

छल का सामान्य लक्षण करके विशेषविभाग और लक्षण करते हैं; यह छल तीन प्रकार का है, (१) वाक्छल, (२) सामान्यछल, (३) उपचारछल, इस भेद से ५२ ॥

अविशेषाभिहितेऽर्थेवक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पनावाक्छलम् ५३ ॥

इन तीनों मेंसे वाक्छल का लक्षण करते हैं, वक्ता के कहे हुए जिस शब्द के अभिधा शक्तिसे दो अथवा तीन अर्थ होसकें, और वक्ता ने वही शब्द किसी एक अर्थ के अभिप्राय से कहदिया हो, परंतु इस का यही अर्थ मुझे अपेक्षित है, इस के निश्चय कराने वाला हेतु कोई भी न दिया हो; वहां अभिधा(प्रधान) शक्ति के द्वारा ही वक्ताके अभिलषित अर्थ से अन्य अर्थकी कल्पना करके दोष देना, वाकछल कहाता है; यथा यह पुरुष नेपाल से आया है; जिस से इस के पास नव (नया) कंबल है; इस अनुमान में जो नव शब्द है, अभिधाशक्ति सेही इस के दो अर्थ हैं, नया (नवीन) और नौ ९ संख्या, परंतु वक्ता ने विशेष (यही) अर्थलेने का हेतु तो कोई नहीं दिया, किंतु नवीन अर्थ के अभिप्राय से नव शब्ददिया है; इसका अभिधाशक्ति के द्वारा ही नौ संख्या की कल्पना से स्वरूपासिद्धि दोष देकर खंडन करना, वाकछल है । ऐसे २ और भीवाकछल के उदाहरण इसी भांति जान लेने. विस्तारकेभयसे नहीं लिखे ५३ ॥ ॥

सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पनासामान्यच्छलम् ५४ ॥

क्रम से प्राप्त सामान्यछल का लक्षण करते हैं, सामान्यरूप से प्रायशः देखे पदार्थ का अभिप्राय लेकर कहे वाक्य का बड़े अन्वेषण (ढूंढने) से किसी एक स्थान में व्यभिचार दे के खंडन करना, सामान्यछल कहाता है; यथा किसी ने अनुमान किया, यह मनुष्य विद्वान है, जिस से यह ब्राह्मण है; इस (अनुमानकरनेवाले) का यह अभिप्रायहै प्रायशः ब्राह्मण विद्वान होते हैं; तो यहभी ब्राह्मण है, इससे विद्वान होगा; इस अनुमान का खंडन यूं करना, कि ब्राह्मण तो कल्ह का दूध पीनेवाला बालक भी है, वह, कहां विद्वान है; अर्थात् इस व्यभिचार दोष से तुमारा अनुमान दुष्ट है; इस बहुत अन्वेषण से किसी एक स्थान में दोष देकर खंडन करने को सामान्यछल कहते हैं; इसी भांति और भी सामान्यछल के उदाहरण बहुत जानलेने; केवल ग्रंथ के विस्तार से भय कर के एकही उदाहरण लिखा है, और नहीं लिखे ५४ ॥ ⁂ ⁂ ॥ ⁂

धर्म्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेधउपचारच्छलम् ५५ ॥

क्रम से प्राप्त उपचार छल का लक्षण करते हैं, अर्थ के साथ शब्द के संबंध (शक्ति अथवा लक्षणा) को धर्म कहते हैं; और धर्म के विकल्प (विरुद्धकल्पना) का निर्देश (कथन) करनेपर अर्थ (वक्ताकेकहे) का प्रतिषेध (खंडन) उपचारछल कहाता है; अर्थात् शक्ति और लक्षणा इन दोनों में से कि

सी एक संबंध के अभिप्राय से कहे वाक्यका दूसरे संबंध को लेकरखंडन करना, उपचारछल है; यथा किसी ने लक्षणाशक्ति के द्वारा कहा, मंच (मंचोंपरबैठेमनुष्य) बोलते हैं; इस वाक्य का शक्ति (अभिधा) केद्वारा खंडन करना, कि मंच जड़ भी कहीं बोल सकते हैं; इसी भांति लक्षणाशक्ति से किसी ने कहा, कि घट नील (नीलरूपवाला) है, इस का अभिधाशक्ति से खंडन करना; कि घट (द्रव्य) कभी नील (रूपगुण) होसकता है; ऐसे ही अभिधाशक्ति से किसीने कहा, मैं (जीवात्मा) नित्य हूं, इस का लक्षणा से खंडन करना, कि अमुक से उपजा हुआ तू (तेराशरीर) कहां नित्य है; परंतु छल से केवल अपने पक्ष की ही हानिहोती है, शत्रु के पक्ष में कुछ न्यूनता नहीं आती; इस से छल असत् (दुष्ट) उत्तर है इस पर बहुत लोग यह भी आशंका करते हैं, कि यह छल का उत्तर वहां ही बन सकता है; जहां वादी श्लिष्ट (जिस के दो अर्थ हो सकें) अथवा लाक्षणिक (लक्षणाशक्ति से जो दूसरे अर्थ को जनासके) पदका प्रयोग (कथन) करे; अर्थात् वहां वक्ता का ही दोष है, जिसने ऐसा शब्द कहा, कि जो दो अर्थों के जनाने से संदेह करादे; तो उत्तर देने वाले का कोई दोषनहीं है, पुनः छल को दुष्ट उत्तर क्यों कर कहते हैं; इस का उत्तर यह है, कि दोनों अर्थों के जनाने में समर्थ शब्द का उन (दोअर्थों) में से किसी एक अर्थ के तात्पर्य से कहने पर वक्ताका कोई अपराध नहीं है; किंतु वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध दूसरे अर्थ की कल्पना करके खंडन करने से प्रतिवादी का ही दोष होने से छल असत् (दुष्ट) उत्तरहोहै; क्योंकि यदि ऐसे खंडन

प्रमाण होने लगें, तो जब किसी ने संस्कृत में कहा, कि 'पर्वतोवह्निमान्' इस का खंडन यह प्रकार अपनी ओर से निकाल के को ना हो जावे; कि पर्वतों में मनुष्यों के रहने से अग्नि प्रत्यक्ष से ही देखने में आता है, पुनः तुम कैसे कहते हो, पर्वत अवह्निमान (वह्निवाला नहीं) है; अर्थात् इसीभांति सब अनुमानों में कुछ अपनी ओर से कल्पना करके खंडन करदेंगे, जगत से अनुमान नामी प्रमाण ही उठ जावेगा, इस से निश्चित हुआ, कि छल दुष्ट उत्तर है ५५ ॥ ⁂ ⁂ ॥

वाक्छलमेवोपचारच्छलंतदविशेषात् ५६

प्रसंग संगति से छलकी परीक्षा करने के अर्थ पहिले पूर्वपक्ष (आशंका) करते हैं; शब्द के विरुद्ध अर्थ की कल्पना दोनों में अविशेष (एकसी होने) से वाक्छल और उपचारछल एक ही हैं; अर्थात् छल दो ही हैं, तीननहीं हैं; ५६ ॥ ⁂

नतदर्थान्तरभावात् ५७ ॥

उत्तर यह है, अनेक प्रमाणों से वाक्छल और उपचारछलका परस्पर भेदसिद्ध करने पर भी किसी साधारण धर्म से अभेद मानने लगें, तो जगत् के सब पदार्थों को एक ही मानना योग्य है, क्योंकि वाच्यत्व आदि साधारण धर्मों से सब का अभेद सिद्ध होसकता है; ५७ ॥ ⁂ ⁂ ॥

अविशेषेवाकिञ्चित्साधर्म्यादेकछलप्रसङ्गः ५८

यदि किसी साधारण धर्म से अभेद मानके भी दो छलमानने का ही हठ करो तो छलत्व धर्म से अभेद मानके एक ही छल कहो, दो मानने की क्या अपेक्षा है; सिद्धान्त यह जानना, कि वाक्छल में जिस (अभिधा) शक्तिको लेकर-

वक्ता प्रयोग करे, छल वादी उसी शक्ति से अन्य (विरुद्ध) अर्थकी कल्पना करके दोष देते हैं; और उपचारछलमें वक्ता जिस शक्ति से प्रयोग करे, उससेसविरुद्ध शक्ति के द्वारा अन्यअर्थ की कल्पनासे दोष देते हैं; इसी अंतर से वाक्छल और उपचारछल पृथक २ हैं; एकनहीं हैं, अर्थात् छलतीन हीहैं, दोनहीं हैं ५८ ॥ ❖ ॥

इतिविश्वनाथपंचाननकीबनाईन्यायसूत्रवृत्तिके १० वें छल प्रकरणका पं· सुखदयालका बनायाहिंदीमें अनुवाद समाप्तहुआ ॥ ❖ ॥

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यांप्रत्यवस्थानंजातिः ५९ ॥

क्रम से प्राप्त जातिनामी असत् उत्तरका वर्णन करते हैं, साधर्म्य और वैधर्म्य का सावधारण (और सब की अपेक्षात्याग के स्वतंत्र) रूप से निवेश किया है; तो यह अर्थ प्रतीत हुआ, कि व्याप्ति आदि सब नियमों की अपेक्षा त्याग के केवल साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से दूषण देना, जाति कहलाता है; साधर्म्य और वैधर्म्य इन दोनों से दोष देना जाति कहैं, तो केवल साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से दोष देने को जाति न कहो, और यदि केवल साधर्म्य से दोष देने को जाति कहैं, तो केवल वैधर्म्य से दोषदेने को जाति न कहो; इसीरीति केवल वैधर्म्य से दोषदेने को ही जाति कहैं, तो केवलसाधर्म्य से दोषदेने में अव्याप्ति दोष लगेगा; किंतु यही सिद्धांत जानना, कि व्याप्ति की अपेक्षा त्याग के केवल साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से दोष देना ही जाति है; इस विचार से यह जानना, कि यह जाति (दुष्टउत्तर) दूसरे पक्ष की हानि कुछ नहीं कर सकती वरन् अपने पक्ष की हानि करती है; अर्थात् छल और निग्रहस्थानसे अन्य दूसरे पक्ष में दोष देने को असमर्थ, अपने पक्ष का खंडन करने में समर्थ दुष्टउत्तर जाति होता है; यह जाति साधर्म्यसम आदि के भेद से चौबीसप्रकार की आगे पांचवें अध्याय में दिखाई जावेगी ५९ ❖ ❖ ❖ ॥

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्चनिग्रहस्थानम् ६० ॥

क्रम से प्राप्त निग्रहस्थान का लक्षण करते हैं, विप्रतिपत्ति (किसी के कहे का विरुद्ध रीति से जानना) और अप्रतिपत्ति

(कहे पर भी कुछ नहीं जानना) इन दोनों को निग्रहस्थान (पराजय का स्थान) कहते हैं; इस पर यह आशंका है, कि अन्यपुरुष के विरुद्धज्ञान, और अज्ञान का प्रत्यक्ष से जानना सर्वथा असंभव के तुल्य है; और प्रतिज्ञाहानि आदि विरुद्धज्ञान भी नहीं और अज्ञान भी नहीं, इस से ये निग्रहस्थानों के अंतर्गत न होवें; तौभी विरुद्धज्ञान, और अज्ञान के बोधक धर्म जिनमें रहें, उन्हें निग्रहस्थान कहते हैं; यह निग्रहस्थान प्रतिज्ञाहानि आदि के भेद से बाईस प्रकार का है ६० ॥

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ६१ ॥

जाति और निग्रहस्थानों के अवान्तर भेद नहीं हैं, इस भ्रम को दूर करने के अर्थ कहा है; कि साधर्म्य आदि से बहुत दोष देसकते हैं, और विरुद्धज्ञान वा अज्ञान के बोधक धर्म भी बहुत हैं; इस से जाति और निग्रहस्थान भी बहुत हैं जानने; परंतु प्रमाण आदि पदार्थों की परीक्षा जानने के अर्थ अपनी इच्छा को जब शिष्यों ने प्रगट किया, तो इसी रोक से यहां जाति और निग्रहस्थानों के विशेष विभाग यहां नहीं दिखाए ६१ ॥ जाति और निग्रहस्थान नामी हेतुदोषों के लक्षणों का ९ वां प्रकरण समाप्त हुआ । पहिले अध्याय का दूसरा आह्निक समाप्त हुआ २ ॥ इतिश्रीविश्वनाथभट्टाचार्य्यकी न्यायसूत्रवृत्ति के १ ले अध्याय का हिंदीमें अनुवाद समाप्त हुआ ॥ ⁘ ⁘ ॥

द्वितीअध्याय· अवतरणिका

विवादों में भलीभांति परीक्षा करके देखे हुए प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द नामी चारभुजाओं से प्रकाशमान सब दोषों के हरने से हरि (विश्वस्वरूप) दूसरे अध्याय की सेवा (आरंभ) करता हूं १ प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के लक्षण तो प्रथम अध्याय में कह दिये हैं, परंतु अब इन प्रत्येककी परीक्षा (इसका यह लक्षण हो-सकता है, वा नहीं यह विचार) करने के समय संशय पदार्थ का सिद्धांत जानने से विना किसी पदार्थ की भी परीक्षा नहीं हो सकती, इस से आदिमें संशय की परीक्षा करते हैं; प्रमाण आदि प्रत्येक-पदार्थ की परीक्षा में संशय का निरूपण करने की अपेक्षा से आदि में संशय की परीक्षा करने में बहुत लाघव जान के संशय की परीक्षा का जिनमें प्रयोजन पड़े (शिष्यों की जिज्ञासा के अनुसार) ऐसी प्रमाण आदि पदार्थों की परीक्षा ही दूसरे अध्याय का प्रयोजन है; वास्तव सिद्धांत यह जानना, कि पहिले अध्याय के अंत में छल की परीक्षा हो चुकी है, और तीसरे चौथे अध्याय में प्रमेय की और पांचवें अध्याय में जाति की परीक्षा करेंगे; इसलिये छल, प्रमेय. जाति से इतर सबपदार्थों की परीक्षा इस दूसरे अध्याय का प्रयोजन है; इन्हीं पदार्थों की परीक्षा में प्रयोजन आदि पदार्थों की परीक्षा का प्रकार भी दिखाया जावेगा ॥ और इस (द्वितीय अध्याय के प्रथम आह्निक में विशेष विभाग जानने से अनंतर होने योग्य प्रमाणों की (न्यूनअधिक

संशयका विचार) परीक्षा से भिन्न अंगों सहित प्रमाण पदार्थ की परीक्षा कीई जावेगी; इस आह्निक में नौ प्रकरण हैं, इन नवों मे से आदि में संशय पदार्थ की परीक्षा का प्रकरण है; इसप्रकरण में सात सूत्र हैं, और आगे जो २ आवेंगे उनके नाम वहां ही दिखा दिये जायेंगे; इस अवतरणिका से सिद्धहुआ, सब से आदि में कहे प्रमाण पदार्थ की परीक्षा को त्याग के तीसरे संशय पदार्थ की परीक्षा करनेसे व्युत्क्रम दोष यदि कोई देवे, तो असत्य जानना, क्यों कि परीक्षा के द्वारा संशय पदार्थ के जानने बिना किसी पदार्थ कीभी परीक्षा नहीं हो सकती; इस से निरूपण सूत्र में यद्यपि संशय तीसरा है; परंतु परीक्षा के अध्याय में सब पदार्थों से प्रथम संशय की परीक्षा करके पुनः क्रम से प्रमाण आदिकी परीक्षा करेंगे; यह (दूसरे अध्यायकी) अवतरणिकाहै ॥

समानानेकधर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद्वानसंशयः १ ॥

साधारण (दोनों कोटिओं में वर्तमान) धर्म के ज्ञान से संशय नहीं कह सकते, क्यों कि विरुद्ध (दो कोटिओं में से केवल एकमें रहे) धर्म के ज्ञान से संशय न होवे, और यदि विरुद्ध धर्म के ज्ञान सेही संशय मानों, तो केवल साधारणधर्म के ज्ञान से संशय नहोवे; और यदि ऐसा कहो कि साधारण धर्म के ज्ञान से अथवा विरुद्ध धर्मके ज्ञान से संशय होता है; तो स्थाणु (लकड़ी का खुम्भा) के

धर्म की नाईं धर्म इस में है; यह जान के ऐसा संदेह होजावे, कि यहस्थाणु है वानहीं, क्योंकि ऊपर कहे दोनोंमें से साधारणधर्मका ज्ञान रह गया; और ऐसे स्थल में संशय होता कभीनहीं, क्योंकि तुल्य उसे कहते हैं, जो उससे भिन्न और उसके धर्मवाला होवे; तो उक्त उदाहरण में तुल्य पद का निवेश होने से भेदका ही निश्चय हो जावेगा, अर्थात् एककोटिका निश्चय होने से संशय का होनाही असंभव है; अथवा समानानेकधर्मोपपत्तेः इत्यादिलक्षणसूत्र में उपपत्तिपदका अर्थ स्वरूपहै यह किसीका भ्रम है, अर्थात् साधारण धर्म वा विरुद्धधर्म स्वरूप से वर्तमान होके कारण नहीं हो सकते, क्योंकि प्रमेयत्व आदि साधारण धर्म के रहने से सबस्थानों में संशय ही होता जावे, किंतु साधारण धर्म आदि कोंके ज्ञान ही कारण मानने पड़ेंगे इस पर कोईलोग यह आशंका करते हैं, कि संशय की परीक्षा में सूत्रकार ने संशय नहीं दिखाया: तो प्रतीत हुआ, कि अनवस्थाके भयसे संशय की परीक्षा में संशय नहीं अंग है; परंतु यह बात असत्य जाननी, क्योंकि यहां हम संशय के स्वरूप की परीक्षा (यह संशय है, वानहीं) नहीं करते कि अनवस्था दोष लगे, किंतु यहां हम लक्षणसूत्र में कहे (संशयके) कारणों की परीक्षा करते हैं, इस में साधारण धर्म आदिके ज्ञान संशयके कारण हैं, अथवा नहीं, यह संशय उत्पन्न हो ही जावेगा; परंतु सूत्रकार (गौतम) को ज्ञान केवल से प्रथम ही निश्चय होरहा है, केवल अन्य पुरुषों की आशंका को दूर करना ही

अपेक्षित है; इस से संशय नहीं दिखाया। इसी भांति प्रमाण आदि पदार्थों की परीक्षा में भी ग्रंथकार संशय को नहीं भी दिखावेंगे; तो अपनी ओर से संशय की कल्पना करलेनी; जैसा कि वात्स्यायन भाष्य में लिखा है, "शास्त्रेवादेचविमर्षवर्ज्जं" अर्थात् शास्त्र में और वादनामी उत्तम कथा में विमर्ष(संशय) से विना ही पदार्थों का निश्चय होता है; और यह भी जानना, कि अनवस्था दोष तभी लगता, यदि घटकी परीक्षा में घटका संशय ही अंग माना जावे, और यदि एक पदार्थ की परीक्षा में अन्य पदार्थ का संशय अंग मान लें, तो कोई दोषनहीं आता; किंतु जल्प और वितंडा में पदार्थ का निश्चय करने के अर्थ संशय की अपेक्षा अवश्य पड़ती है; जैसा सूत्रकार ने लिखा है, विमृश्यपक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः १ ॥ ❖ ❖ ❖

विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च २

विप्रतिपत्ति, सामान्यसंशय, असामान्यसंशय, इन तीनों से संशय की उत्पत्ति पर आक्षेप इस सूत्र से किया है; इन तीनों को यदि संशय के कारण मानों तो इनमें से प्रत्येक से संशय न होवे, और यदि किसी एक को कारण मानों, तो दूसरे से संशय न होवे, अथवा कोई इस सूत्रका यह अर्थ करते हैं; कि विप्रतिपत्ति आदि तीनों का ज्ञान संशयका कारण है; विप्रतिपत्ति आदिसाक्षात् कोई भी कारण नहीं है; २ ॥ ॥

विप्रतिपत्तौचसम्प्रतिपत्तेः ३ ॥

केवल विप्रतिपत्तिजन्य संशय पर आक्षेप करने केलिये यह तीसरासूत्र कहा है; विप्रतिपत्ति (दोविरुद्ध कोटिओंका बोधकशब्द) कभी संशय की कारण नहीं होसकती क्योंकि वादिओं को और मध्यस्थ को निश्चय तो प्रथम ही बना है, संशय की तो केवल कल्पना मात्र है; क्योंकि एक कोटि का भी निश्चय होजावे, तो संशय का होना सर्वथा असंभव के समान होता है; और यहभी सिद्धान्त है, कि शब्दजन्यज्ञान और अनुमिति कभी संशयरूप नहीं होते, प्रकृत में विप्रतिपत्तिनामी शब्द से जो ज्ञान उत्पन्न होगा, वहनिश्चयरूप ही होगा, कभी संशय रूप नहीं होगा; और यह प्रगट है, कि एक कोटिका निश्चय भी हो तो संशय कभी नहीं होता ३ ॥

अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः ४ ॥

प्रामाण्यसंशय और अप्रामाण्य संशय से उत्पन्न दो संशयों का खंडन करने के अर्थ पूर्वपक्ष (आशंका) करते हैं; इन अवस्थाओं को संशय रूप मानके यदि संशय की कारण माने, तो अनवस्था दोष स्पष्ट ही है; और यदि निश्चय रूप मानें, तो निश्चय से संशय का उपजना एक असंभव के समान लिखही आये हैं; ४ ॥ ∴ ∴ ॥

तथात्यन्तसंशयस्तद्धर्मसातत्योपपत्तेः ५ ॥

और यदि ऐसा कहें, कि अनवस्थादोष तबलगे, यदि उसी संशय को उसी संशय का कारण मानें, यदि एक पदार्थ का संशय दूसरे पदार्थ के संशय का कारण कहा जावे, तो कोई दोष नहीं है; इसलिये औरदोषदिया है, अव्यवस्था

यदि संशयकी कारणमानी जावे, तो अव्यवस्था (सामान्य संशय) का कारण समान आदि साधारण धर्म का ज्ञान सब स्थान में निरंतर होने से सदाही सब स्थानमें अव्यवस्था से संशय होताहै, और यदि साधारण धर्म का ज्ञान हो भी परंतु किसी अन्य कारण के विलंब से अव्यवस्थामें विलंब मानें, तो वही अन्य कारण विषय के संशय का भी कारण मानलिया जावेगा; सामान्य संशय और साधारण धर्म के ज्ञान आदि को विषय के संशय की कारणता माननी सर्वथा युक्ति से विरुद्ध प्रतीत होती है ५॥

यथोक्ताध्यवसायादेवतद्विशेषापेक्षात्सं
शयेनासंशयोनात्यन्तसंशयोवा ६ ॥

अब संशय के विषय में सिद्धांत कहते हैं, यथोक्त (लक्षण सूत्र में कहे) अध्यवसाय (साधारणधर्म आदि के ज्ञान) से तद्विशेष (पुरुषत्व, पुरुषत्वाभाव, आदिकोटि) के रूप (प्रत्यक्ष) के अपगत (न होने) पर संशय का स्वीकार करें; तो कोई दोष नहीं, अर्थात् विशेष (दोकोटिओं में से किसी एक) का दर्शन (निश्चय) न रहने पर साधारणधर्म आदि के ज्ञान से संशय मानें तो कारण के न होने से संशय का अभाव (न होना) भी नहीं कह सकते, और किसी एककारण को लेके अत्यंत संशय (संशय की निवृत्ति कभी न होनी) नहीं कह सकते; साधारणधर्म ज्ञान आदि प्रत्येक सारे संशयोंके कारण नहीं हैं, किंतु साधारणधर्म के ज्ञान से अव्यवहित उत्तर क्षण में जो संशय उत्पन्न होवे, उस का कारण साधारण धर्म का

ज्ञान है; इसी भांति विरुद्ध धर्म, विप्रतिपत्ति, अव्यवस्था, इन में से जिस के ज्ञान से अव्यवहित उत्तर क्षण में जो संशय उत्पन्न होवे, उसी का ज्ञान उस संशय का कारण जानना; इस से सब संशयों के कारण साधारण धर्म आदि के ज्ञान मानने से जो परस्पर व्यभिचार दिया था, वह दूर होगया; विप्रतिपत्ति (विवाद) के समय वादी और प्रतिवादी की विप्रतिपत्ति से मध्यस्थ को ही संदेह माना है; और जो कहा है, कि समान धर्म के ज्ञानसे संशय कैसे कहते हो, क्योंकि समानशब्द के अर्थ में भेद का निर्देश होने से भेद का ही निश्चय होजावेगा; इस का उत्तर यह है, कि समान धर्म का ज्ञान संशय का कारण नहीं है; किंतु यह धर्म इन दोनों कोटिओं में रहता है, ऐसा उभय सहचरित ज्ञान अर्थात् दोनों में रहने का ज्ञान संशय का कारण है; सिद्धांत यह हुआ, कि जो धर्म दोनों विरुद्ध कोटिओं में रहे, ऐसे धर्म के ज्ञानसे संदेह होता है, कि उक्त दो कोटिओं में से यह कौनसी है; अथवा कौनसी नहीं; परंतु यह स्मरण रहे, कि ये सब (साधारण धर्म आदि के ज्ञान) कारण विशेषादर्शन (विरुद्ध दो कोटिओं में से किसी एक का भी निश्चय न होना) की सहायता से विना कभी संशय को नहीं उपजा सकते; किंतु विशेषादर्शन होने पर ही ये कारण प्रत्येक संशय को उपजा सकता है ९ ॥ ⁂ ⁂ ॥

यत्रसंशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसङ्गः ७ ॥

अब संशय की परीक्षा से ही अन्य सब पदार्थों की परीक्षा का क्रम बताते हैं; इसीरीति जिस जिस पदार्थ की परीक्षा में संशय हो, वहां परीक्षा का संबंध कर लेना; अर्थात् प्रयोजन आदि पदार्थों में अथवा इनके लक्षणों में यदि संदेह हो; तो उन की परीक्षा भी इसी रीति से कर लेनी; और जिस पदार्थ का किसी दृढ़ प्रमाण से निश्चय हो जावे, तो उसकी परीक्षाकरने की कुछ आवश्यकता नहीं; अथवा इस सूत्रका अर्थ ऐसे करते हैं, कि उत्तर, प्रत्युत्तर, स्वरूप परीक्षा का प्रसंग (संबंध) वहां अवश्य लगालेना कि जहां संशय हो। अर्थात् जिस पदार्थ के लक्षण में कुछ न्यूनता का संदेह हो, वहां परस्परविचार करके अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव, इन तीन दोषों से रहित लक्षण निकालके सिद्धांत करदेना ७ ॥

⁂

इति श्रीविश्वनाथ पंचानन की बनाई न्यायसूत्रवृत्ति में द्वितीय अध्याय के प्रथमआह्निक के पहिले (संशय की परीक्षा के) प्रकरण का पं॰ सुखदयालुका बनाया हिंदी में अनुवाद समाप्त हुआ ॥ ⁂ ॥

प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ८ ॥

अब अवसर संगति से प्रमाण की सामान्य परीक्षा करने के अर्थ पहिले पूर्वपक्ष (आशंका) करते हैं; भूत, भविष्य, वर्तमान, इन तीन कालों में से किसी एक में भी प्रमाण से प्रमा (यथार्थज्ञान) की सिद्धि अथवा उत्पत्ति नहीं कह सकते, इस से सिद्ध हुआ, कि प्रत्यक्ष आदि कोई भी प्रमाण नहीं हैं; ८

पूर्वं हि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्प्रत्यक्षोत्पत्तिः ९ ॥ ❖

प्रमाण से प्रमा कभी नहीं उत्पन्न होसकती इसी बात को तीन सूत्रों में विस्तार करके स्पष्ट करते हैं; और इस नौवें सूत्र में प्रमा से पहिले प्रमाण नहीं हो सकता, इस बात को सिद्ध करते हैं; यदि प्रमा से पहिले प्रमाण वर्तमान हो. तो यह (विषयों के साथ इंद्रियों के संबंध से प्रत्यक्ष उपजता है) कथन असंगत हो जावेगा; क्योंकि यह (प्रत्यक्ष प्रमा) प्रमाण से भी पहिले माननी पड़ेगी; नहीं तो प्रमा के न होने से प्रमा का कारण प्रमाण भी होना असंभव है; और यदि प्रमाण से पहिले प्रमा को मान लो, तो इंद्रिय और अर्थ के संबंध से प्रमा उत्पन्न होती है; यह वाक्य असंगत होजावेगा। अर्थात् इंद्रियार्थसन्निकर्षआदि (प्रमाणों) से प्रत्यक्ष आदि (प्रमा) कभी नहीं उपज सकती; अथवा आदि पद नहीं देना, प्रत्यक्ष के कारण का खंडन करके ऐसे ही अनुमिति आदि के कारणों का खंडन कर लेना ९ ॥ ❖ ❖ ❖ ॥

पश्चात्सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः १० ॥

प्रमा (यथार्थज्ञान) से अनंतर प्रमाण का स्वीकार करे.

तो सिद्ध हुआ, कि प्रमाण से पहिले ही प्रमा हो चुकी थी, परंतु प्रमा (यथार्थज्ञान) अवश्य किसी पदार्थ की ही होगी; अर्थात् प्रमाणों की उत्पत्ति से पहिले ही प्रमेयों का ज्ञान हो गया, तो यह कथन (प्रमाणों से प्रमेयों का ज्ञान और सिद्धि होती है) सब रीति असंगत हो जावेगा १० ॥ ❖

युगपत्सिद्धौप्रत्यर्थनियतत्वात्क्रम
वृत्तित्वाभावोबुद्धीनाम् ११ ॥

यह नौवां और दसवां सूत्र अनुमान आदि प्रमाणों के खंडन के अर्थ लिखे जानने; क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमा के वर्तमान काल और उत्तर काल में चक्षु श्रोत्र आदि प्रत्यक्ष प्रमाणों के होने को इष्ट मान के आशंका ही नहीं हो सकती; सूत्र का अर्थ यूं करना, प्रमाण और प्रमा की उत्पत्ति इकट्ठी एक क्षण में यदि मानी जावे, तो उन २ विषयों के ज्ञान जो क्रम २ से माने हैं; इकट्ठे नहीं माने, यह नियम टूट जावेगा; यथा शब्द प्रमाण (पदज्ञान) पद के श्रोत्र प्रत्यक्ष का नाम है, और शाब्दी प्रमा पदार्थों का एक परोक्ष (प्रत्यक्ष से भिन्न) ज्ञान है; तो प्रमाण और प्रमा को इकट्ठे मानना, विजातीय दो ज्ञानों का इकट्ठे मानना है; परंतु मन को अणु मानने से सिद्ध हो चुका है; कि दो ज्ञान इकट्ठे एक क्षण में कभी नहीं उपज सकते, और जब प्रमाण कारण और प्रमा कार्य तो अवश्य प्रथम क्षण में कारण (प्रमाण) उत्पन्न हो के उत्तर क्षण में अपने कार्य (प्रमा) को उपजावेगा; अर्थात् इस कार्यकारण भाव के विरोध से भी प्रमाण, प्रमा ये दोनों इकट्ठे कभी नहीं उपज सकते· और यह भी नहीं

कह सकते कि ज्ञान का एक अंश परोक्ष और दूसरा अंश अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) है; क्योंकि ऐसा ज्ञान मानने से संकर दोष लगेगा; यथा प्रत्यक्षत्व से शून्य शाब्दबोध में शाब्दत्व है, और शाब्दत्व से शून्य प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षत्व है; ये (प्रत्यक्षत्व, शाब्दत्व) दोनों धर्म उक्त ज्ञान में रह गये; अर्थात् उक्त ज्ञान के एक अंश में प्रत्यक्षत्व और दूसरे अंश में शाब्दत्व है; इसी भांति अनुमान प्रमाण व्याप्तिज्ञान तो स्मरण रूप है, और अनुमिति अनुभव रूप है; परंतु अनुभव और स्मरण इन दोनों की इकट्ठी एककाल में उत्पत्ति होनी सर्वथा असंभव के तुल्य है; कोई लोग इस सूत्र का अर्थ यूं करते हैं, कि प्रमाण और प्रमेय इन दोनों का ज्ञान इकट्ठा नहीं हो सकता; क्योंकि पदार्थों के भेद से ज्ञानों का भी भेद होता है, प्रमाण, प्रमेय का इकट्ठा ज्ञान मानें, यह भेद न होवे, यथा प्रत्यक्ष प्रमाण चक्षु आदि का ज्ञान अनुमिति रूप होता है; और प्रमेय घट आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप है; परंतु प्रत्यक्ष और अनुमिति ये दोनों इकट्ठे कभी नहीं उपज सकते ११ ॥

त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः १२ ॥

यह सिद्धांत सूत्र है, यदि तीनों (भूत, भविष्य, वर्तमान) की असिद्धि को लेकर प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि न मानी जावे, तो इसी रीति से अर्थात् तीनों कालों की असिद्धि से ही तुम्हारा कहा प्रतिषेध (खंडन) भी अनुपपन्न (युक्ति से बाहर) होजावे; अर्थात् तुम्हारा यह जाति (असत्) उत्तर है, १२ ॥

सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रति
षेधानुपपत्तिः १३ ॥

और यदि सब प्रमाणों का प्रतिषेध (खंडन) करते हो, तो यह

खंडन किस प्रमाण से सिद्ध होगा; अर्थात् सब प्रमाणों का खंडन करने से तुमारा कहा खंडन भी अप्रमाण (असिद्ध) हो जावेगा; तो किस रीति खंडन किया है, १३ ॥ ❖

तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः १४

और यदि निषेध का साधक कोई एक प्रमाण मान लिया जावे, तो (सब प्रमाणों का खंडन) यह कथन सर्वथा असंगत है; क्योंकि वही (निषेधकासाधक) प्रमाण जब तुमने मान लिया; तो सब प्रमाणों का निषेध कैसे कहोगे। और यदि वादी कहे, कि खंडन की सिद्धि क्या मेरे मत में किसी पदार्थ की भी सिद्धि नहीं अपेक्षित है; जिससे विश्व के सारे पदार्थ शून्य (अभाव) रूप हैं, प्रमाण, प्रमेय, का व्यवहार भी यथार्थ नहीं, किंतु कल्पना मात्र है; और तुमारे (गौतमके) मतसे तीनों कालोंकी असिद्धि कहही दी है; इसका उद्धार करते हैं १४ ॥ ❖ ❖ ॥

त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातो
द्यसिद्धिवत्तत्सिद्धेः १५ ॥

तीन कालों में से एक में भी प्रमाण से प्रमाकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसका उत्तर देते हैं; यथा नियम से मृदंग आदि बाजों से अनंतर (पीछेसे) होने वाले शब्द से मृदंग आदि बाजों की सिद्धि (यथार्थ अनुमिति) होती है; और जैसे पहिले उपजे हुए सूर्य से (अनंतर होनेवाली) वस्तुओं का प्रकाश (प्रत्यक्ष) होता है; और जैसे वह्नि के समकाल में वर्तमान धूम हेतु से अग्नि की यथार्थ अनुमिति होती है; इसी भांति प्रकृत में तुमारी यह प्रमा सब स्थान में प्रमाण से अनंतर

(पीछेसे) ही उत्पन्न होती है, चक्षुआदि प्रमाण अपने कार्य प्रमा से प्रथम अवश्य रहते ही हैं; प्रमा की उत्पत्ति से पहिले इन (प्रत्यक्षआदि) प्रमाणों में प्रमा की विशिष्टता (करणता) नहीं मानते हैं; जैसे कोई मनुष्य पाक (रसोई) करता है, पुनः जब वह रसोई करने से निवृत्त होके अन्य कार्य भी करने लगे; तोभी उसे पाचक (रसोइया) कहते हैं; इसी भांति जो एकबार भी किसी प्रमा का करण होजावे, पुनः जिस समय प्रमा के उपजाने में नहीं प्रवृत्त हो, तोभी उसी एक प्रमाके संबंध से सदा ही उसे प्रमाण कहेंगे; यह भाव है। तत्वालोकग्रंथमें लिखाहै, चतकभाष्यका पाठहै, सूत्रनहीं; परंतुटीकादेखनेसेसूत्रहीप्रतीतहोताहै १५ ॥

प्रमेयताचतुलाप्रामाण्यवत् १६ ॥

यदि ऐसी आशंका वादी करे, कि रज्जु में सर्प के अयथार्थ ज्ञान की नाईं प्रमाण, प्रमेय का व्यवहार भी अनियत होने से अयथार्थ ही है; यथार्थ नहीं है; इस का उत्तर यह है, कि सुवर्ण आदि पदार्थों का गुरुत्व मापने से तुला (तकड़ी) प्रमाण कहाती है; और किसी अन्य यंत्र (तकड़ी) से उस तुला को यदि तोलें, तो वही तुला प्रमेय भी कहाती है, इसीभांति घट आदि पदार्थों के जनाने से चक्षु आदि प्रमाण कहाते हैं, और क्रियात्व हेतु से रूप आदिके ज्ञान में करण की अनुमिति के विषय होने से चक्षु आदि प्रमेय भी कहाते हैं। अर्थात उक्त दोनों निमित्तों के बल से इंद्रिय आदिकों में ये (प्रमाण, प्रमेय) दोनों व्यवहार होते हैं; अथवा प्रथम जो कह आए हैं, कि प्रमा के संबंधसे

ही पदार्थ प्रमाण और प्रमेय कहा सकता है; इसका उत्तर इससूत्र में दियाहै, कि जैसे कभी एक बार गुरुत्व के मापने से तुला प्रमाण कहाती है; इसी भांति प्रकृत में कभी एकबार प्रमा का करण होने से चक्षु आदि प्रमाण कहाते हैं; और कभी एकबार प्रमा के विषय होनेसे घट आदि पदार्थ प्रमेय कहाते हैं; अर्थात् कभी एकबार भी प्रमा का संबंध होजाने से प्रमाण, प्रमेय व्यवहार होजाता है; सर्वदा प्रमा के संबंध की कुछअपेक्षा नहीं है १६ ॥ ⁂ ⁂ ॥

प्रमाणतस्सिद्धेः प्रमाणानां ॥
प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः १७ ॥

अनवस्था-दोष देने के अर्थ यह १७ वां सूत्र कहा है, कि प्रमाणों की सिद्धि यदि किसी प्रमाण से मानी जावे, तो अनवस्था-दोष लगेगा; यथा प्रत्यक्ष प्रमाण की सिद्धि यदि प्रत्यक्ष से ही मानीजावे, तो आत्माश्रय दोष लगेगा; इस से एक की सिद्धि के अर्थ दूसरा प्रमाण अवश्य मानना पड़ेगा; पुनः इन दोनों की सिद्धि यदि परस्पर मानी जावे, तो अन्योन्याश्रय दोष लगेगा, इससे एकतीसरा प्रमाण मानो; इसी रीति चौथा पांचवां आदि मानने से अनवस्था-दोषलगता है १७ ॥

तद्विनिवृत्तेर्वाप्रमाणान्तरसिद्धिवत्तत्सिद्धिः १८

और यदि कोई कहे, कि प्रमाणों की सिद्धि प्रमाण से विना ही होजाती है, तो इसका उत्तर देते हैं; यदि प्रमाण से विना ही प्रमाणों की सिद्धि मानो, तो इसी रीति प्रमाणों से विना ही प्रमेयों की सिद्धि भी मानलीजावेगी; पुनः प्रमाण नामी पदार्थ का मानना ही व्यर्थ है, अर्थात् प्रमाण से विना सि-

सी पदार्थ की भी अवस्था न बंधने से सारा जगत् शून्य (अभाव) रूप मानके शून्यतावादी नास्तिक का मत ही प्रधान होने योग्य होजावेगा; सिद्धांत वैदिक मत की रीति कहीं नहीं रहेगी १८ ॥ ❖ ❖ ॥

नप्रदीपप्रकाशवत्तत्सिद्धेः १९ ॥

सिद्धांत दिखाते हैं, कि जैसे प्रदीप के प्रकाश से घट आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है, इसी भांति प्रमाणों से प्रमेयों का यथार्थ ज्ञान होता है; नहीं तो घट आदि का प्रकाशक प्रदीप और प्रदीप का प्रकाशक चक्षु और चक्षु का प्रकाशक (बोधक) कोई अन्य इत्यादि अनवस्था के भय से दीप भी घट का प्रकाशक न होवे; और यदि घट के प्रत्यक्ष में दीप के प्रकाश को (चक्षु आदि) की अपेक्षा न रखने से अनवस्था हटा दो तो प्रकृत में भी प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि करने में प्रमाण की सिद्धि अपेक्षित न होने से अनवस्था हट होजावेगी; यदि प्रमाण की सिद्धि भी अपेक्षित हो, और उस की सिद्धि के अर्थ अन्य प्रमाण की अपेक्षा पड़े; तौभी वह अनुमान आदि प्रमाण चार के अंतर्गत ही है, कोई विजातीय प्रमाण नहीं मानना पड़ता; और अनवस्था भी नहीं लगती; क्योंकि सब स्थान में प्रमाणों की सिद्धि नहीं करनी पड़ती; बीजांकुर की नाईं कहीं अपेक्षा भी सहायक होती है; और इस सूत्र का अर्थ कोई यूं करते हैं अन्य दीप की अपेक्षा त्याग के एक दीप जैसे स्वतंत्र प्रकाश करता है; ऐसे ही अन्य प्रमाण की अपेक्षा त्याग के एक प्रमाण प्रमेयों का प्रकाश (बोध) कराता है, इस पर भाष्यकार ने कहा है; कि यह कथन आपका हठ नहीं प्रतीत

होता, क्योंकि दीप आदि तो प्रकाश करने में अन्य हेतु (सूर्य आदि) की अपेक्षा नहीं रखते, वरुक सूर्य आदि के आने से ये (दीप आदि) प्रकाश ही नहीं कर सकते; और कोई घट आदि अन्य प्रमाण (सूर्य आदि) की सहायता से ही प्रकाश (प्रत्यक्ष) करते हैं; अर्थात् आलोक से बिना घट आदि का प्रत्यक्ष कभी नहीं होता; तो इस अव्यवस्था से आपका कथन खंडित हो गया। अर्थात् दीप का दृष्टांत देकर आप अन्य प्रमाण की अपेक्षा के अभाव की सिद्धि करते हैं; तो घट का दृष्टांत देकर अन्य प्रमाण की अपेक्षा को ही क्यों नहीं सिद्ध करते, किन्तु आप का यह उत्तर दृष्टांतसमानामी जाति के अंतर्गत होने से दुष्ट है। पहिले अर्थ में व्यभिचार का उद्धार भाष्यकारने ही कियाहै, कि व्याप्तिपक्षधर्मता सहित हेतु से साध्य की सिद्धि करने पर व्याप्ति आदि की अपेक्षात्याग के किसी हेतु से खंडन कभी नहीं होता, १९ ॥ ⁂

इति श्री विश्वनाथ पंचानन की बनाई न्यायसूत्रवृत्ति के १२ वें प्रमाणों की सामान्य परीक्षा के प्रकरण का हिंदी में अनुवाद समाप्त हुआ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात् २० ॥

प्रमाणों की सामान्य परीक्षा करके विशेष परीक्षा करने के अवसर में सब से पहिले कहे प्रत्यक्ष प्रमाण की परीक्षा ही आदि में करनी योग्य है; परंतु फल (प्रमा) का लक्षण करके उसी से प्रत्यक्ष-प्रमाण का लक्षण निकास के दिखाया है; इसी से प्रत्यक्ष प्रमा के लक्षण पर आक्षेप (आशंका) पहिले करते हैं, कि प्रत्यक्ष (प्रमा) का लक्षण जो पीछे कह आये हैं; (पदार्थ के साथ इंद्रियों के संबंध से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं) यह सर्वथा अयुक्त है; क्यों कि यह लक्षण संपूर्ण रूप से नहीं कहा, किंतु कई विशेषण इसके कहने रहगये, तात्पर्य यह है, कारणों के द्वारा ही उक्त लक्षण आपने निकास लिया है; इससे कारणों की संपूर्ण सामग्री का निवेश कर्नेयोग्य है, परंतु उक्त लक्षण में केवल एक कारण (इंद्रियार्थसन्निकर्ष) का ही निवेश आपने किया है; आत्मा के साथ मन का संयोग, इंद्रिय के साथ मन का संयोग, इत्यादि कारणों का निवेश नहीं किया; अर्थात् इंद्रिय (मन) के साथ विषय (आत्मा) के संयोग से जन्य (उपजेहुए) अनुमिति आदि ज्ञानों में लक्षण के जाने से अतिव्याप्ति दोष लगता है २० ॥

नात्ममनसोः सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः २१

आत्मा के साथ मन का संयोग तो प्रत्यक्ष (प्रमा) का कारण ही नहीं है, इस आशंका का उत्तर करते हैं; शरीर के द्वारा आत्मा के साथ मन का संयोग न होवे तो प्रत्यक्ष कभी नहीं उत्पन्न होता; इससे आत्ममनः संयोग को अवश्य कारणता माननी पड़ेगी, प्रत्यक्ष का ही केवल व्याकथन है; आत्मा के

साथ मनका संयोग न हो, तो किसी प्रकार का भी ज्ञान नहीं उत्पन्न नहीं होता २१ ॥

❖ ❖ ❖

दिग्देशकालाकाशेष्वेवंप्रसङ्गः २२ ॥

इस पर आशंका करते हैं; कि आत्माकी नाईं आकाश, काल, दिक इन सब विभुओं का संयोग अवश्य ही मन के साथ बना रहता है; तो काल आदि विभुओं का संयोग भी प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों का कारण अवश्य मानना योग्य है; और यदि आकाश आदि विभुओं के संयोग को अन्यथासिद्ध मान के कारणता का खंडन करो; तो मन के साथ आत्मा का संयोग भी अन्यथासिद्ध ही हो जावे, कारण मानना योग्य नहीं है; अर्थात् पूर्वोक्त खंडन तुमारा सर्वथा अयुक्त प्रतीत होता है २२ ॥

ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनोनानवरोधः २३ ॥

इस का उत्तर यह है, कि सब ज्ञान आत्मा के विशेष गुण हैं; इस से ज्ञान आदि का समवायिकारण आत्मा अवश्य कहना पड़ेगा, क्यों कि विना समवायिकारण के कभी कोई भाव कार्य उत्पन्न नहीं होसकता; और दिक आदि को ज्ञान के समवायिकारण मानने में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं प्रतीत होता; इसी से समवायिकारण आत्मा का मन के साथ संयोग ज्ञान आदि विशेषगुणों का असमवायिकारण है; २३ ॥

तदयौगपद्यलिङ्गत्वाच्चमनसः २४ ॥

मन के साथ आत्मा का संयोग ही असमवायिकारण है, शरीर आदि के साथ आत्मा का संयोग नहीं कारण है; इस बात को सिद्ध करने के अर्थ युक्तिओं के द्वारा मन को शरीर आदिकों की अपेक्षा मुख्यता की सिद्धि करते हैं; सिद्ध

ले सूत्र से "नाऽनवरोधः" इतने अक्षर लेकर अर्थ यह करना; इंद्रियों के साथ अपने संयोगके द्वारा एकक्षणमें अनेक ज्ञान उपजने देने से मनका अनवरोध (त्याग) नहीं, किंतु मन में ज्ञान आदि की कारणता अवश्य माननी योग्य है; परंतु शरीर के साथ मन का संयोग इस नियम को कभी नहीं बांध सकता; इसलिये आत्मा और मन का संयोग ज्ञान आदिकों का असमवायिकारण अवश्य मानना पड़ेगा २४ ॥

प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयोःसन्निकर्षस्य
पृथग्वचनम् (क) सुप्तव्यासक्तमनसाञ्चे ॥
न्द्रियार्थयोःसन्निकर्षनिमित्तत्वात् (ख) ॥

सिद्धांत यह है, प्रत्यक्ष के निमित्त (असाधारणकारण) होने से लक्षण सूत्र में इंद्रियार्थ सन्निकर्ष का विशेष कथन किया है; अर्थात् कारणों के कथन की इच्छा से इंद्रियार्थ सन्निकर्ष का नाम नहीं लिखा, कि जिससे अन्य कारणों (आत्ममनःसंयोग आदि) के न लिखने से न्यूनताप्रतीत हो; किंतु प्रत्यक्ष का लक्षण कहने के अभिप्राय से सब कारण सामग्री का लक्षण में प्रवेशकरने से बहुत गौरव जान कर केवल एक असाधारण कारण (इंद्रियार्थसन्निकर्ष) कोही उत्तम लक्षण जान के लिख दिया है; अर्थात् इंद्रिय और अर्थ के संबंध से उत्पन्न हुए ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं; इतने लक्षण से ही निर्वाह होजावे, तो आत्ममनोयोग आदि का लक्षण में निवेश करना व्यर्थ है; कई ग्रंथकार इसे सूत्र नहीं, किंतु भाष्य ही कहते हैं; क० और सोए हुए अथवा किसी एक ओर चित्त को लगाए पुरुषों को मेघ के गर्जन से

श्रोत्र इंद्रिय का और त्वक् इंद्रिय से वह्नि का संबंध होने पर उसी दशा में शीघ्र शब्द, स्पर्श आदि अर्थों का प्रत्यक्ष होता है; इस से सिद्ध हुआ, कि प्रत्यक्ष में अर्थ के साथ इंद्रिय का संबंध अवश्य प्रधान है। २० ॥

⁂

तेषामपदेशेज्ञानविशेषाणाम् २५ ॥

और इस युक्ति से भी प्रतीत होता है, कि प्रत्यक्ष का लक्षण करने के लिये अर्थ के साथ इंद्रिय का संबंध ही प्रधान है; जिस से इंद्रियार्थसन्निकर्ष के द्वारा ही अनुमानआदि ज्ञानों से प्रत्यक्ष को पृथक् सिद्ध कर सकते हैं; अर्थात् अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव, इन तीन दोषों से रहित प्रत्यक्ष का लक्षण इंद्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व (ज्ञानाकरणकज्ञानत्व) ही उत्तम बनता है; क्योंकि प्रत्यक्ष का लक्षण यदि आत्ममनोयोगजन्यत्व कहें; अर्थात् आत्मा और मन के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न हो, उसे प्रत्यक्ष कहें; तो अनुमान आदि सब ज्ञानों में लक्षण आने से अतिव्याप्ति दोष लगेगा; इसी भांति इंद्रिय मनोयोगजन्यत्व लक्षण करें, अर्थात् इंद्रिय और मन के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न हो, उसे प्रत्यक्ष कहें, तो मानस प्रत्यक्ष से पहिले किसी इंद्रिय के साथ भी मन का संयोग न रहने से अव्याप्ति दोष लगेगा; कोई आचार्य इस सूत्र को यूं लगाते हैं, कि जिससे इंद्रियों के भेद से ही प्रत्यक्ष के भेद (चाक्षुष प्रत्यक्ष, रासन प्रत्यक्ष आदि) कहे जाते हैं; इसी से इंद्रियार्थ सन्निकर्ष मुख्य है; और नवीन कहते हैं, कि जिससे इंद्रियों के नाम से ही उनउन प्रत्यक्षों के नाम कहे जाते हैं; इसलिये चाक्षुष में वर्तमान और अनुमिति में न रहने वाली जाति जिसमें रहे, उसे प्रत्यक्ष

कहते हैं; ऐसे २ लक्षण भी होसकते हैं २५ ॥ ⁘

आहतत्वादहेतुः २६ ॥

इस पर यह आशंका करते हैं, कि एक ओर चित्त लगा के गीत सुनने के समय घट आदि पदार्थों के साथ चक्षु आदि इंद्रियों का संबंध हो भी तो चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता; इस अन्वयव्यभिचार (कारण के होने पर कार्य का न होना) दोष से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि इंद्रियार्थसन्निकर्ष प्रत्यक्ष का कारण नहीं है, २६ ॥ ⁘ ⁘ ⁘ ⁘

नार्थविशेषप्राबल्यात् २७ ॥

उत्तर यह है अर्थविशेष (गीतआदि) के प्राबल्य (सुननेकी इच्छा) से तुमारी आशंका योग्य नहीं है; अर्थात् गीत सुनने की इच्छा वहां चाक्षुष आदि प्रत्यक्षों की प्रतिबंधक है, और प्रतिबंधक का अभाव सब कार्यों का कारण होता है; और इसी प्रतिबंधकाभाव के साहाय्य से इंद्रियार्थसन्निकर्ष प्रत्यक्ष को उपजाता है; इस से तुमारा पूर्वपक्ष (खंडन) योग्य नहीं है; और कोई आचार्य यूं कहते हैं, किसी को भ्रम हुआ, कि इंद्रियार्थसन्निकर्ष ही कारण है; इंद्रियमनोयोग आदि कोई कारण नहीं हैं, इस में जो हेतु दिया, वह योग्य नहीं है; क्योंकि इंद्रियमनोयोग को कारणता जो सबने मानी है; वह खंडित होजावेगी, उत्तर यह है, कि अर्थविशेष (इंद्रियार्थसन्निकर्ष) के प्राबल्य (प्राधान्य) जताने के अर्थ इंद्रियार्थसन्निकर्ष का नाम सूत्र में लिया है; इससे औरों में कारणता का निषेध किसी भांति नहीं होसकता २७ ॥ ⁘ ⁘ ⁘

प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रह
णादुपलब्धेः २८ ॥

इस पर यह आशंका है, कि यदि प्रत्यक्ष नामी कोई पृथक् प्रमाण सिद्ध हो लेवे, तो उसके लक्षण की परीक्षा करनी योग्य है; कि यह लक्षण प्रत्यक्ष का यथार्थ बनता है, अथवा नहीं, परंतु प्रत्यक्ष नाम का कोई पृथक् प्रमाण नहीं है; किंतु किसी एक अवयव के ज्ञान से सारे अवयवी का ज्ञान होने से अनुमिति को ही प्रत्यक्ष संज्ञा से कह दी, परंतु शाखा आदि अवयवों के ज्ञान से यह वृक्ष आदि अवयवियों का ज्ञान अनुमिति से अन्य कोई प्रत्यक्ष नहीं किंतु अनुमिति ही है २८ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

नप्रत्यक्षेणयावत्तावदप्युपलम्भात् २९ ॥

इस का उत्तर यह है, कि सब प्रत्यक्षों को हम अनुमिति नहीं कह सकते, जिससे एकदेश (अवयव) का प्रत्यक्ष तुमने भी मान ही लिया है; यदि उन के भी अवयवों के ज्ञान (प्रत्यक्ष) से ही अवयवों का ज्ञान (अनुमिति) मानो, तो भी अवयवों के अवयवों का प्रत्यक्ष मानने से सब प्रत्यक्ष का खंडन नहीं हुआ, और द्व्यणुओं का प्रत्यक्ष न होने से अणुक का प्रत्यक्ष न होवे; और यह भी है, रूप, शब्द आदि गुणों व द्रव्यत्व आदि जातियों का एकदेश (अवयव) अप्रसिद्ध होने से इनमें से किसी का भी प्रत्यक्ष न होवे; क्योंकि द्रव्य से बिना गुण आदि किसी पदार्थ का भी अवयव वा एकदेश नहीं होसकता २९ ॥ ⁂

नचैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात् ३० ॥

और यदि यूं कहे, कि हस्त आदि अवयवियों (अंत्यावयवियों) का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं, किंतु अनुमिति है; तो यह भी नहीं कह सकते, जिस से अवयवी साक्षात् विद्यमान है; इस लिये अवयवों के साथ चक्षुआदि इंद्रियों का संयोग होने से अवयवी के साथ इंद्रियों का संयोग अवश्य हो जावेगा; क्योंकि कारण के होनेपर कार्य के होने में विलंब कभी नहीं होता, प्रकृत में कारण (अवयवसंयोग) के होने से कार्य (अवयवी के साथ चक्षुकासंयोग) अवश्य होजावेगा; इसी भांति कारण (अवयवीके साथ इंद्रियसंयोग) के होने से कार्य (अवयवीकाप्रत्यक्ष) अवश्य ही हो जावेगा; अर्थात् जब तुम अवयवोंका प्रत्यक्ष मानते हो, उस समय कारण सामग्री के रहने से अवयवी के प्रत्यक्ष का कोई प्रतिबंधक नहीं है; किंतु सामग्री के बल से अवयवीका प्रत्यक्ष भी होजाता है; इसलिये प्रत्यक्ष को अनुमिति कहना सर्वथा युक्ति से विरुद्ध है ३० ॥

⁂

इतिश्रीविश्वनाथपंचाननकीबनाई न्यायसूत्रवृत्ति में ५वें प्रत्यक्ष परीक्षा प्रकरणकाहिंदी में अनुवादसमाप्तहुआ.

साध्यत्वादवयविनिसन्देहः ३१ ॥

पिछले सूत्र में कहे "अवयविसद्भावात्" इस हेतुकी सिद्धि के अर्थ उपोद्घातसंगति से अवयवि प्रकरण का प्रारंभ करते हैं; साध्य होने से अर्थात् साध्य की नाईं सिद्धकरनेके योग्य होने से अवयवी (अवयविसद्भावात् इसहेतु) में संदेह है; तो उक्त हेतु संदिग्ध होने से (असिद्ध नामी हेत्वाभास के अंतर्गत होनेसे) अप्रमाण है; संदेह का आकार यह है, कि सब द्रव्य अणु हैं, वा नहीं; अथवा स्पर्शवाले सब द्रव्य अणु है, वा नहीं; क्योंकि अवयवी का एक भाग कांपता है, और दूसराभाग नहीं कांपता; अवयवी का एक भाग रक्त होता है, और दूसरा भाग नहीं रक्त किंतु नील वा पीत होता है; इसीभांति अवयवी का एक भाग छादन से ढंपा होता है, तो दूसराभाग नहीं ढंपा होता; इस से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि अवयवी किसी एक पदार्थ का नाम नहीं है; जैसे कि वृक्षकी शाखा जब कांपती है, तो मूल नहीं कांपता; अर्थात् कांपना और नकांपना ये दोनों विरुद्धधर्म वृक्षके एक द्रव्य (वृक्ष) में एक ही समय कभी नहीं रहसकते, किंतु अवयवों का समूह ही अवयवी कहाता है; अवयवों से पृथक् एक अवयवी मानने में कोई प्रमाण नहीं है; इसीरीति चित्रपट के अवयवों में भिन्न भिन्न रूप दीखते हैं, यह बौद्धों का पूर्वपक्ष (खंडन) है; इस पर बौद्धों के बहुत सूत्र हैं, जो न्यायवार्त्तिक में लिखे हैं, यहां विस्तार के भय से नहीं लिखे ३१ ॥

सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः ३२ ॥

नैयायिकों का यह सिद्धांत है, कि अवयवों से पृथक् अवयवी यदि न मानें; तो उन (अवयवियों) के गुण (रूपआदि), कर्म (कंपआदि) आदि किसी पदार्थ का भी ग्रहण (प्रत्यक्ष) नहीं हो सकेगा; अर्थात् अवयवों (परमाणुओं) में रहने से तुमारे कहे (कांपना, न कांपना, रक्त होना, नीलहोना आदि) हेतुओं का ज्ञान (प्रत्यक्ष) ही नहीं होसकता, कि जिन से आप अवयवी का खंडन कर सको; क्योंकि प्रत्यक्ष का कारण महत्व (महत्परिमाण) है; जो कि परमाणु में कभी नहीं रह सकता, जिससे परमाणुओं में अणु परिमाण रहता है; और अवयवों (परमाणुओं) से पृथक् अवयवी आपने कोई नहीं माना, कि जिस में प्रत्यक्ष का कारण महत्परिमाण रहे; अर्थात् अपने कारण महत्परिमाण के न होने से जगत् में किसी पदार्थ का भी प्रत्यक्ष न होवे, और यदि महत्परिमाण से विना भी प्रत्यक्ष मानो, तो परमाणु और परमाणु के गुणों, कर्मों का भी प्रत्यक्ष अवश्य होवे; इन सब युक्तिओं से सिद्ध हुआ, कि अवयवों से पृथक् अवयवी अवश्य मानना योग्य है; जिस का महत्परिमाण के संबंध से प्रत्यक्ष होता है; और परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता ३२ ॥ ∴ ∴

धारणाकर्षणोपपत्तेश्च ३३ ॥

इस युक्ति से भी सिद्ध होता है, कि अवयवों से पृथक् अवयवी अवश्य मानना योग्य है; यथा एक भाग के धारण करने से सारा अवयवी धारण किया जाता है, और एक भा-

ग के खेंचने से सारा अवयवी खेंचा जाता है; यदि अवयवों का समूह ही अवयवी माना जावे, तो एक अवयव के धारण से सारे समूह का धारण और एक अवयव के खेंचनें से सारे समूह का खेंचना न होवे ३३ ॥

✣ ✣

सेनावनवद्ग्रहणमितिचेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम् ३४ ॥

इसपर बौद्धों का यह आक्षेप है, कि नाव के खेंचने से जैसे नाव पर धरे सब पदार्थ खेंचे जाते हैं; कुंडे को उठाने से जैसे कुंडे में धरे दही आदि पदार्थ भी साथ ही उठाए जाते हैं; इसी भांति अवयवों से पृथक अवयवी न भी मानें, विलक्षण संयोग के बल से ही उक्त कार्य (उठाना, खेंचना) सिद्ध होजावें, तो अवयव, अवयवी का भेद मानना व्यर्थ है; और पहिले सूत्र पर भी यह आक्षेप है, कि बहुत दूर से एक मनुष्य का वा एक वृक्ष का जैसे प्रत्यक्ष नहीं होता, और सेना वा वन का प्रत्यक्ष हो जाता है; ऐसे ही एक परमाणु का प्रत्यक्ष न हो, उन के समूह का प्रत्यक्ष होजावेगा; उत्तर यह है: प्रत्येक मनुष्य में और वृक्ष में प्रत्यक्ष का कारण महत्व रहने से उनके समूह में महत्व भी रहेगा, और उनका प्रत्यक्ष भी अवश्य होगा; और प्रत्येक परमाणु में जब महत्व नहीं है, तो उनके समूह में महत्व कहां से रहना था जो उनका प्रत्यक्ष हो; इससे अवयवों से पृथक अवयवी अवश्य मानना योग्य है ३४ ॥

✣ ✣

इति अवयवीपरीक्षा का १५ वां प्रकरण समाप्त हुआ १५ ॥

रोधोपघातसादृश्येभ्योव्यभिचारा दनुमानमप्रमाणम् ३५ ॥

अवसर संगति से क्रम-प्राप्त अनुमान की परीक्षा के अर्थ पूर्वपक्ष (आशंका) करते हैं; तीन प्रकार का अनुमान पीछे कह आए हैं, उन में से प्रत्येक जब प्रमाण नहीं है, तो अर्थ से ही सिद्ध होगया; कि अनुमान प्रमाण (प्रमाका करण) नहीं है; जिससे अनुमान के सब हेतुओं में व्यभिचार दोष लगता है; यथा पूर्ववत्—कीड़ियों को अंडेलियेभागती देख के वर्षा का अनुमान जो करते हो, तो जहां किसी मनुष्य ने चींटियोंका घर तोड़दिया, वहां हेतु (अंडे लिये चींटियोंकाभागना) तो है, परन्तु साध्य (वर्षा) नहीं है; अर्थात् इस व्यभिचार दोष से पूर्ववत् अनुमान दुष्ट हुआ; इसी भांति शेषवत् नदी के बढ़ने से वृष्टि का अनुमान करते हैं, इसमें भी जहां नदी के रोकने से नदी बढ़ती है; वहां हेतु (नदी का बढ़ना) तो है, परन्तु साध्य (वर्षा) नहीं है; किंतु इन व्यभिचार् दोष से शेषवत् अनुमान भी दुष्ट ही है; ऐसेही सामान्यतो दृष्टमोर के शब्दसे वर्षा का अनुमान करते हैं; इस में भी जहां मोरकी नाईं कोई मनुष्य बोलता है; वहां हेतु (मोरकाशब्द) तो है, परंतु साध्य (वर्षा) नहीं है; इसीव्यभिचार दोष से सामान्यतोदृष्ट भी दुष्ट ही है; अंडों को लेकरचींटियों का भागना यहां वर्षाका कारण माना गया है; अथवा लक्षण सूत्र में पूर्ववत् का अर्थ हेतु से पूर्व (पहिले) विद्यमान साध्य की अनुमितिकाकारण, औरशेषवत् अर्थात् हेतु

से अनंतर (पीछे) होने वाले साध्यकी अनुमिति का कारण, इसी भांति सामान्यतो दृष्ट हेतु के साथ वर्तमान साध्य की अनुमिति का कारण होता है; ऐसा अर्थ करने से अनुमान में तीन (भूत, भविष्य, वर्तमान) कालों के पदार्थों का बोध कराना सिद्ध होता है; और कई ग्रंथकार यूं भी कहते हैं, कि अंडे लेकर चींटियोंके भागने से अनंत ऊष्म (गर्मी) का अनुमान होता है; पुनः इस ऊर्म से पृथिवी आदि महाभूतों के क्षोभ (क्रिया) का अनुमान होता है; परंतु यह महाभूतों का क्षोभ वर्षा का कारण होता है, इसलिये कारण (महाभूतोंकी क्रिया) से कार्य (वर्षा) का अनुमान होता है; इसी भांति जो जो अनुमान करोगे, सब में जिस किसी रीति अनुमिति के प्रतिबंधक व्यभिचार की शंका होजावेगी, तो अनुमिति के कारण अव्यभिचार (व्याप्ति) का निश्चय होना दुर्लभ होजावेगा; अर्थात् पूर्ववत् आदि प्रत्येक अनुमान जब उक्त युक्तियों से प्रमाण नहीं है, तो अनुमान नामी प्रमाण का पृथक् मानना सर्वथा युक्ति से विरुद्ध है ३५ ॥

नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात् ३६

उत्तर यह है, कि ऊपर कहा अनुमान का खंडन योग्य नहीं है; क्यों कि हमने रोध आदि लौकिक निमित्तों से विना ही नदीका बढ़ना हेतु किया है, जिसमें कभी व्यभिचार नहीं आता; इसी भांति विना किसी भय आदि लौकिक निमित्त के स्वभाव से ही अंडे ले ले चींटियों का भागना हमारा हेतु है; जिस में कोई व्यभिचार नहीं आता; और

सामान्यतोदृष्ट में भी मोर के यत्न से उत्पन्न शब्द हेतु है; जिसमें व्यभिचार कभी नहीं आता; अर्थात् तुमने (मेरे कहे हेतुओं से) अन्य हेतु अपनी ओर से बना के व्यभिचारदोष दिया है; परन्तु मेरे हेतुओं में कोई दोष नहीं है, किंतु अपने कहे हेतुओं का तुमने आप ही खंडन किया, इससे तुमारे कहे अनुमानके खंडन का खंडन हुआ; अर्थात् तुमारी युक्तियों सेही अनुमान प्रमाण सिद्ध होगया; और सव अनुमानों में तो व्यभिचारकी शंका हो ही नहीं सकती; किंतु जिस अनुमान में व्यभिचार की शंका होती है; वहां तर्क के द्वारा शंका का उद्धार किया जाता है; तो सिद्ध हुआ, कि अनुमान प्रमाणमानने में कोई दोष नहीं है ३८

इति अनुमानपरीक्षाका १८ वां प्रकरणसमाप्त हुआ. ॥

वर्त्तमानाभावः पततः पतित पतितव्यकालोपपत्ते ३७ ॥

भूत भविष्यत, वर्त्तमान, इन तीनों कालोंके पदार्थों का वोध अनुमान से मानना सर्वथा असंगत है; क्योंकि वर्त्तमान नामीकाल जगत् में जब नहीं है, तो वर्त्तमानकी अपेक्षा से जिन का ज्ञान होता है ऐसे भूत, भविष्यत् का होना सर्वथा असंगत प्रतीत हुआ; अर्थात् तीनकाल (भूतभविष्य वर्त्तमान) ही जब सिद्ध नहीं हो सकते, तो अनुमान प्रमाण से तीन काल के पदार्थों का बोध मानना, युक्ति से वाहर है; इस अभिप्राय से वर्त्तमान की परीक्षा करने के अर्थ पहिले वर्त्तमानका खंडन करते हैं; जब वृक्ष से कोई फल नीचे को गिरता है, तो वृक्ष की शाखा से उस फल तक जो देश है; उसे पतित (लंघाहुआ) मार्ग कहते हैं; अर्थात् उतनी दूरगिरने का समय भूत कहाता है; और उस फलसे भूतल तक जो शेष देश है, उसे पतितव्य (लंघनेकेयोग्य) कहते हैं, अर्थात् उतनी दूर लंघने का समय भविष्य कहाता है; तो शेष कोई समय नहीं रहा, कि जिसे हम वर्त्तमान कहें; तो प्रतीत हुआ, कि ऐसी कोई युक्ति नहीं है; कि जिससे वर्त्तमान समय की सिद्धिकरें; किंतु यह सिद्ध हुआ, वर्त्तमान काल कोई नहीं है ३७ ॥

∴ ∴ ॥

तयोरप्यभावोवर्त्तमानाभावेतदपेक्षत्वात् ३८ ॥

उत्तर यह है, कि वर्त्तमान काल यदि माना जावे, तो भूत भविष्यत कालोंका स्वीकार भी नहीं कर सकोगे;

क्यों कि भूत भविष्यत् काल की व्यवस्था भी वर्तमान काल से ही बांधी जाती है; जिस से विद्यमान ध्वंस के प्रतियोगी को भूत और विद्यमान प्रागभाव के प्रतियोगी को भविष्यत् कहते हैं; अर्थात् वर्तमान काल मानने से विना इन दोनों लक्षणों में विद्यमान शब्द का अर्थ कुछ नहीं होसकता, और इन लक्षणों में विद्यमान शब्द यदि न दिया जावे, तो भूत भविष्यत् की व्यवस्था सर्वथा उड़ जावेगी, अर्थात् जो वस्तु आगे उत्पन्न होगी, उसका ध्वंस नाश भी अवश्य होगा; इसलिये उसे भूत कह दो: और जो वस्तु उत्पन्न हो चुकी है, प्रागभाव उसका भी था; इसलिये उसे भविष्यत् कह दो; तो भूत भविष्यत् का नियम ही टूटगया ३८

नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षासिद्धिः ३९ ॥

वर्तमान की अपेक्षा त्याग के भूत की अपेक्षा से भविष्यत् और भविष्यत् की अपेक्षा से भूत माना जावे; तो परस्पर की अपेक्षा पड़ने से अन्योन्याश्रय दोष लगेगा; अर्थात् दोनों में से कोई एक भी नहीं सिद्ध होसकेगा. ३९ ॥

वर्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः ४० ॥

भूत, भविष्यत् के न सिद्ध होने से क्या हानि है; इसलिये और युक्ति देते हैं; कि वर्तमान की सिद्धि से विना प्रत्यक्ष किसी वस्तु का भी नहीं होसकेगा. जिस से प्रत्यक्ष केवल वर्तमान वस्तु का ही बोध कराता है; इसी से ग्रंथकारों ने कहा भी है, कि संबद्ध (मिली हुई) और वर्तमान वस्तुओं को ही इंद्रिय ग्रहण करसकते हैं; अर्थात् प्रत्यक्ष न मानो, तो अनुमान आदि कोई एक ज्ञान भी नहीं सिद्ध होता, जिस से अनुमान

आदि सब ज्ञानों का मूल (आदिकारण) प्रत्यक्ष ही है; ४०

कृतताकर्त्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथाग्रहणम् ४१ ॥

इस पर आशंका है, यदि वर्त्तमानध्वंस का प्रतियोगी भूत और वर्त्तमान प्रागभाव का प्रतियोगी भविष्य कहा जावे, तो वर्त्तमान एक ही घट में ये दो प्रतीति कैसे होती हैं; कि यह घट श्याम था, और रक्त होगा, उत्तर यह है, कि विद्यमान एक ही घट में श्याम रूपका नाश और रक्त रूप की उत्पत्ति को लेकर था और होगा ये भूत भविष्यत् के प्रयोगमात्र होते हैं; सिद्धांत में तो श्याम रूप था और रक्त रूप होगा; घट में ये व्यवहार गौण हैं ४१ ॥ इति वर्त्तमानपरीक्षाका ९ वां प्रकरण समाप्त हुआ. ९ ॥

⁂ ⁂ ⁂

अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः ४२ अवसर संगति से उपमान की परीक्षा करने के अर्थ आदि में पूर्वपक्ष (आशंका) करते हैं; प्रसिद्ध पदार्थ के साधर्म्य (सादृश्य) से जो उपमिति पीछे कह आये हैं; वह योग्य नहीं है, क्योंकि उपमान के सम्पूर्ण धर्मों से उपमेय में सादृश्य देवें; सो नहीं बनता, ऐसे सादृश्य से यह उपमिति कोई नहीं करता; गौके तुल्यगौ है; और उपमान के अधिकधर्मों सेभी उपमेय में सादृश्य नहीं बनता, जिससे सींग आदि अधिकधर्मोंके द्वारा ऐसी उपमिति किसी को नहीं होती, कि गौके तुल्य महिषी है; इसीभांति उपमान के किसी एक धर्म से सादृश्य देके भी उपमिति नहीं होती; क्योंकि वाच्यत्व आदि कोई एक धर्म लेकर ऐसी उपमिति किसी को नहीं होती, कि सुमेरु के तुल्य सर्षप है; इसीभांति तीन पक्ष बना के वैधर्म्य से भी उपमिति का खंडन करदेना; अर्थात् किसी प्रकारभी साधर्म्य से वा वैधर्म्य से उपमिति नाम की प्रमा पृथक नहीं सिद्ध होसकती ४२ ॥ ⁂

प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसि
द्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः ४३ ॥

समाधान यह है; प्रसिद्ध अतिशय करके महिषी आदि में जो रहे, उस (अवयवसंयोग) का ज्ञान उपमिति का कारण मानने से कोई दोष नहीं है; और साधर्म्य तो सब स्थानों में एकही नहीं है; किंतु प्रकरण आदि के अनुसार कहीं कुछ कहीं कुछ भिन्न भिन्न साधर्म्य हैं; ॥ ४३ ॥

⁂ ⁂ ⁂ ⁂

प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः ४४ ॥

इस पर वैशेषिकों का यह आक्षेप है, कि अनुमान के अंतरगत होने से उपमाननामी पृथक प्रमाण नहीं मानना; क्योंकि धूम आदि के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष वह्नि आदि के ज्ञान को अनुमिति कहते हैं; इसी भांति गोसादृश्य के प्रत्यक्ष (ज्ञान) से अप्रत्यक्ष गवयपदवाच्यत्व (इसे गवय कहेंगे) का ज्ञान भी अनुमिति ही कहना योग्य है; अर्थात् अनुमान से पृथक् उपमान नामी कोई प्रमाण जगत में नहीं है। किंतु प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं; उपमान और शब्द अनुमान के ही अंतरगत हैं, यह वैशेषिक (कणाद) का सिद्धान्त है ४४ ॥ ∴

नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्याम इति ४५ ॥ ∴

उत्तर यह है, अनुमिति का कारण व्याप्य वत्ता ज्ञान (परामर्श) गवय में न होने से उपमान के कार्य उपमिति प्रमा (यथार्थज्ञान) का अनुमान के साथ कुछ संबंध ही नहीं है; अथवा जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता, व्याप्तिज्ञान आदि की अपेक्षा त्याग के केवल उपमान से उत्पन्न गवय पद के शक्तिज्ञान को हम अनुमिति नहीं मानते ४५ ॥

तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः ४६ ॥

और यदि अपनी ओर से व्याप्तिज्ञान की कल्पना करके वहां अनुमिति मानें, तो यह भी नहीं हो सकता; जैसी गौ है, ऐसाही गवय होता है, इतने सादृश्यज्ञान मात्र से

उपमिति उत्पन्न होती है; अर्थात् व्याप्तिज्ञान की अपेक्षात्याग के केवल सादृश्यज्ञान से जो ज्ञान उत्पन्न होता है; उसे अनुमिति कहना सर्वथा युक्ति से विरुद्ध है; किंतु अनुमिति से पृथक् उपमिति प्रमा अवश्य माननी योग्य है; क्योंकि इस पदार्थ को हम अनुमित नहीं करते किंतु उपमित करते हैं; इस अनुव्यवसाय से सिद्ध उपमिति का खंडन नहीं हो सकता ४६ ॥ ∴ ∴ ∴ ॥

इति उपमानपरीक्षाका १८ वां प्रकरण समाप्त हुआ १८ ॥

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ४७ ॥

क्रम से प्राप्त शब्द की परीक्षा करने के अर्थ आदि में पूर्वपक्ष आशंका करते हैं; शब्द (शब्द जन्य ज्ञान) अनुमान (अनुमिति) है; शब्द से कहने योग्य अर्थ जिस से प्रत्यक्ष नहीं, किंतु अनुमेय (अनुमान करने के योग्य) है; इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि शब्द हेतु से अर्थ का ज्ञान अनुमिति है; जिस से प्रत्यक्ष नहीं है ४७ ॥ ⁂ ⁂

उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात् ४८ ॥

और इस हेतु से भी स्पष्ट प्रतीत होता है, कि शाब्दबोध और अनुमिति एक ही हैं; जिस से शब्द जन्य ज्ञान और अनुमानजन्य ज्ञान एक प्रकार का ही होता है; अर्थात् शाब्दत्व, अनुमितित्व दो जाति नहीं हैं; क्योंकि शब्द हेतु ज्ञान की नांई बोध का कारण है; इस से धूम आदि अन्य हेतुओं के ज्ञान से उत्पन्न वह्नि के ज्ञान (पर्वतोवह्निमान्) की नांई शब्द से उत्पन्न ज्ञान भी अनुमिति ही है, अर्थात् अनुमिति से विजातीय कोई शब्द जन्य ज्ञान नहीं है, कि जिस का नाम शाब्दबोध रखें, जब शाब्द प्रमा पृथक् कोई नहीं है; तो शब्दप्रमाण भी अनुमान प्रमाण से पृथक् नहीं है ४८ ॥

सम्बन्धाच्च ४९ ॥

और यह हेतु है, कि शक्ति वा लक्षणा नामी नियत संबंध के ज्ञान (व्याप्तिज्ञान) से ही शाब्दबोध होता है; जब व्याप्तिज्ञान से विना शाब्दबोध नहीं होता, तो शाब्दबोध को अनुमिति कहना ही योग्य है ४९ ॥ ⁂ ॥

आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दार्थसम्प्रत्ययः ५०

सिद्धांत यह है, आप्त (भ्रमआदि से रहित) पुरुष के उपदेश (कथन) की सामर्थ्य (आकांक्षा योग्यता आदिके संबंध) से शाब्दबोध होता है; अथवा आप्त (प्राप्त) उपदेश की सामर्थ्य (आकांक्षाआदिके संबंध) से शाब्दबोध होता है; अर्थात् व्याप्तिज्ञान की अपेक्षा त्याग के आकांक्षा आदि के ज्ञान से पदार्थका संप्रत्यय (शाब्दबोध) होता है; जिस से इस ज्ञान में व्याप्तिज्ञान की अपेक्षा नहीं पड़ती, इस से यह ज्ञान (शाब्दबोध) अनुमिति के अंतरगत नहीं हो सकता, और इस का कारण शब्द अनुमान प्रमाण में नहीं आसकता; किंतु शब्द पृथक् प्रमाण है; और यह अनुभव भी होता है, कि शब्द से इस अर्थ को मैं जानता हूं, न अनुमान से ५० ॥ ❖ ❖

प्रमाणतोऽनुपलब्धेः ५१ ॥

शब्द का अर्थ के साथ व्याप्तिनामी संबंध मानने में कोई प्रमाण नहीं है; अर्थात् शब्द आकाश में रहता है, और अर्थ (घट आदि पदार्थ) भूतल आदि देशोंमें रहते हैं; तो जब शब्द और अर्थ एक अधिकरण में ही नहीं रहते, पुनः व्याप्य व्यापकभाव इन का किसभांति होवे; ५१ ॥ ❖ ❖

पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्चसम्बन्धाभावः ५२ ॥

और यह दोष है, कि अर्थ के साथ शब्द का यदि व्याप्यव्यापकभाव संबंध माना जावे; तो व्याप्यजहां रहता है; वहां व्यापक अवश्य ही रहता है; इस लिये व्याप्य अन्नशब्द के उच्चारण से मुख में व्यापक अन्न अवश्य पूर्णहोना योग्य है;

ऐसे अग्निशब्द के उच्चारण से मुखमें दाह, कुठार शब्द के उच्चारण से मुख का छेदन, अवश्य होजावे; परंतु ऐसा कभी नहीं होता, इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि शब्द का अर्थ के साथ वाच्यवाचकभाव संबंध हो भी, तो व्याप्यव्यापकभाव संबंध किसी भांति भी नहीं बन सकता ५२ ॥

शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः ५३ ॥

इस पर आशंका यह है, कि क्या संबंध से विना ही शब्द अर्थ का बोध कराता है; तो अव्यवस्था होजावेगी, अर्थात् यह नियम कोई नहीं रहेगा, कि घट शब्द से घट का ही बोध होवे, पटआदि पदार्थों का बोध न होवे; किंतु सब शब्दों से सब पदार्थों के बोध की आपत्ति (अतिव्याप्ति) लगेगी; इसलिये स्पष्ट प्रतीत हुआ, अर्थ के साथ शब्द के संबंध का निषेध करना योग्य नहीं है; क्यों कि सब शब्दों से सब अर्थों का बोध कभी नहीं होता, किंतु किसी शब्द से किसी नियत अर्थ का बोध होता है; इस रीति जब संबंध मानलिया, तो उसी संबंध से व्याप्य व्यापकभाव के होने में कोई संदेह नहीं है; परंतु उस संबंधसे मुख का पूरण वा दाह अथवा छेदन कभी नहीं हो सकता, क्यों कि पूरण, दाह आदि का हेतु संयोग संबंध है; प्रकृत में जो वाच्यवाचकभावसंबंध है; वह पूरण, दाह आदिका हेतु नहीं है ५३ ॥

न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य ५४ ॥

नैयायिकों का उत्तर यह है, कि हमारे मत में शब्द और अर्थ की अव्यवस्था (अनियम) नहीं हो सकती; जिस से शब्द जन्य अर्थ का ज्ञान (शाब्दबोध) सामयिक (संकेतज्ञान के-

अधीन) है; परंतु इस शक्ति संबंध से शब्द का अर्थ के साथ व्याप्यव्यापकभाव नहीं हो सकता, क्योंकि यह शक्ति (वाच्यवाचकभाव) संबंध परंपरा रूप होने से वृत्तिता का नियामक (नियमबांधनेवाला) नहीं हो सकता; और व्याप्यव्यापकभाव उसी संबंध से होता है, जो (संबंध) वृत्तिता का नियम बांध सके तो सिद्ध हुआ, कि शब्द का अर्थ के साथ शक्ति संबंध हो भी परंतु इन का व्याप्यव्यापकभाव नहीं बनता;

जातिविशेषेचानियमात् ५५ ॥ ५४ ॥

और यह शक्ति (वाच्यता) संबंध भी स्वाभाविक नहीं, किंतु कल्पित है; क्योंकि यह नियम नहीं है, कि इस शब्द से इसी अर्थ का बोध हो; यथा आर्य (प्राचीन) लोग यव शब्द से बहुत लंबी मोछवाले अन्न का बोध मानते हैं; और म्लेच्छ लोग उसी यव शब्द से कंगू (कङ-नी) का बोध मानते हैं; जब नियम न रहा, तो सब शब्दों से सब अर्थों का बोध होवे; और अनेक शक्ति मानने पर भी जिस अर्थ में जिस शब्द की शक्ति है उस शब्द से उसी अर्थ का बोध होता है ५५ ॥

इति शब्दसामान्यपरीक्षा का १८ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥

१८

* * * *

ते, किंतु कर्म, कर्ता, साधनके वैगुण्य (न्यूनाधिकता) से कार्य (पुत्रोत्पत्ति आदि) का विघात (नाश) होता है; यथा कर्म (क्रिया) का वैगुण्य (विधिसे विरुद्धकरना) कर्ता (यजमान) का वैगुण्य (वेद शास्त्र आदि के ज्ञान से रहित होना) और साधन (घृतआदिसामग्री) का वैगुण्य (अपवित्र और मलिन होना) अर्थात् इन न्यूनताओं से वहां फल नहीं होता, क्योंकि वेद में कहे प्रकार से संपूर्ण कर्म के करने पर यदि फल नप्राप्त होवे, तो वेद में अप्रामाण्य की संभावना होवे; परन्तु वेद में कही रीतिसे कर्म करने में जब कोई न कोई न्यूनता अवश्य रहजाती है; तो उस न्यूनता से ही फल का विघात होजावेगा; इस (फल के विघात) निमित्त को लेकर वेद को अप्रमाण कहना, सर्वथा युक्ति से विरुद्ध है; अर्थात् इस सूत्र से यह सिद्ध हुआ, कि वेद के वाक्यों से मिथ्या अर्थ निकलते हैं; इस से वेद अप्रमाण हैं; यह कथन सर्वथा असंगत है ५७ ॥

अभ्युपेत्यकालभेदेदोषवचनात् ५८ ॥

व्याघात (परस्परविरोध) दोष का परिहार करते हैं; पीछे कहा हुआ तुमारा वाक्य विरोध नहीं आसकता; अग्निहोत्र कर्म के प्रारंभ में इन (उदित, अनुदित, समयाध्युषित) में से जो समय मान लिया पीछे से उस समय को त्याग के यदि अन्य समय में कर्म (हवन आदि) करे तो दोष कहा है; इस से विरोध का भ्रम मात्र ही है, यथार्थ कोई विरोध नहीं है ५९ ॥

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ५६ ॥

दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ भेद से शब्द दो प्रकार का कह आये हैं; उन में से अदृष्टार्थ शब्द (वेद) के प्रामाण्य की परीक्षा करने के अर्थ आदि में पूर्वपक्ष (आशंका) करते हैं; कि वह (अदृष्टार्थशब्दवेद) प्रमाण नहीं है; अनृतत्व (झूठ) आदि दोषों से, यथा पुत्र की कामना से जो पुत्रेष्टी यज्ञ करना लिखा है, परंतु कहीं पुत्रेष्टी यज्ञ करने से भी पुत्र नहीं उत्पन्न होता, इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि वेद में कहे पदार्थ अनृत (झूठे) हैं; इसी भांति व्याघात (परस्परविरोध) भी आता है; जैसे लिखा है, कि सूर्य के उदय होने पर हवन करना है; सूर्य के उदय होने से पहिले हवन करना है; समय विता कर हवन करना है; ऐसा लिख के पुनः लिखा है, कि जो सूर्य के उदय होने पर हवन करता है; उसकी आहुति को श्याव नामी कुत्ता खाता है; और जो उदय से पहिले हवन करता है उस की आहुति को शबल नामी कुत्ता खाता है; और जो समय विता के हवन करते हैं, उनकी आहुति को श्याव, शबल ये दोनों कुत्ते खाते हैं, यहां पहिले कहे वाक्यों का उत्तर वाक्यों से स्पष्ट विरोध आता है; इसी रीति एक २ ऋचा को तीन २ वेर पढ़ने से पुनरुक्ति दोष आता है; इन वाक्यों के अप्रामाण्य से इनके सजातीय सारे वेदवाक्य अप्रमाण प्रतीत होते हैं ३६ ॥

* * * *

न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ५७ ॥

सिद्धांत यह है, कि वेद किसी रीति अप्रमाण नहीं होसक-

ते, किंत कर्म, कर्त्ता, साधनके वैगुण्य (न्यूनाधिकता) से कार्य (पुत्रोत्पत्ति आदि) का विघात (नाश) होता है; यथा कर्म (क्रिया) का वैगुण्य (विधिसे विरुद्धकरना) कर्त्ता (यजमान) का वैगुण्य (वेद शास्त्र आदि के ज्ञान से रहित होना) और साधन (घृतआदिसामग्री) का वैगुण्य (अपवित्र और मलिन होना) अर्थात् इन न्यूनताओं से वह फल नहीं होता, क्योंकि वेद में कहे प्रकार से संपूर्ण कर्म के करने पर यदि फल नप्राप्त होवे, तो वेद में अप्रामाण्य की संभावना होवे; परंतु वेद में कही रीतिसे कर्म करने में जब कोई न कोई न्यूनता अवश्य रहजाती है; तो उस न्यूनता से ही फल का विघात होजावेगा; इस (फल के विघात) निमित्त को लेकर वेद को अप्रमाण कहना, सर्वथा युक्ति से विरुद्ध है; अर्थात् इस सूत्र से यह सिद्ध हुआ, कि वेद के वाक्यों से मिथ्या अर्थ निकलते हैं; इस से वेद अप्रमाण हैं; यह कथन सर्वथा असंगत है ५७ ॥

अभ्युपेत्यकालभेदेदोषवचनात् ५८ ॥

आघात (परस्परविरोध) दोष का परिहार करते हैं; पीछे कहा हुआ तुमारा वाक्य विरोध नहीं आसकता; अग्निहोत्र कर्म के प्रारंभ मे इन (उदित, अनुदित, समयाध्युषित) में से जो समय मान लिया पीछे से उस समय को त्याग के यदि अन्य समय में कर्म (हवन आदि) करे तो दोष कहा है; इस से विरोध का भ्रम मात्र ही है, यथार्थ कोई विरोध नहीं है ५८ ॥

अनुवादोपपत्तेश्च ५९ ॥

इसी रीति पुनरुक्ति दोष भी नहीं आता, किंतु पुनः पुनः कथन से अनुवाद प्रतीत होता है; क्योंकि विना किसी प्रयोजन के एक वाक्य को कई वेर कहते जाना, पुनरुक्ति दोष होता है; और किसी प्रयोजन से एक वाक्य को कई वेर कहना अनुवाद होता है; प्रकृत में ९ ऋचाओं में से पहिली और पीछली को तीन तीन वेर पढ़ने का यह प्रयोजन है, जो मुझ से प्रेम नहीं करता, और जिसको मैं प्रीति नहीं करता: इस भतीजे को मैं पंद्रह धारवाले वाणी के वज्र से बाधा (पीड़ा) देता हूं; इस श्रुति से स्पष्ट प्रतीत होता है, पंद्रह आवरण बनाने के प्रयोजन से ये दो ऋचा तीन ३ वेर पढ़ी गई हैं; इससे यह अनुवाद है, पुनरुक्ति नहीं है ५९

वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ६० ॥

अनुवाद में पुनः कथन सार्थक होता है, इस में प्राचीनों की संमति दिखाते हैं; वाक्यों में से अनुवाद नामी वाक्य में शिष्टों ने किसी प्रयोजन से पुनः कथन माना है; जिस से शिष्टों ने विधायक, अनुवादक आदि वाक्यों के भेद दिखाके अनुवादक वाक्यों की भी सार्थकता कही है; इसी भांति वेद में भी अनुवादक वाक्य सार्थक ही माने हैं; ६०

विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ६१

वेद में वाक्यों के भेद दिखाते हैं, मंत्र, ब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध वेद के दो भाग हैं; इन दोनों में से ब्राह्मण भाग के तीन आवांतर भेद हैं; यथा (१) विधिवचन, (२) अर्थवादवचन, (३) अनुवादवचन; ६१ ॥

विधिर्विधायकः ६२ ॥

इन तीनों में से विधिवाक्य का लक्षण करते हैं; इष्टसिद्धि के बोधक (विधि लिङ्-तव्य आदि कृत्य) प्रत्यय जिस वाक्य में हों, उसे विधिवाक्य कहते हैं; यथा अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः इत्यादि इस वाक्यमें जुहुयात् क्रिया हु धातु से विधि लिङ् के प्रथम पुरुष का एकवचन आके बनी है; इससे यह विधिवाक्य है; विधि में कहे अर्थको स्तुति करके शीघ्र ग्रहण करना अर्थवाद का प्रयोजन है ६२ ॥ ∴

स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ६३ ॥

यह अर्थवाद स्तुति, निंदा, परकृति और पुराकल्प इस भेद से चार प्रकार का है, इनमें से विधि के अर्थ की जो स्तुतात् प्रशंसा करे, उसे स्तुति वाक्य कहते हैं, यथा सब की प्राप्ति के अर्थ और सब को जीतने के अर्थ देवताओं ने सर्वजित् नामी यज्ञ से सब का यजन (इजन) किया; क्योंकि इस यज्ञ से मनुष्य सब को जीतलेता है और सब को प्राप्त होता है; नकरने से अनिष्ट (हानि) दिखा कर जो वाक्य विधि के अर्थ का ग्रहण करावे, उसे निंदा वाक्य कहते हैं, यथा यह ज्योतिष्टोमयज्ञ संपूर्ण यज्ञों में प्रथम (प्रधान) है, जो मनुष्य इस (ज्योतिष्टोम) के किये विना अन्य यज्ञ को करता है; वह नरक में पड़ता है, इत्यादि और जो वाक्य मनुष्यों के कर्मों में परस्पर विरोध दिखावे, उसे परकृति कहते हैं; यथा हवन कर के कोई तो वपा (मज्जा) को स्रुवे से प्रणीता पात्र में डालते हैं; और कोई हुत को डालते हैं; चरक अध्वर्यु तो हुत को ही डाल के कहते हैं,

कि अग्नि के प्राण हुत ही है; इहां से सुन के पुरानी बातका कथन पुराकल्प है; यथा ब्राह्मणों ने इसरीति प्रगटरूप सामवेद की स्तुतिकी ६३ ॥ ∴ ∴ ∴

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ६४ ॥

अनुवाद का लक्षण यह है, प्राप्त (कहे) पदार्थ का अनु (पीछे से) वाद (किसीप्रयोजन से कथन) अनुवाद होता है; यह अनुवाद दो प्रकार का है, विध्यनुवाद और विहितानुवाद इस सूत्र में तो विध्यनुवाद का लक्षण किया है; कि विधि में कहे अर्थ को किसी प्रयोजन से पुनः कहना, विध्यनुवाद होता है; यह अर्थवाद और अनुवाद विधिवाक्यों काही विभाग जानना; इस से वेदांत में कहे भूतार्थवाद का वर्णन यहां नहीं भी किया, तो न्यूनता कोई नहीं जाननी, क्यों कि यह भूतार्थवाद किसी विधि से संबंध नहीं रखता; ६४ ॥ ∴ ∴ ∴

नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः
शब्दाभ्यासोपपत्तेः ६५ ॥

इस अवसर में यह आशंका होती है, कि शब्द (एक वार कहे, शब्द) का अभ्यास (पुनः कथन) दोनों (अनुवाद, पुनरुक्त) में तुल्य है; इस लिये पुनरुक्त से पृथक् अनुवादका मानना सर्वथा असंगत प्रतीत होता है; अर्थात् पुनरुक्त और अनुवाद ये दोनों शब्द विप्र और ब्राह्मण शब्दों की नाईं एक अर्थ का ही बोध कराते हैं ६५ ॥

शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्या सान्नाविशेषः ६६ ॥

उत्तर यह है, कि पुनः कथन मात्र से पुनरुक्त और अनुवाद एक नहीं होसकते, क्यों कि पुनरुक्त में व्यर्थ ही एक वाक्य को कई बेर कह देते हैं; और अनुवाद में तो किसी प्रयोजन से पुनः कथन होता है; यथा जगत में चलो ऐसा कह कर पुनः चलो २ कहना, शीघ्रता को जना रहा है; इसीरीति सार्थक पुनः कथन को अनुवाद और व्यर्थ पुनः कथन को पुनरुक्त कहते हैं; यह भेद है ६६ ॥ ∴ ∴

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामा ण्यमाप्तप्रामाण्यात् ६७ ॥

इसीरीति अप्रामाण्य का निषेध करके शब्द में प्रामाण्य की सिद्धि करते हैं; आप्त (वेद के कर्ता ईश्वर) के कहे सब वाक्य यथार्थ होने से प्रमाण हैं; जैसे वैदिक मंत्रों (विष आदिको नाश करनेवालों) के वाक्य और आयुर्वेद (चिकित्सा) के वाक्य यथार्थ फल देने से प्रमाण हैं; इसीभांति संपूर्ण वेदों के वाक्य भी ईश्वर के कहे हुए हैं; इस से यथार्थ प्रमाण हैं ६७ ॥ ∴ ∴ ∴

इति शब्द की विशेष परीक्षा का १९ वां. प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ∴ ॥ इतिश्रीविश्वनाथपंचाननकी बनाई न्यायसूत्रवृत्ति में विभाग की अपेक्षात्याग के अंग सहित प्रमाणों की परीक्षा का २ य. अध्याय में १ म. आह्निक समाप्त हुआ ॥ ∴ ∴ ∴ ॥

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् १ ॥

विशेष विभाग करने के अनन्तर होने योग्य प्रमाणों की परीक्षा करते हैं; इस आह्निक में चार प्रकरण हैं; आदि में प्रमाणों की चार संख्या के विचार का प्रकरण है; और जहां जहां आवेंगे, उनके नाम वहीं ही लिखे जावेंगे; इस सूत्र से आक्षेप किया है, कि प्रमाण चार ही हैं, यह कथन सर्वथा असंगत प्रतीत होता है; जिस से ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव, अभाव नामी अन्य प्रमाण भी विद्यमान हैं; प्राचीन लोग कहते थे, कि वट के वृक्षों पर यक्ष रहते हैं; ऐसे परंपरा से होने वाक्य को ऐतिह्य कहते हैं; परंतु यह वाक्य किसी आप्त (यथार्थकहनेवाले) का कहा है, वा किसका कहा है, ऐसा निश्चय न होने से यह (ऐतिह्य) शब्द प्रमाण के अन्तरगत नहीं, किंतु पृथक् प्रमाण है; और अनुपपन्न अर्थ (कार्य) से उपपादक (कारण) की कल्पना अर्थापत्ति होती है, जैसे वृष्टि से मेघ की कल्पना करते हैं; परंतु वृष्टि पृथ्वी पर होती है, और मेघ आकाश में रहते हैं; इस (आश्रयों के) भेद से व्याप्तिज्ञान की अनुपपत्ति होजाने पर यह (अर्थापत्ति) अनुमान के अंतरगत नहीं किंतु पृथक प्रमाण है इसीरीति भूयः (वारंवार) सहचार (इकट्ठेरहने) के ज्ञान से जो ज्ञान हो, उसे संभव कहते हैं; यथा यह मनुष्य अवश्य विद्वान् है, जिस से ब्राह्मण है; अथवा यहां सौ रुपया अवश्य है, जिस से यहां सहस्र रुपया है; परंतु यह (संभव) व्याप्ति की अपेक्षा

नहीं रखता, इस से यह अनुमान के अंतरगत नहीं किंतु संभव भी पृथक प्रमाण है; और एक विरोधी के अभाव के ज्ञान से दूसरे विरोधी की कल्पना को अभाव कहते हैं; यथा नकुल के अभाव का निश्चय करके नकुल के विरोधी सर्पकी कल्पना करनी; कि यहां सर्प अवश्य है, जिस से यहां नकुल नहीं है; परंतु यह (अभाव) भी व्याप्ति की अपेक्षा नहीं रखता, इस से अनुमान के अंतरगत नहीं, किंतु पृथक प्रमाण है; अथवा कारणाभाव के ज्ञान से कार्याभाव की कल्पना को अभाव प्रमाण कहते हैं; यद्यपि यहां व्याप्ति भी होती है, तोभी जिन्हों ने भावों की व्याप्ति ही अनुमान का अंग मानी है; उनके मत से यह अनुमान के अंतरगत नहीं किंतु पृथक प्रमाण है; अर्थात् आठ प्रमाण कहे १ ॥

शब्दऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः २ ॥

सिद्धांत यह है, कि प्रमाणों की चारसंख्या का जो खंडन करते हो, वह योग्य नहीं है; जिस से ऐतिह्य तो शब्द प्रमाण के अंदर आजाता है, शाब्दबोध का कारण आप्तोक्तत्व का ज्ञान सामान्यरूपसे (निश्चय वा संशय) रहगया; अथवा आप्तोक्तत्व का ज्ञान शाब्दबोध में कारण नहीं है; किंतु आकांक्षा आदि का ज्ञान शाब्दबोध में कारण है; और योग्यता के यथार्थ ज्ञान से शाब्दबोध भी यथार्थ होता है; इसी रीति अर्थापत्ति आदि भी अनुमान में आजा

ते हैं; जिस से व्याप्तिज्ञान के विना कार्य से कारण का ज्ञान होना अतिकठिन है: वृष्टित्व में मेघजन्यत्व की व्याप्ति बनी ही है; और संभव जो व्याप्ति की अपेक्षा से ग्रहण हुआ, वह अनुमान में आजाता है; और जो व्याप्ति से विना ग्रहण हो, वह व्यभिचार दोष से अप्रमाण है; इसी रीति अभाव जो व्याप्ति की अपेक्षा से ग्रहण हुआ, वह अनुमान में आगया, और जिस में व्याप्ति नहीं, वह प्रमाण नहीं; अभावों की व्याप्ति को अनुमान का अंग मानने में कोई विरोध नहीं है २ ॥

अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ३

अर्थापत्ति यदि प्रमाण हो, तो पीछे से यह विचार होता है, कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में अर्थापत्ति आती है, अथवा पृथक् प्रमाण है; इस पर तटस्थ की यह आशंका है, कि मेघ से विना वर्षा नहीं होती, अर्थात् मेघ के होने पर वृष्टि अवश्य होती है; यह अर्थापत्ति प्रमाण नहीं है, बहुत स्थानों में मेघ के होने पर भी वर्षा नहीं होती, इस व्यभिचार दोष से ३ ॥

⁂ ⁂ ⁂

अनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानात् ४ ॥

उत्तर यह है, कि अर्थापत्ति में व्यभिचार दोष नहीं लगता, क्यों कि मेघ से विना वर्षा नहीं होती, और जहां वर्षा होती है, वहां मेघ अवश्य होते हैं; इस अर्थापत्ति में कोई दोष नहीं आता, किन्तु जहां मेघ हो, वहां वृष्टि अवश्य होती है, इस अनर्थापत्ति (अर्थापत्ति के भ्रम) में तुमने व्यभिचार दोष दिया है; इस से अर्थापत्ति का खण्डन नहीं हो सकता; जैसे अयथार्थ व्याप्तिज्ञान से अयथार्थ-

अनुमिति होती है; परंतु इस व्याप्ति भ्रम के खंडन से अनुमान प्रमाण का खंडन कभी नहीं हो सकता; इसी रीति अर्थापत्ति के भ्रम का खंडन करने से अर्थापत्ति का खंडन नहीं हो सकता ४ ॥

⁂ ⁂ ⁂

प्रतिषेधाप्रामाण्यं चानैकान्तिकत्वात् ५ ॥

तुम ने जो अर्थापत्ति का खंडन किया है, वह व्यभिचार दोष से अप्रमाण है; अर्थात् किसी अर्थापत्ति (भ्रम) में यह दोष लगता है, और किसी (यथार्थ अर्थापत्ति) में यह दोष नहीं लगता; तो इस व्यभिचार दोष से यह निषेध, स्वयं अप्रमाण हो के अर्थापत्ति का खंडन क्या करेगा, ५ ॥

तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्त्यप्रामाण्यम् ६ ॥

और व्यभिचार दोष लगने पर भी यदि इस निषेध को प्रमाण मान लो, तो कहीं व्यभिचार लगने पर भी अर्थापत्ति को हम प्रमाण मान लेवेंगे; क्योंकि संपूर्ण स्थलों में तो व्यभिचार लगता ही नहीं है, और किसी एक स्थल के व्यभिचार को तुम प्रतिबंधक नहीं मानते; ६ ॥

⁂

नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः ७ ॥

तटस्थ की यह आशंका है, कि अभाव नामी प्रमाण नहीं मानना; क्योंकि अभावनामी प्रमाण तब सिद्ध होवे, यदि अभाव का कोई प्रमेय (ग्रहण करने के योग्य पदार्थ) सिद्ध होलेवे; परंतु अभाव एक तुच्छ पदार्थ है, उसे प्रमेय नहीं कह सकते, इस तुच्छ में प्रमाण की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती ७ ॥

⁂ ⁂ ⁂

लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादल
क्षितानांतत्प्रमेयसिद्धेः ८ ॥

सिद्धांत यह जानना, अभाव प्रमाण का भी प्रमेय (ग्रहण करने के योग्यपदार्थ) सिद्ध हो सकता है; कौन सा वह प्रमेय है, यह दिखाते हैं; कि घट आदि पदार्थों का जब प्रत्यक्ष होता है; तो उस घट आदि की नांई जिस (घटाभाव) का प्रत्यक्ष नहीं होता, वह अभाव प्रमाण से ग्रहण करने के योग्य प्रमेय है; यद्यपि गुण, कर्म, जाति के द्वारा अभाव का लक्षण कुछ नहीं कर सकते; तो भी अलक्षण (लक्षणाभाव) ही अभाव का लक्षण जानना; जैसे किसी ने कहा, कि अनील (नीलसे भिन्न) को ले आओ, यहां नीलाभाव (नीलभेद) ही औरों से व्यावृत्ति (पृथक्) करने का हेतु लक्षण है; इस से सिद्ध हुआ, कि अभाव अप्रमाणिक नहीं है ८ ॥ ❖ ❖

असत्यर्थेनाभावइतिचेन्ना
न्यलक्षणोपपत्तेः ९ ॥

आक्षेपकार के समाधान करते हैं; कि बिना प्रतियोगी के अभाव का कथनही असंगत है; और यदि प्रतियोगी हो, तोभी उसका अभाव कैसे कहाजावे; उत्तर यह है किसी एकस्थान में प्रतियोगी के ज्ञान से अन्यस्थान में अभाव का ज्ञान होता है; उसीस्थान में प्रतियोगी की आवश्यकता नहीं है ९ ॥ ❖ ❖ ❖

तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः १० ॥

इस पर आशंका यह है, कि जिस वस्तु का स्वरूप जाना

जाय, उसीवस्तु को लक्षण इतर पदार्थों से पृथक् सिद्ध करता है; तो प्रकृत में अभाव का स्वरूप कोई नहीं जानाजाता, इसलिये कोई भी लक्षण अभाव को इतर पदार्थों से पृथक् नहीं सिद्ध कर सकता; अर्थात् प्रथम तो अभाव का लक्षण कोई नहीं बनता, यदि बहुत कठिनता से लक्षण बनावें भी तो निष्फल होजाता है; १० ॥ ∴

नलक्षणावस्थितापेक्षसिद्धेः ११ ॥

उत्तर यह है, प्रतियोगी के लक्षण की व्यवस्था बांधने से ही अभाव का लक्षण भी सार्थक होजाता है; अर्थात् प्रतियोगी के स्वरूप का निरूपण करने से ही विरोधीमुद्रा से अभाव के स्वरूप का निरूपण भी होजाता है; पृथक् अभाव के स्वरूप अथवा लक्षण के निरूपण की कोई आवश्यकता नहीं है; यथा घट के ज्ञान सेही घटाभाव का, ज्ञान होता है; कि यहां घट है, यहां नहीं है; यह घट का न होना ही घटाभाव है; जिसका पूर्ण ज्ञान घट के ज्ञान से ही होता है ११ ॥ ∴ ∴

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च १२ ॥

इस सूत्र में ८ वें सूत्र से अनुवृत्ति करके मंडूकप्लुति से 'प्रमेयसिद्धिः इतना ले आते हैं; अर्थ यह होता है, कि पदार्थ की उत्पत्ति से प्रथम यह पदार्थ उत्पन्न होगा; अभी नहीं (उसका अभाव) है; यह प्रागभाव की प्रतीति संपूर्ण लोगों में प्रसिद्ध है; इस से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि वस्तु की उत्पत्ति से पहिले वर्त्तमान उस वस्तु का अभाव अनुपलब्धि नामी प्रमाण के द्वारा ग्रहण करने के योग्य प्रमेय है;

इस सूत्र में चकार देने से यह भी प्रतीत होता है; कि वस्तु के नाश से अनंतर उस वस्तु का ध्वंस नामी अभाव भी विना विवाद के सारे लोगों में प्रसिद्ध अनुपलब्धि से ग्रहण करने के योग्य प्रमेय है; जिससे स्वाभाविक यह प्रतीति होती है; कि वह वस्तु थी, अब नहीं है, परंतु पीछे यह सिद्ध कर चुके हैं, कि अभाव (अनुपलब्धि) अनुमान के ही अंतरगत है; और चेष्टा (हाथ, अंगुली आदि दिखाने का संकेत) स्वयं व्यापार रूप है, आगे उस (चेष्टा) का व्यापार कोई नहीं है, परंतु व्यापार से विना प्रमाण (प्रमा के करण) का होना असंभव है, इस से चेष्टा नामी पृथक् प्रमाण नहीं है; वास्तव लेख की नांई संकेत रूप होने से चेष्टा भी अनुमान के अथवा शब्द के अंतरगत है; पृथक् प्रमाण नहीं है; तो सिद्ध हुआ, चार ही प्रमाण हैं; न्यून वा अधिक नहीं हैं १२ ॥ ⁂

इति प्रमाणों में चार संख्या की सिद्धि का २१ वां० प्रकरण-समाप्त हुआ ॥ ⁂ ⁂ ⁂ ॥

विमर्शहेत्वनुयोगेचविप्रतिपत्तेःसंशयः १३ ॥

जिससे वेद आप्तों (प्रमाणामनुष्यों) के कहे हुए हैं; इस से प्रमाण हैं, परंतु यह बात योग्य नहीं प्रतीत होती जिस से वेद नित्य हैं, इस आशंका पर यह विचार किया गया है; कि वर्ण (अक्षर) जब अनित्य हैं, तो वर्णों का समूह वेद कैसे नित्य है, इस आशय को लेके शब्द को अनित्यत्व सिद्ध करने का प्रकरण चलाया है; आदि में यह पूर्वपक्ष (आशंका) का सूत्र है, विमर्श (संशय) के हेतु (कारण) का अनुयोग (संबंध) होने पर विप्रतिपत्ति (दो विरुद्ध पक्षों के बोधक शब्द) से यह संदेह हुआ है, कि शब्द नित्य है, अथवा नहिं अर्थात् शब्द आकाशविभु का विशेषगुण होने से ईश्वरविभु के विशेषगुण ज्ञान आदि की नाईं क्या नित्य है; अथवा शब्द आकाश नामी जड़ (ज्ञानशून्य) पदार्थ का विशेषगुण होने से पृथ्वी आदि जड़ पदार्थों के विशेषगुण गंधआदि की नाईं क्या अनित्य है, इन अनित्यत्व के साधक दृष्टांतों से और नित्यत्व के साधक दृष्टांतो से अंत में फल यह ही निकलता है, कि शब्द नित्य है, अथवा अनित्य है; क्योंकि नित्यत्व और अनित्यत्व इन दोनों पक्षों के साधक हेतु विद्यमान हैं; तो निश्चित नहीं कहा जाता, कि शब्द नित्य ही है, अथवा अनित्य ही है; १३ ॥ ⁂ ⁂

आदिमत्वादैन्द्रियकत्वात्कृतकवदुपचाराच्च ४

यह गौतम का सिद्धांत है, कि शब्द अनित्य है, जिससे आदि (उत्पत्ति) वाला है; अर्थात् किसी कारण से उत्पन्न होता है, इस पर यह आशंका है, कि कंठतालु आदि

का अभिघात (टकरना) तो शब्द का व्यंजक (प्रगटकरनेवाला) है; शब्दका कारण कोई नहीं है, पुनः शब्द के अनित्य होने में क्या हेतु है; इस से और हेतु दिया है, "ऐन्द्रियकत्वात्" अर्थात् बहिरिंद्रिय से जिस २ पदार्थका प्रत्यक्ष होता है, वे रूपआदि पदार्थ अनित्य होते हैं; ऐसे शब्द का भी बहिरिंद्रिय (श्रोत्र) से प्रत्यक्ष होता है, इससे शब्द अवश्य अनित्य है; कोई आचार्य इस हेतु का यह अर्थ करते हैं, कि लौकिक प्रत्यक्ष का विशेष्य (प्रधान) होनेसे शब्द अनित्य है; जाति और समवाय ये दोनों लौकिकप्रत्यक्षमें विशेषण (अप्रधान) ही होते हैं; और जातित्व का प्रत्यक्ष ही नहीं होता; औरमनको इंद्रिय नहीं मानते, अथवा आत्मा का मानस प्रत्यक्ष भी नहीं मानते, इससे आत्मा में व्यभिचार नहीं लगता; परंतु व्यभिचार संदेह के वारक तर्क के नहोने से इस हेतु का भी खंडन कर देते हैं; इस से तीसरा "कृतकवदुपचारात्" हेतु दिया है, अर्थात् घट आदि जिन २ पदार्थोंका कार्यत्व धर्म से प्रत्यक्ष होता है, वे अनित्य हैं, और शब्द का भी कार्यत्व धर्म से प्रत्यक्ष होता है, इस से शब्द अवश्य अनित्य है; औरकोई यूंभी कहते हैं, उपचार (विनाश) से अन्यकार्यों की नांई शब्द भी अनित्य है; औरकोई यूंभी कहते हैं, कृतकसुखआदिकी नांई तीव्रमंदआदिव्यवहार से शब्द अनित्य है; नित्यपदार्थों में तीव्रता और मंदताकभी नहीं होती ४ ॥

⁂ ⁂

नघटाभावसामान्यनित्यत्वान्नित्ये
ष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च १५ ॥

पूर्व कथित शब्द के अनित्यत्व के साधक तीनों हेतुओं में व्यभिचार दोष सांख्यकार देता है; कि तुमारे हेतु योग्य नहीं हैं, जिससे घट का अभाव (ध्वंस) और सामान्य (जाति) नित्य है; औरनित्यों (आकाशआदि) में भी अनित्यों की नाईं उपचार (तीव्रमंद आदिव्यवहार) होता है; अर्थात् घटध्वंस दंड आदि कारणों से उत्पन्न तो होता है, परंतु नाश के नहोने से नित्य है, इस से आदिमत्व हेतु व्यभिचारी (अप्रमाण) है, और सामान्य (घटत्व आदि जाति) का प्रत्यक्षतो होता है, परंतु यह (सामान्य) अनित्य नहीं, किंतु नित्य है, इससे ऐन्द्रियकत्व हेतु भी व्यभिचारी (अप्रमाण) है; इसी रीति आकाश में घटाकाश उत्पन्न हुआ, मठाकाश उत्पन्न हुआ, ऐसे घट आदि कार्यों की नाईं व्यवहार होते हैं; परंतु वह (आकाश) अनित्य नहीं किंतु नित्य है; और आत्मा में अब मैं बहुत सुखी हूं, अब थोड़ा सुखी हूं, इत्यादि तीव्रमंद व्यवहार अन्य कार्यों की नाईं होते हैं, परंतु यह (आत्मा) अनित्य नहीं, किंतु नित्य है; इस से तीसरा उपचार हेतु भी व्यभिचारी होने से अप्रमाण है; इन तीनों हेतुओं में व्यभिचार (हेतु के होने पर साध्यका नहोना) दोष लगने से स्पष्ट प्रतीत हुआ, शब्द अनित्य नहीं, किंतु नित्य है, कंठ तालु आदि के अभिघात (टकराने) से प्रगट होजाता है; सूक्ष्म रूप से पहिले ही विद्यमान होता है, इस से शब्द नित्य है।

तत्वभाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचारः १६ ॥

पहिले आदिमत्व हेतु से व्यभिचार दोष का उद्धार करते हैं, तत्व(यथार्थ) और भाक्त(कल्पित) भेदों के विभाग(अन्तर) से व्यभिचार दोष नहीं आता, अर्थात् ध्वंस में आदिमत्व(किसी कारण से उत्पन्न होना) हेतु जब रहता है, तो नित्यत्व (ध्वंस के प्रतियोगीनहोना, और प्रागभाव के प्रतियोगी नहोना) का अभाव अनित्यत्व साध्यभी अवश्य रहता है; इस से व्यभिचार दोष नहीं लगता; अर्थात् नाश के नहोने से जो नित्यत्व आपने ध्वंस में माना है वह औपचारिक(कल्पित) है; हम ने यथार्थ नित्यत्व का अभाव अनित्यत्व साध्य किया है; अथवा आदिमत्व हेतु का अर्थ और ही है कि प्रागभाव का प्रतियोगी जो सत्ता वाला है वह अनित्य है, ऐसाअनुमान बनालेते हैं; यद्यपि ध्वंस प्रागभाव का प्रतियोगी है, परंतु सत्तावाला नहीं है; इस से ध्वंस में हेतु ही नहीं जाता तो व्यभिचार कहां से लगना था अर्थात् हमारे अभिलषित हेतु(प्रागभाव के प्रतियोगी होके सत्तावाले होना) में तुम व्यभिचार नहीं देसकते, किंतु अन्य (कल्पित) हेतु में व्यभिचार तुमने दिया है; इस से हमारे पक्ष की कुछ हानिनहीं है १६ ॥ ⁂ ⁂

सन्तानानुमानविशेषणात् १७ ॥

दूसरे ऐन्द्रियकत्व हेतु से व्यभिचारदोष का उद्धार करते हैं; अनुमान(अनुमिति के करण हेतु) में सन्तान(जातिमत्व) विशेषण देने से व्यभिचार दोषका वारण होजाता है; अर्थात् यद्यपि जाति का प्रत्यक्ष तो होता है; तोभी

जाति में जाति के न रहने से हेतु ही नहीं रहा, तो व्यभिचार कहां से लगता था; १७ ॥

**कारणद्रव्यस्यप्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्ये
ष्वप्यव्यभिचारइति १८ ॥**

तीसरे उपचार हेतु से व्यभिचार दोष का वारण करते हैं, कारणद्रव्य (कारण वाले अनित्यद्रव्य) का प्रदेशशब्द के द्वारा अभिधान (कथन) से नित्यों (आकाश आदि) में अनित्यों की नाईं प्रदेश व्यवहार के न होने से व्यभिचार नहीं आता; अर्थात् आकाश आदि में प्रदेश व्यवहार गौण होता है, मुख्य नहीं होता, क्योंकि आकाश आदि नित्य पदार्थों का कारण ही कोई नहीं होता; इसी रीति अब मैं बहुत सुखी होगया हूं, इत्यादि प्रतीतिओं से तीव्रता, मंदता, अथवा उत्पत्ति सुख की ही जाननी योग्य है; आत्मा में तीव्रता वा मंदता वा उत्पत्ति की प्राप्ति ही नहीं है, और जिन (सुखआदि) में इन (तीव्रता आदि) की प्राप्ति है, उन (सुखआदि) के अनित्य होने में कोई संदेह ही नहीं है; अर्थात् उक्त तीनों हेतुओं से व्यभिचार दोषों के उद्धार से सिद्ध हुआ, कि शब्द अनित्य ही है १८ ॥

**प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावर
णाद्यनुपलब्धेश्च १९ ॥**

विरुद्ध पक्ष (शब्द को नित्य सिद्ध करनेवाले) के निषेध करनेवाले तर्कों से निश्चित होता है, कि उक्त हेतुओं में अप्रयोजकत्व दोष भी नहीं आता; उच्चारण से प्राक् (पहिले) प्रत्यक्ष के न होने से और आवरण (रोकने के-

हेतु पदार्थ) के नदीखने से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि शब्द अनित्य है; अर्थात् शब्द यदि नित्य होवे, तो उच्चारण से पहिले भी अवश्य सुनने में आवे; क्योंकि श्रोत्र इंद्रिय के साथ समवाय संबंध तो नित्य होने से पहिले ही बना है; और प्रतिबंधक कोई देखने में नहीं आता, कि जिसने शब्द के होने पर भी प्रत्यक्ष को रोक दिया हो; और शब्द अन्य स्थान में चला जाता है, इस से प्रत्यक्ष नहीं होता; यह भी नहीं कहसकते, जिस से शब्द अमूर्त (मूर्त द्रव्यों से भिन्न) है; इसलिये शब्द में क्रिया (गति) किसी भांति भी नहीं हो सकती; और परमाणु आदि अतींद्रिय अनंत पदार्थों को शब्द के प्रत्यक्ष में प्रतिबंधक मानने की अपेक्षा शब्द को अनित्य मानने में ही लाघव है; अनंत अतींद्रिय पदार्थों को प्रतिबंधक मानने से महागौरव दोष आता है १९ ॥ ❖

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः २०

किसी भ्रांतियुक्त पुरुष की आशंका इन दो सूत्रों से प्रगट की गई है; आवरण की अनुपलब्धि (नदीखने) के अनुपलंभ (नदीखने) से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि किसी आवरण (प्रतिबंधक) की उपपत्ति (सिद्धि) अवश्य होती है, अर्थात् जैसे आवरण का न प्रत्यक्ष होने से तुम आवरण के अभाव की कल्पना करते हो, कि आवरण कोई नहीं है; इसी भांति आवरण की कल्पना करते हैं; कि कोई आवरण अवश्य है; २० ॥

❖ ❖ ❖

अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भाववन्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् २१ ॥

अनुपलब्धि (नप्रत्यक्षहोने) के अनुपलम्भ (नप्रत्यक्षहोने) से भी यदि तुम अनुपलब्धि का अभाव (आवरण का प्रत्यक्ष) न मानो, किन्तु अनुपलब्धि (आवरण के प्रत्यक्ष का अभाव) ही मानो; तो इसीरीति आवरण का नप्रत्यक्ष होने पर भी हम आवरण का अभाव (नहोना) नहीं मानेंगे, किन्तु आवरण कोई है, तो सिद्ध ऊआ, कि कंठतालु आदिके अभिघात (टकराने) से जब आवरण दूर होता है; इससे पहिले शब्द विद्यमान भी है, परंतु वही आवरण प्रत्यक्ष को नहीं होने देता; शब्द नित्यही है २१

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः २२

सिद्धांत यह है, कि आवरण के नप्रत्यक्ष के नप्रत्यक्ष से जो आवरण की सिद्धि कही है; यह जाति (दुष्ट) उत्तर है, अपने पक्ष की हानि कोही सिद्ध करता है मेरे मत का निषेध नहीं करसकता, जिस से अनुपलब्धि (प्रत्यक्ष का नहोना) अनुपलम्भ (ज्ञानाभाव) का स्वरूप है; परंतु ज्ञान का प्रत्यक्ष मन से होता है, तो मन से ज्ञानाभाव का प्रत्यक्ष होने में कोई विवाद नहीं है; पुनः अनुपलब्धि (ज्ञानाभाव) का अनुपलम्भ (प्रत्यक्षनहोना) यह कथन सर्वथा असंगत है; अर्थात् शब्द अनित्य ही है २२ ॥

अस्पर्शत्वात् २३ ॥

अब उक्त सिद्धांतकेअनुमानों में सत्प्रतिपक्ष दोष की आशंका करते हैं; अस्पर्श (स्पर्शरहित) होने से प्रतीत होता है, कि आकाश आदि की नाईं शब्द भीनित्यहैं; २३

न कर्मानित्यत्वात् २४ ॥

उत्तर यह है, जिस से तुमारा हेतु व्यभिचारी (अप्रमाण) है; इससे सत्प्रतिपक्ष दोष कभी नहीं आता, जो जो पदार्थ स्पर्शरहित हैं, वेसब नित्य हैं; यह व्याप्ति (नियम) व्यभिचार खाजाती है, जिससे कर्म स्पर्शरहित तो है, परंतु नित्य नहीं किंतु अनित्य है; इसीरीति स्पर्श रहित होने पर भी शब्द के अनित्य होने में कोई दोष नहीं आता २४ ॥ ∴ ∴

नाणुनित्यत्वात् २५ ॥

व्यभिचारी (अप्रमाण) हेतु कभी प्रमाण नहीं होता, जिस से अणु (परमाणु) नित्य है; अर्थात् यदि व्यभिचारी हेतु प्रमाण माना जावे, तो रूपवत्व हेतु से परमाणु में भी अनित्यत्व की सिद्धि होजावे यथा घट आदि जो जो पदार्थ रूपवाले हैं, वे सब अनित्य हैं; ऐसे ही परमाणु भी रूपवाले हैं, इससे अनित्य हैं; २५ ॥

सम्प्रदानात् २६ ॥

इसपर यह आशंका है, कि गुरु दान करके विद्यार्थी को विद्या देता है; परंतु दान उसी वस्तु का होसकता है, जो वस्तु पहिले ही अपने पास विद्यमान होवे; इस से सिद्ध हुआ, कि पढ़ाने से पहिले भी गुरु के

पास शब्द वर्त्तमान थे, अर्थात् नित्य थे, अन्यथा दान किस रीति कियाजावे; तो सिद्ध हुआ, कि शब्द नित्य है २६

तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः २७ ॥

इस (छात्र के आने) के अन्तराल में (पहिले और पीछे) शब्द की अनुपलब्धि (प्रत्यक्ष न होने) से उक्त (दान) हेतु शब्द में नित्यत्व की सिद्धि नहीं कर सकता; अर्थात् छात्र जब आता है, तो गुरु पढ़ाते हैं; तब शब्द का प्रत्यक्ष होता है; यदि शब्द नित्य होवे, तो छात्र के आने से पहिले और पीछे भी अवश्य सुनने में आवे, और रोकने वाला तो कोई प्रतीत नहीं होता; इस से सिद्ध हुआ, कि शब्द अनित्य है २७ ॥

अध्यापनादप्रतिषेधः २८ ॥

पुनः आशंका करते हैं, कि अध्यापन (पढ़ाने) से मेरे हेतु का अप्रतिषेध (खंडन नहीं) है; अर्थात् शिष्य के आने से पहिले अथवा पीछे से यदि शब्द वर्त्तमान न होवे, तो गुरु का पढ़ाना किस भांति बने; केवल प्रत्यक्ष की सामग्री (कंठतालु आदि का अभिघात आदि) के न होने से पहिले प्रत्यक्ष नहीं होता, शब्द तो नित्य होने से पहिले ही वर्त्तमान है; और उदयनाचार्य्य इन दो (२७ २८) सूत्रों को यूं लगाते हैं; परंतु विभक्तियों का परिवर्तन कर देते हैं, कि हेतु (स्वत्व) के न होने से अन्तराल (स्वत्वध्वंस नामी दान) की अनुपलब्धि (प्रत्यक्ष नहीं होता) है; अर्थात् स्वत्व के न होने से शब्द का दान (स्वत्वध्वंस) कभी नहीं हो सकता; उत्तर यह है, कि दान

तो हमने कहा ही नहीं, किंतु अध्यापन(पढ़ाना)कहाहै; परंतु पढ़ाना भी वर्तमान शब्द का ही हो सकता है, इस से नित्य ही है २८ ॥ ⁂

उभयोःपक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः २९

दोनों पक्षों में से एकपक्ष(शब्द के अनित्यत्व साधक)का निषेध(खंडन) पढ़ाने से कभी नहीं हो सकता; छात्र के उच्चारण के अनुकूल गुरु का उच्चारण पढ़ाना कहाता है; यह उच्चारण(शब्दको स्थिर वा अस्थिर माने) दोनों पक्षों में तुल्य है; और पढ़ाना दान नहीं है, कि जिससे स्वत्वध्वंस की सिद्धि के अर्थ शब्द को स्थिर(नित्य) मानो; और एकही ग्रंथ को एक समय कई मनुष्य पढ़ासकते हैं; परंतु एकसमयबहुतमनुष्योंकास्वत्व नहींहोसकता, यदि होतोएकमनुष्यदाननहींकरसकता, किंतु उपदेश(उच्चारण)मात्र है; शब्दअनित्यहै; २९ ॥

अभ्यासात् ३० ॥

इस पर यह आशंका करते हैं, अभ्यास(वारवार ग्रहण करने)से सिद्ध होता है; कि शब्द अवश्य नित्य है; अर्थात् वारवार जिस वस्तुको ग्रहण करते हैं वह स्थिर होता है, जैसे दसवार रूप को देखा, तोवह रूप स्थिर है; ऐसे ही दस वेर अनुवाक(वेदकाभाग) पढ़ा तो वह वेद का भाग भी अवश्य स्थिर है ३० ॥ ⁂

नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् ३१ ॥

उत्तर यह है, यह आशंका योग्य नहीं है; जिस से भिन्न भिन्न पदार्थों में भी अभ्यास(वारवार प्रवृत्ति) देखने

में आती है; इसलिये अभ्यास से स्थिरता नहीं सिद्ध हो सकती. जैसे दोवेर हवन किया, अथवा तीनवेर नाचा, यहां हवन क्रिया (अग्नि में घी आदि का फेंकना) और नत्य क्रिया (अंगों को ताल लय पर फेंकना) भिन्न भिन्न भी हैं; पुनः अभ्यास देखते हैं; इस से सिद्ध हुआ, कि अभ्यास से किसी एक वस्तु की स्थिरता नहीं होती ३१ ॥

अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताभावः ३२

अन्यता (भेदपदार्थ) ही जगत् में नहीं है; पुनः कैसे कहते होकि पदार्थों का भेद होने पर भी अभ्यास होता है; यह तटस्थ की आशंका है; जो पदार्थ अन्य से अन्य होता है, वह पहिले पदार्थ से अनन्य (अभिन्न) होता है; और जो पदार्थ अभिन्न है, वह अन्य (भिन्न) कैसे हो सकेगा; जिस से भेद और अभेद दोनों इकट्ठे नहीं रहसकते; और सब पदार्थों में अपना २ अभेद अवश्य रहता ही है; पुनः इस विरोधी के होनेसे भेद पदार्थ जगत में कहीं नहीं रह सकता ३२ ॥

तदभावेनास्त्यनन्यता तयोरित
रेतरापेक्षसिद्धेः ३३ ॥

उत्तर यह है, उस (भेद) के अभाव होने (न मानने) पर अनन्यता (अभेद) का होना भी अति कठिन है; जिस से भेद और अभेद दोनों परस्पर (एक दूसरे की) अपेक्षा से सिद्ध होते हैं; वास्तव यह है, भेद और अभेद इन दोनों में से अभेद (भेदाभाव) भेद के ज्ञान से विना कभी नहीं सिद्ध होसकता, जिस से अभाव के ज्ञान में प्रतियो-

गी का ज्ञान कारण होता है; ३३ ॥ ⁂ ⁂

विनाशकारणानुपलब्धेः ३४ ॥

पुनः आशंका करते हैं, कि शब्द नित्य है, जिससे विनाश के कारण का प्रत्यक्ष नहीं होता; अथवा ज्ञान नहीं होता ३४

अश्रवणकारणानुपलब्धेः
सततश्रवणप्रसङ्गः ३५ ॥

पहिले (प्रत्यक्षनहोने) के खंडन की युक्ति देता है; यदि प्रत्यक्ष के नहोने से वस्तु के अभाव का निश्चय किया जावे, तो अश्रवण (नसुनने) के कारण का प्रत्यक्ष नहोने से श्रवण (सुनने) की निवृत्ति नहोवे, किंतु निरंतर श्रवण (सुनना) ही होता चलाजावे; इस से सिद्ध हुआ, कि केवल प्रत्यक्ष की निवृत्ति से पदार्थ के अभाव का निश्चय नहीं होसकता ३५ ॥ ⁂ ⁂

उपलभ्यमानेचानुलब्धेरसत्वादनुपदेशः ३६ ॥

अनुमान आदि प्रमाणों से विनाश के कारण का उपलंभ (ज्ञान) होने से प्रत्यक्ष मात्र की निवृत्ति से अनुपलब्धि (अज्ञान) का कथन अयुक्त है; इस से तुम्हारा हेतु अनुपदेश (असाधक) है, जिस से शब्द जन्यभाव है, इस से घट आदि की नाईं अवश्य विनाशी है; इस रीति शब्द में विनाश (ध्वंस) का अनुमान करके इसी कार्य (विनाश) से विनाश के कारण का अनुमान करते हैं,

पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावेनानुपलब्धिः ३७ ॥ ३८

सिद्धांत यह है, जब कांस्य आदि के पात्र से अभिघात के द्वारा शब्द उत्पन्न होता है, तो उसको हाथ लगाने

से वह शब्द निवृत्त होजाता है; अर्थात् शब्द के नाश के कारण (पात्र से हाथ लगाने) का प्रत्यक्ष ही होगया, तो शब्द नाश के कारण की अनुपलब्धि का कथन सर्वथा असंगत है; कोई आचार्य इस सूत्र को यूं लगाते हैं, पाणि (हाथ) है निमित्त जिस का ऐसा जो पाणिज शब्द अर्थात् उत्तर शब्द इस से पहिले शब्द का अभाव (नाश) होने पर विनाश के कारण की अनुपलब्धि का कथन सर्वथा असंगत है; और कोई यूंभी कहते हैं, कि वस्तु का वेगाख्यसंस्कार शब्द का हेतु है, इसी वेग की तीव्रता मंदता आदि से शब्द में तीव्रतामंदता आदि होते हैं; उस में भी उत्तर उत्तर शब्द पूर्वपूर्व शब्द के नाश का कारण माना है; हाथ के लगाने से यह वेग प्रत्यक्ष ही दीख पड़ता है, ३७ ॥

⁂

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्था
नेतन्नित्यत्वप्रसङ्गः ३८ ॥

जिस वस्तु के नाश का हेतु कोई ना प्रतीत हो, वा जो निरंतर स्थित रहे, वह वस्तु नित्य होती है; परंतु शब्द के नाश का हेतु हाथ का लगाना भी प्रत्यक्ष दीख रहा है और शब्द निरंतर स्थित भी नहीं रहता, इससे जानते हैं, कि शब्द नित्य है ३८ ॥

⁂

अस्पर्शत्वादप्रतिषेधः ३९ ॥

इस पर यह आशंका करते हैं, घंटा के साथ हाथ लगाने से यदि शब्द निवृत्त होजावे तो उस संयोग के साथ घंटा [illegible] में ही शब्द उत्पन्न होवे; इस

का उत्तर देते हैं, ईंटा आदि जिस से स्पर्शवाले हैं, इस से शब्द के आश्रय (उपादान) नहीं हैं; इसमें अनुमान प्रमाण है, यथा जिस वस्तु का असमवायि कारण अग्नि का संयोग नहो, और जो वस्तु कारण के गुणों से कार्य में उत्पन्न होनेवाले गुणों से भिन्न हो, और जिस वस्तु का प्रत्यक्ष भी हो, वह वस्तु (ज्ञानआदि) स्पर्शवालों पृथ्वी आदियों के विशेषगुण नहीं होती, इस अनुमान से सिद्ध हुआ, ईंटा आदि स्पर्शवाले पदार्थों में शब्द कभी नहीं रह सकता ३९ ॥ ⁂ ⁂ ⁂ ⁂

विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे ४० ॥

इसी अर्थ को प्रगट करते हैं, समास (स्पर्शआदिके समूह) में सहचारी होके शब्द रहता है; यह कथन योग्य नहीं है, पाक से विना ही विभक्ति (उच्चनीच आदि विभाग) की सिद्धि से अर्थात् एक ही शंख से कभी ऊंचा कभी नीचा कभी मध्य शब्द विना पाक के निकलता है; गंधस्पर्श आदि गुण तो पाक (अग्निसंयोग) से विना कभी न्यून अधिक नहीं होते, इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि शब्द स्पर्शआदि का सहचारी कभी नहीं है ४० ॥ ⁂

इति शब्द की अनित्यता का साधक न्यायसूत्र वृत्ति का २४वां· प्रकरण समाप्त हुआ· ॥ ⁂ ⁂

विकारादेशोपदेशात्संशयः ४१ ॥

शब्द को अनित्यसिद्धकरनेकेप्रसंग से शब्द को परिणाम रूपता का निषेध करने के अर्थ आदि में शब्द के परिणाम(विकार) रूप होने में संदेह दिखाते हैं; इकोयणचि, इत्यादि उपदेश सूत्रों के अर्थ में सांख्यकार तो यूं कहते हैं; कि इकार का विकार (कार्य) यकार है; और कई शास्त्रकार यह ही मानते हैं, इकारका उच्चारण करने के स्थान यकारका उच्चारण करना, ही आदेश है, इन दो कोटियों की उपस्थिति से यह संशय हुआ, कि शब्द विकार है, अथवा आदेश है; और विकार (कार्य) कहीं तो समवायिकारण के स्वरूप का नाश होजानेपर उपजता है, यथा बीज के स्वरूपका नाश होजानेसे कार्य (वृक्ष) उत्पन्न होता है; और कहीं समवायिकारण (कपालआदि) का स्वरूप बने रहने पर भी कार्य (घटआदि) उत्पन्न होते हैं; ४१ ॥

प्रकृतिविवृद्धौविकारविवृद्धेः ४२ ॥

सांख्यकार जो इकारका कार्य यकार मानते हैं; उनकी मतखंडन करने के अर्थ यह (४२) वां सूत्र कहा है; कि इकार का कार्य यदि यकार माना जावे तो प्रकृति (कारण) की विवृद्धि (अधिकता) से विकार (कार्य) की भी विवृद्धि होवे, जैसे छोटे कपालों से बने हुए घटकी अपेक्षा बड़े कपालोंसे बना हुआ, घट बड़ा होता है; इसीरीति ह्रस्व इकार से उत्पन्न हुए यकार की अपेक्षा दीर्घ ईकार से उत्पन्न हुआ यकार बड़ा होना योग्य है; प-

र्थात् कारण (इकार) के अठारह भेद से कार्य (यकार) के भी अठारह भेद होने योग्य हैं; इस से यह ही स्पष्ट प्रतीत होता है, आदेश मानना ही श्रेष्ठ है, शब्द को शब्द का उपादान कारण मानना सर्वथा युक्ति से बाहर है; समवायि कारण द्रव्य ही होता है; शब्दगुण समवायि कारण नहीं होसकता ४२ ॥ ⁘ ⁘

न्यूनसमाधिकोपलब्धेर्विकाराणामहेतुः ४३

सांख्यकार का आक्षेप (प्रश्न) है, कि विकार (कार्य) कहीं तो कारण (रूई) की अपेक्षा से छोटे (तंतु) देखने में आते हैं; और कारण (स्वर्ण) के तुल्य ही कार्य (कुंडलआदि) देखने में आते हैं; और कहीं नारिकेल की अपेक्षा बहुत ही छोटे वट के बीज से नारिकेल वृक्ष की अपेक्षा बहुत बड़ा वट-वृक्ष उत्पन्न होता है; वट के बीज की अपेक्षा बहुत छोटा नारिकेल का वृक्ष उत्पन्न होता है; और कहीं छोटे बड़े दो नारिकेलों से वृक्ष दोनों एकसे ही उत्पन्न होते हैं; इन प्रक्रियों से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि प्रकृति (कारण) की न्यूनता अथवा अधिकता से विकार (कार्य) की न्यूनता अथवा अधिकता का नियम करना सर्वथा असंगत है; अर्थात् अपने पक्ष (विकार के खंडन) की सिद्धि नहीं करसकता ४३ ॥

नातुल्यप्रकृतीनांविकारविकल्पात् ४४ ॥

उत्तर यह है, उक्तरीति से विकार की सिद्धि योग्य नहीं है; जिन कार्यों की प्रकृतियां (कारण) अतुल्य (विलक्षण) हैं; वे कार्य भी अवश्य विलक्षण हैं; इससे यह

नहीं निकसा, कि बड़े कारण से बड़ा कार्य और छोटे कारण से छोटा कार्य होता है; किंतु यह ही निकलता है, कि कारणोंकी विलक्षणता से कार्यों की विलक्षणता होती है; यह विलक्षणता उक्त सब उदाहरणों में स्पष्ट ही है; प्रकृत में ह्रस्वइकार की अपेक्षा दीर्घ ईकार तो विलक्षण है, परंतु कार्य यकार विलक्षण नहीं किंतु एकसे ही हैं; इस से आदेश पक्ष ही श्रेष्ठ है, विकार मानना योग्य नहीं है किंतु यह उपचार छल है ४४ ॥

द्रव्यविकारेवैषम्यवद्वर्णविकारविकल्पः ४५ ॥

इस पर आशंका करते हैं, कि वट, नारिकेल आदि कारण द्रव्यत्व धर्म से सब तुल्य भी हैं; पुनः इन के कार्यों में न्यूनाधिकता देखने में आती है; इसी रीति ह्रस्व दीर्घ इकार आदि वर्णों में वर्णत्व धर्म से तुल्यता भी है तो भी कार्य यकार में तत्तद्व्यक्तित्व धर्मों से विलक्षणता भी की जाती है; और वट आदि कार्यों में भी जैसे द्रव्यत्व धर्म से एकता और विशेष (वटत्व आदि) धर्मों से विलक्षणता भी है, ऐसे ही इवर्ण के कार्यों (यकारों) में भी यकारत्व धर्म से एकता और तत्तद्व्यक्तित्व धर्म से विलक्षणता भी है ४५ ॥

⁂

नविकारधर्मानुपपत्तेः ४६ ॥

समाधान यह है, वर्णों के कार्यों में द्रव्यों के कार्यों का सादृश्य देना सर्वथा असंगत है; क्योंकि विकारों (कार्यों) का यह स्वभाव है कि प्रायशः प्रकृति (कारण) के सदृश होना, अर्थात् कारण की एकता से कार्यों की एकता और कारणों

के भेद से कार्यों का भेद होता है, प्रकृत में ह्रस्वत्व दीर्घत्व धर्मों से इकारों का भेद होने पर भी यकारों का भेद नहीं देखने में आता; और तत्तद्व्यक्तित्व से यकारों के भेद का कथन भी अन्यथासिद्ध है; क्योंकि तत्तद्व्यक्तित्व से तो ह्रस्व इकारों का भी परस्पर भेद होता है, जो इसधर्म से उनके यकारोंका भेदभी सिद्ध होजावे; परंतु ह्रस्वत्वदीर्घत्वधर्मों से इकारोंकाभेद होनेपरभी यकारोंकाभेदनहीं होता, इस से प्रतीत हुआ, शब्द विकार नहीं है ५६ ॥ ❖ ❖ ❖

विकारप्राप्तानामपुनरापत्तेः ५७ ॥

इस हेतु सेभी प्रतीत होता है, कि शब्द का कार्य शब्द नहीं हो सकता, जिस से विकार(कार्य) रूप से जो प्राप्त (उत्पन्न) हुआ, वह पुनः कारण रूपता को कभी नहीं प्राप्तहोता, प्रकृत में "दध्यत्र" यहां इकार यकार रूपता को प्राप्त होके भी पुनः दधि अत्र यहां वक्ता की इच्छा से इकार का रूप बन जाता है; परंतु दूध से दधि उत्पन्न होने पर पुनःकभी दूध नहीं बनता; इस से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि शब्द कोविकार रूप मानना सर्वथा असंगत है ५७ ॥ ❖ ❖ ❖ ❖

सुवर्णादीनांपुनरापत्तेरहेतुः ५८ ॥

इस पर यह आशंका करते हैं, कि स्वर्ण आदि पहिले स्वरूप(कड़े आदि) को त्यागके कुंडल बने हुए पुनः कड़े बन सकते हैं; तो प्रतीत हुआ, कि तुम्हारा कथन सर्वथा असंगत है; कि कार्य एक वेर उत्पन्न होके पुनः

कारण रूप कभी नहीं हो सकता; क्योंकि सुवर्ण आदि में व्यभिचार लगा, इस से प्रतीत हुआ, शब्द विकार रूप है यह सांख्य का मत ही श्रेष्ठ है; आदेश पक्ष का मानना योग्य नहीं प्रतीत होता; यह सांख्य कारों का सिद्धांत है; ४८

नतद्विकाराणांसुवर्णभावाव्यतिरेकात् ४९ ॥

उत्तर देते हैं, कि सुवर्ण का दृष्टांत योग्य नहीं है; क्योंकि सुवर्ण के विकार कुंडल आदि का कारण सुवर्ण ही है; कड़े आदि कारण नहीं हैं, परंतु कारण (कड़े आदि) अथवा कार्य (कुंडल आदि) सुवर्णत्व धर्म को कभी नहीं त्यागते, अर्थात् जिस धर्म (इकारत्व) से कारणता हो, उस धर्म को त्याग के कार्य अन्य धर्म (पकारत्व) को ग्रहण करके पुनः इकारत्व को प्राप्त होने से प्रतीत होता है, कि इकार का विकार (कार्य) यकार नहीं हो सकता; इस से सुवर्ण का दृष्टांत देना सर्वथा असंगत है ४९ ॥

* *

वर्णत्वाव्यतिरेकाद्वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ५०

पुनः आशंका करते हैं, कि दृष्टांत का प्रतिषेध (खंडन) नहीं बनता; क्योंकि सुवर्ण के कारण और कार्य जैसे सुवर्णत्व धर्म को कभी नहीं त्यागते, इसी रीति वर्ण के कारण और कार्य भी वर्णत्व धर्म को कभी नहीं त्यागते, पुनः शब्द को परिणाम स्वरूप मानने में क्या दोष है; ५०

सामान्यवतोधर्मयोगोनसामान्यस्य ५१ ॥

इस का उत्तर यह है, सामान्य (कड़े कुंडल आदि) वाले सुवर्ण को धर्म (कारणता) का योग (संबंध) है; सामान्य (कुंडल आदि) में कारणता का संबंध नहीं है, अ-

र्थात् कुंडलआदि को कार्यों के प्रति सुवर्णत्व धर्म से कारणता है, जिस (सुवर्णत्व) को कार्य और कारण कभी नहीं त्यागते; प्रकृत में यकार के प्रति इकारत्व धर्म से कारणता है; जिस (इकारत्व) को त्याग कार्य (यकार) बनके पुनः इकार बनजाता है; वर्णत्वधर्म से कारणता ही नहीं है, कि सुवर्णका दृष्टांत दें; किंतु आदेशपक्ष हीश्रेष्ठ है

नित्यत्वेऽविकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् ५२ ॥ (५१

शब्द विकार (कार्य) स्वरूप नहीं है, इस में मूल युक्ति दिखाते हैं; कि शब्द यदि नित्य हो, तो विकार का होना सर्वथा असंगत है; और यदि शब्द अनित्य हो, तो पहिले क्षण में शब्द उत्पन्न होके दूसरे स्थिति के क्षण में प्रत्यक्ष होके तीसरे क्षण में शब्द का नाश होजावेगा; विकार का होना पुनः असंगत ही रहेगा; अर्थात् शब्द को नित्य मानें, अथवा अनित्य मानें, दोनों पक्षों में शब्द का विकार नहीं सिद्ध होसकता; ५२ ॥

⁂

नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पा
च्चवर्णविकाराणामप्रतिषेधः ५३ ॥

अब विकारवादी (सांख्यकार) शब्द को नित्य मानके उक्त दोषका परिहार (उत्तर) करते हैं; वर्णों के विकारों का प्रतिषेध (खंडन) योग्य नहीं है, नित्यपदार्थों के धर्मों (अतीन्द्रियत्व, ऐन्द्रियकत्व) के भेद से जैसे आकाश आदि नित्य पदार्थ ऐंद्रियक (इंद्रियोंसे ग्रहण करने के योग्य) नहीं हैं; और नित्य भी गोत्व आदि जाति ऐंद्रियक (इंद्रियोंसे ग्रहणकरनेकेयोग्य) हैं; इसी रीति

अन्यनित्यपदार्थ(आत्माआदि)का विकार नाभी हो,परंतु नित्य वर्णों(इकारआदि)का विकार(यकारआदि)अवश्य होता है; अर्थात् सब नित्य पदार्थ एकही स्वभाव नहीं रखते, जैसे किसी नित्य का प्रत्यक्ष होता है; किसी का नहीं होता, ऐसेही किसी नित्य पदार्थ का विकार होता है, किसी का नहीं होता ५३ ॥

⁂ ⁂ ⁂

अनवस्थायित्वेचवर्णोपलब्धि
वत्तद्विकारोपपत्तिः ५४ ॥

अब विकारवादी शब्द के अनित्यत्वपक्ष में भी विकार होने की युक्ति दिखाता है; अनवस्थित (दूसरेक्षणतक स्थित) होने पर भी जैसे शब्द (वर्ण) का प्रत्यक्ष होता है, ऐसे ही विकार(कार्य) भी वर्णोंका उत्पन्न होजावेगा,

विकारधर्मित्वेनित्यत्वाभावात्कालान्तरे (५४ ॥
विकारोपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ५५ ॥

नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों पक्षों में मानके कहे वर्णों के विकार का खंडन करते हैं; यदि वर्णों का विकार माना जावे, तो वर्ण नित्य नहीं होसकते क्योंकि यहां विकार शब्दका यह अर्थ है, कि अपने प्रथम स्वरूपको त्याग के अन्य स्वरूप का ग्रहण करना यह (विकार) नित्य (चिरतकरहनेवाले) पदार्थों का कभी नहीं होसकता. और कपाल जैसे घट के कारण हैं; ऐसे इकार यकार का कारण कभी नहीं होसकता; क्योंकि कार्य (घट) के उत्पन्न होनेपर भी कारण (कपालों) का प्रत्यक्ष होता रहता है; प्रकृत में कार्य (यकार) के उत्पन्न होने पर

कारण (इकार) का प्रत्यक्ष नहीं होता; और शब्द को अनित्यत्व मानने पर प्रत्यक्ष का दृष्टान्त देके जो विकार माननां, वह भी अयुक्त है; क्योंकि प्रत्यक्ष तो दूसरे क्षण में ही माना है, और विकार में दूसरे क्षण का नियम नहीं बहुत काल के अंतर से भी होता है; दधि कह के जब अत्र कह चुके तो इकार नष्ट होगया, विकार किसका होगा ५५ ॥

प्रकृत्यनियमाद्वर्णविकाराणाम् ५६ ॥

और एक यह मुख्य हेतु है, कि वर्णों का विकार नहीं होसकता; कार्य्यों और कारणोंका यह दृढ़ नियम है, उपादान कारण (दूध आदि) कभी कार्य (दही आदि) नहीं होसकता, और कार्य (दही आदि) कभी उपादानकारण नहीं होसकते, परंतु वर्णों में यह नियम नहीं चल सकता; क्योंकि "दध्यत्र" यहां इकार उपादान कारण और यकार कार्य है; और "विध्यति" यहां पकार उपादानकारण और इकार कार्य है; इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि वर्णों के विकार मानने सर्वथा असंगत हैं; किंतु आदेश पक्ष ही श्रेष्ठ है ५६

अनियमे नियमान्नानियमः ५७ ॥

इस पर कोई छल से आशंका करते हैं; कि अनियम (कोई नियम नहीं रखना) के नियम से ही प्रतीत होता है, वर्णों के नियम का प्रतिषेध (खंडन) करना योग्य नहीं है; ५७ ॥

❖ ❖ ❖

नियमानियमविरोधादनियमे
नियमाच्चाप्रतिषेधः ५८ ॥

उत्तर यह है, कि नियम और अनियम (नियमका अभाव

ये दोनों विरुद्ध हैं; अर्थात् एकस्थान में इकट्ठे कभी नहीं रह सकते, और अनियम (नियमाभाव) का स्वीकार तुमने कर ही लिया है; तो इसी विरोधी के होने से नियम का होना युक्ति से बाहर है, और जब यह नियम नहीं है, तो वर्णों के विकार का मानना सर्वथा असंगत है; किंतु आदेश पक्ष ही श्रेष्ठ है ५८ ॥

⁂

गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषे
भ्यस्तु विकारोपपत्तेर्वर्णविकारः ५९ ॥

इसरीति वर्णों के कार्यकारण भाव का खंडन करके अपने मत में विकार का व्यवहार (कथन) सिद्ध करते हैं; इस सूत्रमेंतुका अर्थ पुनः है, इन हेतुओं से वर्णों के विकार (एकवर्णके कथन से दूसरे वर्ण के कथन) की उपपत्ति (सिद्धि) होने से वर्णों के विकार का व्यवहार (कथन) होता है; उन प्रत्येक हेतुओं का वर्णन करते हैं, यथा गुणांतरापत्ति (वर्णके बने रहने पर ही उस में अन्यधर्मके आजाने) से विकार का व्यवहार होता है; जैसे वर्तमान उदात्तस्वर को किसी सूत्र के बल से अनुदात्त करदेना; और उपमर्द (पहिले शब्द को दूरकरके दूसरे शब्दके प्रयोग) से विकार का व्यवहार होता है; जैसे पहिले वर्तमान अस्ति के स्थान में भू का प्रयोग करते हैं; और ह्रास (दीर्घ को ह्रस्वकरने) से, वृद्धि (ह्रस्वकोदीर्घकरने) से, लेश (किसी अंश का लोपकरने) से और श्लेष (आगम) से इन सब हेतुओं से विकार का व्यवहार (कथनमात्र) होता है;

सिद्धांत में आदेश पक्ष ही श्रेष्ठ है ५९ ॥ ⁂ ⁂

इति शब्द के परिणाम खंडन करने का २२ वां प्रकरण न्यायसूत्रवृत्ति का समाप्त हुआ, ॥ ⁂ ⁂

तेविभक्त्यन्ताः पदम् ६० ॥

शाब्दबोध में पदजन्य पदार्थ का ज्ञान कारण होता है; इस से पदार्थ का निरूपण करनेके अर्थ आदि में पद का निरूपण करते हैं; विभक्ति (सुप् अथवा तिङ् प्रत्यय) जिन के अंत में हो, ऐसे वे (वर्ण) पद कहाते हैं; यह नहीं नियम है, कि वर्ण बहुत ही हों; और अंतमें विभक्ति का होना भी आवश्यक नहीं, किंतु अंत में विभक्ति होनेके ज्ञान की आवश्यकता है; सुप् प्रत्याहार और तिङ् प्रत्याहार के अंतरगत प्रत्ययों को विभक्ति कहते हैं; सिद्धांत यह जानना, कि यह पद शाब्दबोध का उपयोगी नहीं, किंतु यह आकांक्षा का स्वरूप है; अथवा विभक्ति अर्थात् वृत्ति (शक्ति अथवा लक्षणा) का है, अंत (संबंध) जिन वर्णों में वे पद हैं; अर्थात् शक्ति अथवा लक्षणा के द्वारा जो वर्ण अर्थ का बोध करावे, उसे पद कहते हैं; इससे प्रतीत हुआ, कि पदका निरूपण करके पदार्थ का निरूपण करना योग्य (संगत) है; और जो कहते हैं, कि प्रसंग संगति (एकसंबंधी के ज्ञान से दूसरे संबंधीके ज्ञान) से पदार्थ का निरूपण करते हैं; यह कथन पद निरूपण की असंगति से अयोग्य है; पदनिरूपणका प्रकरण पृथक् भी नहीं कह सकते, एकसूत्रका प्रकरणही नहीं हो सकता

**तदर्थे व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधा-
वुपचारात्संशयः ६१ ॥**

इस रीति पद का निरूपण करने से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि शक्ति अथवा लक्षणा के द्वारा पद से जिस का बोध हो, उसे पदार्थ कहते हैं; उन पदार्थों में से भी धातु प्रत्यय आदि के अर्थ तो व्याकरण आदि के द्वारा निश्चित ही हैं; इस से गो, घट आदि पदों के अर्थ का निरूपण करते हैं; व्यक्ति (गो-आदि) जाति (गोत्व आदि) आकृति (अवयवों के संयोग) इन तीनों के संबंध से पदार्थ का ज्ञान होता है; इससे यह संदेह होता है; कि व्यक्ति, जाति, आकृति इन तीनों का युगपत् (इकट्ठा) प्रत्यक्ष होने से ये (व्यक्ति आदि) प्रत्येक पदार्थ हैं; अथवा समस्त (सारे) पदार्थ हैं; कोई आचार्य कहते हैं, यह सूत्र नहीं, किंतु भाष्य है; सिद्धांत यह जानना, कि अक्षरों के काठिन्य से और टीकाकारों की प्रवृत्ति से प्रतीत होता है; कि यह सूत्र ही है, केवल इस सूत्र का "तदर्थे" इतना अंश भाष्य के पाठ का प्रतीत होता है; अर्थात् यह संदेह हुआ, कि पद का अर्थ व्यक्ति वा जाति वा आकृति अथवा व्यक्ति आदि तीनों हैं ६१ ॥ ⁘ ⁘

**याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्ध्यपचयवर्ण-
समासानुबन्धानां व्यक्तावुपचाराद्व्यक्तिः ६२ ॥**

इस अवसर में केवल व्यक्ति को पदार्थ मानने वालों का मत युक्ति सहित दिखाते हैं; कि गो जाती है, यह व्यवहार व्यक्ति में ही होता है; अमूर्त होने से जाति और आकृति में यह क्रिया का व्यवहार कभी नहीं हो सकता; ऐसे ही

गौओं का समूह यह समुदाय का व्यवहार(कथन)भी व्यक्तिओं में ही होसकता है; गोत्वजाति तो एक ही है, उस को समूह शब्द से क्या कहना था; गौको देना है यह दान भी जाति अथवा आकृति का तो हो ही नहीं सकता, किंतु दान भी व्यक्ति का ही होसकता है; ऐसे ही गौ को लेता है, यह लेना भी व्यक्ति का ही होसकता है; जाति अथवा आकृति का लेना सर्वथा असंगत है; और ये दश गौ हैं, यह संख्या का व्यवहार भी व्यक्ति में ही हो सकता है, क्योंकि जाति अथवा आकृति तो एक ही है; और गौ बढ़ती है, गौ कृश होगई है, गौ कपिल वर्ण की है, गौनेवछड़ा दिया है, गौ बैठी है, यह गौ का मुख है, इत्यादि व्यवहार जाति अथवा आकृति में किसी रीति भी नहीं होसकते, हैं; इस से सिद्ध हुआ, कि पद का वाच्य अर्थ व्यक्ति ही है ६२

न तदनवस्थानात् ६३ ॥

व्यक्ति को पद का अर्थ मानने में दोष देते हैं; कि व्यक्ति में पद की शक्ति नहीं मान सकते, जिस से व्यक्तिओं की व्यवस्था(संख्याकानियम) नहीं है; अर्थात व्यक्ति अनंत हैं, उनमें शक्ति मानने से अनुगम(हदनियम) नहीं बन सकता; ६३ ॥ ❖ ❖ ❖ ❖

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः ६४ ॥ ❖ ❖ ❖

और केवल व्यक्ति में ही शक्ति मानें, तो गो पद से किसी

एक गौका ही बोध होवे, सब गौओं का बोध ना होवे; इस से गोत्व आदि जाति विशिष्ट गोव्यक्ति (सबगौओं) में शक्ति माननी योग्य है; परंतु विशेषण के ज्ञान से विना विशिष्ट (विशेषणवाले) का ज्ञान कभी नहीं होता; इस नियम से जाति में ही शक्ति मानो; जब केवल जाति में ही शक्ति हुई, तो व्यक्ति का ज्ञान किस रीति होगा; इस से यह ६४ वां सूत्र कहा है, कि जिन पदार्थों का ज्ञान जैसे परंपरा (लक्षणाआदि) से होता है, इसी रीति व्यक्ति में पद की शक्ति ना भी हो, तो लक्षणा से व्यक्ति का बोध होता है; शक्ति तो लाघव से जाति में ही माननी योग्य है; जैसे सहचरण (संयोगविशेष) से "लाठी को भोजन कराओ" इस वाक्य में लाठी पद से लाठीधारण करने वाले ब्राह्मण का ज्ञान होता है; स्थान (स्थिति) से "मंजेबोलते हैं" इस वाक्य में मंजों पर बैठे मनुष्यों का ज्ञान मंच शब्द से होता है; ऐसे ही तादर्थ्य (उसके लियेले आने) से कट के हेतु वीरण (तृणविशेष) में कट शब्द, वृत्त (यम की नाईं दंड देने) से राजा में यमशब्द का प्रयोग होता है; मान (आढ़कमापने) से तंडुलों में आढ़क शब्द का प्रयोग होता है; धारण (उठाने) से तुला (तकड़ी) में धरा चंदन भी तुला कहाता है; समीपता से "गंगापर गौएंचरती हैं" इस वाक्य में गंगाशब्द से गंगासमीपी देश का बोध होता है; योग (कृष्णरूप के संबंध) से शाकट (गड्डे) में कृष्ण शब्द का योग होता है; प्राणों के साधन (कारण) होने से अन्न को प्राण कहते हैं; और कुल का स्वामी होने से राजा को ही कुल कहते हैं, इत्यादि उदाहरणों में जैसे गं-

गा आदि पदों से तीर आदि का बोध लक्षणा से होता है, ऐसे ही घट आदि पदों का वाच्य घटत्व आदि रहे, तौभी व्यक्तियों (घटों) का बोध लक्षणा से होजावेगा, इस से यह दोष भी दूर होगया, कि दो पदार्थों में एक पद की इकट्ठी शक्ति नहीं हो सकती क्योंकि जाति में ही केवल शक्ति मानी है, दोमें शक्ति नहीं मानी है; और यह दोष भी दूर होगया, कि एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में अन्वय होता है, जाति और व्यक्ति येदोनों यदि एक पद के अर्थ मानें तो इन का परस्पर अन्वय न होवे; क्योंकि जाति को ही पदार्थ माना है; और गोत्वत्वधर्म से जब गोत्वमें शक्ति मानी है, तो अन्वयी की उपस्थिति (ज्ञान) विशेषण से विना नहीं हुई, कि शाब्दबोध में किसीप्रकारकी न्यूनता आवे; यहजातिवादी का मत है; ६४ ॥

⁂ ⁂ ⁂

आकृतिस्तदपेक्षत्वात्सत्वव्यवस्थानसिद्धेः ६५

आकृतिवादी का मत (केवल आकृतिपद का मुख्य अर्थ है) दिखाते हैं; सत्व (गौआदिजीवों) की व्यवस्था (नियम) केवल आकृति (अंगोंकीरचना) सेही सिद्ध होसकती है, इस से केवल आकृति ही पद का मुख्य अर्थ है; अर्थात् यह गौ है, यह घोड़ा है, इत्यादि व्यवहार केवल आकृति (अंगोंकी रचना) से ही सिद्ध होसकते हैं; इसलिये केवल आकृति (अंगोंकीरचना) ही पद का मुख्य अर्थ है; जाति अथवा व्यक्ति पद का मुख्य अर्थ नहीं है ६५ ॥

⁂ ⁂ ⁂ ⁂

व्यक्त्याकृतियुक्तेप्यप्रसङ्गात्प्रोक्षणादीनांमृद्गवकेजातिः ६६ ॥

अब जातिवादी व्यक्ति और आकृति इन दोनों में शक्ति का खंडन करके केवल जाति में शक्ति की सिद्धि करता है; मिट्टी की बनी हुई गौ भी एक व्यक्ति है, और इस (मिट्टीकीगौ) की आकृति (अंगरचना) भी यथार्थ गौ के तुल्य है, परंतु प्रोक्षण आदि (वेद में कहे बलिदेनाआदि) में इस (मिट्टीकीगौ) का प्रसंग (संबंध) ना देखने से विदित होता है; कि जाति ही मुख्य अर्थ है, अर्थात् वेद में कहे बलि आदि कर्म यथार्थ पशुओं की नाईं मिट्टी के पशुओं से कभी नहीं होसकते यद्यपि उन की आकृति (आकार) भी अन्य यथार्थ पशुओं के समान है; और व्यक्ति के होने में कोई संदेह ही नहीं भीहै; इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि पद का मुख्य अर्थ जाति ही है ६६ ॥

नाकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः ६७ ॥

केवल व्यक्ति और आकृति में शक्ति का निषेध करके केवल जाति में शक्ति का निषेध करते हैं; व्यक्ति और आकृति को त्याग के जाति का शाब्दबोध कभी नहीं होसकता, और शक्ति के विना शाब्दबोध में व्यक्ति और आकृति का ज्ञान भी किसीरीति से नहीं होसकता; पुनः केवल जाति में ही शक्ति माननी, अर्थात् केवल जाति को ही पद का मुख्य (प्रधान) अर्थ मानना सर्वथा असंगत है; इस पर यह आशंका करते हैं, कि जो पद की शक्ति तो केवल गोत्व में ही है; परंतु गोपद से गोत्वजाति और आकृ-

ति (सास्ना आदि अंगों की रचना) वाली व्यक्ति (गौ) का शाब्दबोध होता है; उत्तर यह है, कि शक्ति से विना ही गो पद से यदि व्यक्ति और आकृति का ज्ञान माना जावे, तो गोत्व में भी गो पद की शक्ति न होवे; घटत्व आदि उदासीन जातियों में शक्ति होजावे, व्यक्ति और आकृति की नाईं विना ही शक्ति के गोत्व जाति का भी ज्ञान होजावेगा; किंतु शक्ति से विना किसी पदार्थ का भी ज्ञान शब्द से नहीं होता, इससे केवल जाति पद का मुख्यअर्थ नहीं है ६७

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ६८ ॥

इस विचार से सिद्ध हुआ; व्यक्ति, आकृति, जाति, इन तीनों में पद की शक्ति है; इस ६८ सूत्र में तु शब्द से व्यक्तिआदि प्रत्येक में शक्ति का निषेध किया है; और व्यक्तिआदि तीनों में एक शक्ति जताने के अर्थ यह (पदार्थः) एकवचन दिया है; तीनों में पृथक् शक्तियां मानें, तो कभी किसी का बोध हो, किसी का न हो, तीनों में शक्ति तो तुल्य है, परंतु विशेष्य होने से व्यक्ति प्रधान है; तीनों में एक धर्म कोई नहीं जिस से एक शक्ति मानें, तोभी लाघव से एक ही शक्ति मानने में धर्म का कोई नियम नहीं है; इस सूत्र में जाति पद से साधारण धर्म लेना, इससे पशुत्व जाति नहीं भी है; तोभी कोई दोष नहीं ६८ ॥ ⁂

व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्तिः ६९ ॥

ये व्यक्ति आदि कौन से हैं, इस अपेक्षा से कहा है; संख्या आदि सामान्य गुणों से भिन्न रूप आदि जाति और आकृति के सहचारी (इकट्ठे रहनेवाले) गुणों वाली मूर्ति

(परिमाणमेंमध्यम) व्यक्ति कहाती है; औरकई ग्रंथकार यूंकहते हैं, कि गुण (रूपआदि) विशेष (उत्क्षेपणआदिकर्म) जिस में रहैं, उसे व्यक्ति कहते हैं; अर्थात् द्रव्यको व्यक्ति कहते हैं, परंतु जिस में जाति रहै, ऐसे द्रव्य को व्यक्ति कहते हैं; विशेष लक्षण यह (मूर्ति) है, अर्थात मध्यम (अणुऔरपरममहत्तसेभिन्न) परिमाण जिसमें रहै, उसे व्यक्ति कहते हैं; यद्यपि जातिआदि भी व्यक्ति हैं, उनमें उक्त लक्षण के नजाने से अव्याप्ति दोष लगता है; तो प्रमेयत्व ही व्यक्ति का लक्षण जानना, तोभी जाति और आकृति जिस में रहै, ऐसी व्यक्ति का लक्षण यहां किया है; कोई कहते हैं, कि इतना (मूर्ति) ही व्यक्ति का लक्षण है; अर्थात् गुणविशेष (मध्यम परिमाण) जिस में रहै, ऐसे मूर्त्त द्रव्य को व्यक्ति कहते हैं; ६९ ॥

आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या ७० ॥

क्रम से प्राप्त आकृति का लक्षण करते हैं, जाति का लिंग (बोधकहेतु) आकृति कहाता है; वह आकृति (अंगोंकासंयोग) परंपरासंबंध (स्वसमवायिसमवेतत्व) से द्रव्य (व्यक्ति) में रहती है; अर्थात् द्रव्य की असमवायिकारणता कानियम बांधनेवालीजाति जिसमें रहै; उसे भी आकृति कई ग्रंथकार मानते हैं ७० ॥

❀

समानप्रसवात्मिकाजातिः ७१ ॥

क्रम से प्राप्तजाति का लक्षण करते हैं, समान (एकप्रकारकी) प्रसव (प्रतीति) का उपजाना है, आत्मा (स्वरूप) जिस का उसे जाति कहते हैं; अर्थात् अनंत पृथक् पृथ-

क पदार्थों (घटआदि) में जिस धर्म (घटत्वआदि) की एकता से प्रतीति एकसी ही होती है, वह धर्म (घटत्वआदि) जाति होता है; कोई यूं भी कहते हैं, कि एकसी प्रतीति को उपजाने के योग्य, अनेक पदार्थों में समवाय संबंध से वर्तमान, नित्य (उत्पत्ति और विनाश से रहित) धर्म जाति कहाता है; परंतु यह स्मरण रहे, कि शाब्दबोध में पदों से जाति और व्यक्ति की नाईं आकृति का बोध कभी नहीं होता; अनुभव के बल से जाति और व्यक्ति का ज्ञान ही पदों के ज्ञान से माना गया है; नहीं तो लाघव से जातिविशिष्ट व्यक्ति में ही पदों की शक्ति माननी योग्य है ७१ ॥

⁂

इति न्यायसूत्रवृत्ति में शब्दशक्ति की परीक्षा का २५ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥

⁂

दूसरे अध्याय का दूसरा आह्निक समाप्त हुआ ॥

विभाग की परीक्षा के द्वारा अंगों के साथ प्रमाणों की परीक्षा समाप्त हुई ॥

⁂

इति श्रीविश्वनाथपंचानन की बनाई न्यायसूत्रवृत्ति के दूसरे अध्याय का पं॰ सुखदयाल शास्त्री का बनाया हिंदी भाषा में अनुवाद समाप्त हुआ २ ॥

३य· अध्यायकी अवतरणिका·

जिस की कृपा से बिना मनुष्य हंस आदि जड़ पक्षियों के समान होजाता है; जिसकी करुणा के लेश मात्र से मनुष्य मोहजाल(अज्ञान के समुद्र) को तैर जाता है; उस(सरस्वती) को हृदय-कमल में स्थित(ध्यान) कर के सुंदर वाणी के प्रचार(विस्तार) की कामना से सब देवताओं में उत्कृष्ट सरस्वती को मैं सर्वदा नमस्कार करता हूं १ ॥

⁂

अब बारह प्रमेयों की परीक्षा के अवसर में आत्मा आदि छे प्रमेयों की परीक्षा तीसरे अध्याय में होगी; इस से आत्मा आदि छे प्रमेयों की परीक्षा तीसरे अध्याय का प्रयोजन कह दिया, इस अध्याय में से आत्मा आदि चार प्रमेयों की परीक्षा १म· आह्निक का प्रयोजन है इस आह्निक में ९ नौ· प्रकरण हैं, इन में से भी आदि में आत्मा को इंद्रियों से पृथक सिद्ध करने का १म· प्रकरण है, आगे जो जो प्रकरण आवेंगे, उनके नाम वहां ही लिखे जावेंगे; इस १म· प्रकरण में इंद्रियों से ज्ञान है, अथवा नहीं ऐसा संदेह होने पर इंद्रियों को चेतन मानने वालों की यह आशंका है, कि ज्ञान के कारण(साधन) इंद्रिय हैं, यह सिद्धांत सब ने माना है, तो लाघव से ज्ञान के कर्ता(चेतन) भी इंद्रिय मान लिये जावें, तो कोई दोष नहीं आता, पुनः इंद्रियों से पृथक् आत्मा (चेतन) का मानना, गौरव दोष से सर्वथा अयुक्त है; [illegible] आत्मा वाद के अनेक ग्रंथ मान [illegible]

अथवा इंद्रियोंको भौतिक (भूतोंसेउत्पन्न) नमाननेसे संकर दोषभीनहींआता; इसमतकेखंडनकेलियेसूत्रकहाहै ॥

❖ ❖ ❖

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् १

दर्शन (चक्षु) और स्पर्शन (त्वचा) से एक ही पदार्थका ग्रहण (ज्ञान) होने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि आत्मा इंद्रियों से पृथक है; अर्थात् इंद्रियों को चेतन मानें, तो यह प्रतीति न होवे, कि जिस घट को मैं ने आंख से देखा था, उसी को अब त्वचा से स्पर्श करता हूं; क्यों कि जिस (चक्षु) में देखने की सामर्थ्य है, वह (चक्षु) स्पर्श नहीं कर सकता, और जो (त्वचा) स्पर्श करती है, वह (त्वचा) देख नहीं सकती; इस से सिद्ध हुआ, कि चक्षु त्वचा आदि द्वार मात्र हैं; जानने वाला आत्मा इंद्रियों से भिन्न ही है १ ॥

❖ ❖ ❖

नविषयव्यवस्थानात् २ ॥

इस पर आशंका करते हैं, कि विषयों (रूप आदि) की व्यवस्था (नियम) से इंद्रियों में चैतन्य का खंडन करना योग्य नहीं है; अर्थात् एक एक चेतन (इंद्रिय) से एक एक विषय (रूप आदि) का ज्ञान होता है; उस अभेद का ज्ञान भ्रम (अयथार्थ) होने से अप्रमाण है; किंतु इंद्रिय ही चेतन हैं २ ॥

❖ ❖

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ३ ॥

सिद्धांत यह है, कि इसी (विषयोंकी) व्यवस्था से ही

आत्मा की सिद्धि होने से आत्मा का प्रतिषेध (खंडन) योग्य नहीं है; अर्थात् भिन्न २ प्रत्यक्षोंके उपादान कारण भिन्न २ इन्द्रिय मानने से गौरव दोष लगता है; और किसी विशेष हेतु से विना अनुमिति आदि ज्ञानों के उपादानकारण सब इन्द्रिय मानने से भी गौरव दोष आता है; और चक्षु आदि इन्द्रियों के नाश से अनन्तर रूप आदि विषयों का स्मरण भी होता है; और मैं चक्षु हूं, यह प्रतीति भी नहीं होती; इन सब युक्तियों से सिद्ध हुआ, कि सब जन्यज्ञानों का उपादानकारण नित्य (नाशआदिसेरहित) चेतन आत्मा इन्द्रियोंसेभिन्न (पृथक्) है ३ ॥

⁂

इन्द्रियोंसे भिन्न आत्माकी सिद्धिका २२ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥

⁂ ⁂ ⁂ ⁂

शरीरदाहेपातकाभावात् ४ ॥

गौर रूप वाला मैं जानता हूं, इत्यादि प्रतीतियों से शरीर ही चेतन मानना योग्य है, इस आशंका को उठा के शरीर में चैतन्य का खंडन करते हैं; यदि शरीर को चेतन मानें, तो शरीर का दाह करदेने से उत्तर जन्म में पातक (दुःख) न होवे, किंतु आश्रय के नाश से पाप पुण्य भी यहां ही दग्ध होजावें; तो उत्तर जन्म में सुख अथवा दुःख का नियम कुछ ना होवे; बल्कि देह के साथ ही धर्म अधर्म के नाश से मोक्ष होजावे; अथवा अपना शरीर दाह करने से उत्तर जन्म में आत्मघात का पाप न लगे; यद्यपि भूतों को चेतन मानने वाले पाप पुण्य को नहीं मानते,

तोभी उनका मत प्रसिद्ध होने से अथवा किसी एक देशी की आशंका होने से कोई असंगति नहीं है ४ ॥

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् ५ ॥

आत्मा को चेतन मानने पर भी यह दोष तुल्य है, यह आशंका करते हैं; आत्मसहित शरीर का दाह करने से भी पातक (दुःखआदि) का अभाव (नहोना) प्राप्त है; जिससे आत्मा नित्य है; अर्थात् आत्मा जब नित्यमाना है, उस का तो नाश होही नहीं सकता, इसी से शरीर विशिष्ट आत्मा का नाश भी नहीं हो सकता; किंतु शरीर का ही नाश तुमभी मानोगे, जिसने पुनः कभी नहीं उत्पन्न होना, तो उस (शरीर) के पापपुण्य भी साथ ही नष्ट होजावे; इस से उत्तर जन्ममें पातक का अभाव इस मतमें भी तुल्य ही रहा ५ ॥

⁂

न कार्याश्रयकर्तृवधात् ६ ॥

उक्त दोष को दूर करके सिद्धांत दिखाते हैं; कि कार्य (चेष्टा) के आश्रय कर्त्ता (आत्मामें यत्न उपजाने के स्थान) के वध (मारने) से ही पातक (पाप) माना है; आत्मा का तो नाश ही नहीं होता, कि उस (आत्मा) के नाश से पाप माने अथवा न मानें; कोई यूंभी कहते हैं, कि गोत्व, ब्राह्मणत्व आदि धर्म शरीर में रहते हैं, आत्मा में नहीं रहते; इससे शरीर के वध (मारने) से ही हिंसा का पाप लगता है, आत्मा के नाश का होना अथवा न होना हिंसा से कुछ संबंध नहीं रखता; किंतु जिस से आत्मा नित्य (उत्पत्ति और विनाशसे रहित) है; इसी से इस जन्मके किये

हिंसा आदि पापों से उत्तर जन्म में परमदुःखी और इस जन्म में किये यज्ञ आदि उत्तम कर्मों (पुण्यों) से उत्तर जन्म में परम सुखी होता है; और मरने से अनंतर पड़े हुए शरीर में ज्ञान आदि कोई भी चेतन के नहीं प्रतीत होते, इस से स्पष्ट प्रतीत होता है, चेतन आत्मा नित्य अवश्य शरीर से भिन्न है; और नास्तिक के मत से तो आत्मा में शरीर का भेद आगे आपही सिद्धकरेंगे ६ ॥ ⁘ ⁘

शरीरसे आत्मा को पृथकसिद्धकरनेका २६ वां॰ प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ⁘ ⁘ ⁘ ⁘

सव्यदृष्टस्येतरेणप्रत्यभिज्ञानात् ७ ॥

प्रसंग संगति से दोनेत्रों में एक चक्षु इंद्रिय सिद्धकरने के प्रकरण का प्रारंभ करते हैं; सव्य (बाईं) आंख से देखे हुए पदार्थ का इतर (दहिनी) आंख से प्रत्यभिज्ञान (यह वहीपदार्थ है, ऐसाज्ञान) होने से सिद्ध होता है, कि आत्मा इंद्रियों से अन्य है, यह किसी का मत है; इस का खंडन करने के अर्थ यह प्रकरण चलाया है ७ ॥ ⁘

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ८

इस पर दोष देते हैं, कि मध्य में स्थित सेतु (पुल) से जैसे एक ही तलाव के दो तलाव प्रतीत होते हैं; इसीरीति मध्य में स्थित नासिका की अस्थि से एक ही चक्षुका गोलक दो नेत्रों में दो हो के प्रतीतहोता है; सिद्धांत में उक्त तलाव की नांई चक्षु इंद्रिय भी एक ही है; अर्थात् दो चक्षुओंकी प्रतीति भ्रम होने से अप्रमाण है ८ ॥ ⁘

एकविनाशेद्वितीयाविनाशान्नैकत्वम् ९ ॥

पुनः आक्षेप (आशंका) करते हैं, कि एक चक्षु का नाश होने पर भी दूसरे चक्षुका नाश नहोने से प्रतीत होता है कि चक्षु इंद्रिय एक नहीं किंतु दो हैं; अर्थात् दोनों नेत्रों में चक्षु इंद्रिय यदि एक ही मानी जावे, तो एक चक्षु का नाश होने से मनुष्य काणा होता है, अंधा तो नहीं होता, अब एक चक्षु के नाश से भी मनुष्य अंधा ही होजावे, काणाकोईनाहोवे; ९ ॥ ⁂ ⁂

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः १० ॥

कोई एकदेशी दोषका उद्धार करते हैं; अवयवों (शाखा आदि) के नाश होने पर भी अवयवी (वृक्षआदि) की उपलब्धि (प्रतीति) होने से चक्षु की एकता का निषेध (खंडन) योग्य नहीं है; अर्थात् वृक्षका एकदेश (शाखाआदि) नष्ट भी होजावे, तो जैसे वृक्ष वही बना रहता है, इसी रीति चक्षु का एकदेश नष्ट भी होजावे, तो चक्षु वही बना रहता है; अर्थात् चक्षु एक ही है १० ॥ ⁂

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ११ ॥

एकदेशी के मत और पहिले आक्षेप के समाधान (उत्तर) केलिये सिद्धांतसूत्र है; दृष्टांत के विरोध से उक्त (एकदेशीका) उत्तर योग्य नहीं है; अर्थात् शाखा के नाश से वृक्ष की स्थिति कहनी योग्य नहीं, किंतु शाखा के नाश से पहिले वृक्ष का नाश होके अन्यवृक्ष की उत्पत्ति होती है; क्योंकि शाखा का नाश होने पर भी यदि वृक्षकी स्थिति मानें, तो वृक्ष का नाश कभी ना होवे, किंतु वृक्ष नित्यही

स्थितरहे; इस से शेष अवयवों से अन्य द्रव्य की उत्पत्ति मानके एकदेशी और पूर्वपक्षी दोनों का मत खंडित होगया, अर्थात् एकचक्षु (चक्षुकेएकदेश) का नाश होजानेपर शेष अवयवों से खंड (छोटे) चक्षु की उत्पत्ति मानने से अंधता की आपत्ति दूर होजावेगी, इस से चक्षु इंद्रिय एकही मानना; यह गौतम का सिद्धांत है ११ ॥ ⁂

इन्द्रियान्तरविकारात् १२ ॥

आत्मा को इंद्रियों से पृथक सिद्ध करने की और युक्ति दिखाते हैं; जंबीरी आदि आम्ल फल के देखने से अन्य इंद्रिय (रसना) में विकार (जलकाबहना) होने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि आत्मा इंद्रियों से भिन्न है, अर्थात् जिस अधिकरण में अनुभव होता है, उसी अधिकरण में स्मरण होता है; इस नियम से इंद्रियों को चेतन मानने में यह दोष आवेगा; कि जंबीरी आदि आम्ल फलों का अनुभव (प्रतीत) जब चक्षु में हुआ, तो स्मरण और स्मरण के द्वारा विकार (जलबहनाआदि) भी चक्षु में ही होना योग्य है, जिह्वा, दांतआदि में विकार होना योग्य नहीं है; परंतु जिह्वा आदि में विकार अवश्य होता है, इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि चक्षु के द्वारा जिस में अनुभ हुआ है, और जिस में स्मरण हुआ है; वह चेतन आत्मा चक्षु आदि इंद्रियों से भिन्न ही है १२ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

नस्मृतेःस्मर्तव्यविषयत्वात् १३ ॥

पुनः आशंका करते हैं, उक्त (इंद्रियोंमेचैतन्यकानिषेध) योग्य नहीं है; जिस से स्मर्तव्य (जिसकाअनुभवहोचुका)

विषयका स्मरण होता है; चक्षु जिह्वा का कोई नियम नहीं है; अर्थात् जिस पदार्थ का अनुभव किसी रीति भी हो गया हो; उद्बोधक (किसी संबंधी) के ज्ञान से उस पदार्थ का स्मरण होजाता है; यह नियम कोई नहीं है, कि जिस इंद्रियसे अनुभव हो, उसी इंद्रिय से स्मरण हो; किंतु विषय का ही नियम है, कि जिस विषय का अनुभव हो, उसी विषय का स्मरण होगा; पुनः इंद्रियों को चेतन मानने तो क्या दोष है १३ ॥ ⁂ ⁂

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः १४ ॥

विषयों की अवस्था से कार्य कारणभाव मानके आत्मा का निषेध करना योग्य नहीं है; उक्त युक्तियों से यह सिद्ध होचुका है, कि परिशेष से (अंतमें) स्मृति आत्मा का ही गुण है; जिस से यह अनुभव होता है, कि मैं स्मरण करता हूं; यदि विषयों का धर्म ही स्मरण माना जावे, तो चैत्र को किसी पदार्थ का ज्ञान (अनुभव) होनेसे मैत्र को उस पदार्थ का स्मरण हो जावे; जिस से विषय (वह पदार्थ) एक ही है १४ ॥

अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य १५ ॥

और यदि स्मरण के उपादान कारण भी विषय ही माने जावें; तो यह दोष है, कि एक आत्मा के स्थान में अनंत विषयों को उपादान कारण मानने से बड़ा गौरव दोष आता है; और यह भी दोष है, कि विषय के नाश से अनंतर विषय का स्मरण न होवे; क्योंकि उपादानकारण का जब नाश होगया, तो किस आ-

श्रय में स्मरण उपजेगा; यदि अनुभव से विना अन्य आश्रय में भी स्मरण मानाजावे, तो उक्त दोष लगा ही रहैगा, कि चैत्र के अनुभव से मैत्र को स्मरण अवश्य होवे, परंतु ऐसा कभी नहीं होता, इस से सिद्ध हुआ, कि ज्ञान आदि गुणों का उपादानकारण चेतन आत्मा विषयों और इंद्रियोंसे पृथक है १५ ॥

इति न्याय सूत्रवृत्ति में एक चक्षु इंद्रिय के सिद्ध करने का २७ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ⁂ ⁂

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनांमनसिसम्भवात् १६ ॥

आशंका करते हैं, कि नित्य (उत्पत्तिऔरनाशसेरहित) मन ही चेतन होवे; आत्मा की प्रतिपत्ति (सिद्धि) के हेतु मन में ही हो सकते हैं, इसलिये मन से भिन्न आत्मा (चेतन) नहीं मानना, किंतु मन ही चेतन है १६ ॥

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् १७ ॥

उत्तर यह है, कि यदि मन चेतन हो; तो रूप आदि पदार्थों के प्रत्यक्ष का नियम बांधने के अर्थ कोई अन्य करण (इंद्रिय) अवश्य मानना पड़ेगा; जब चेतन मन और करण कोई अन्य माना, तो केवल संज्ञा का ही भेद हुआ, तात्पर्य तो कोई नहीं आया; और एक क्षण में अनेक ज्ञान न उत्पन्न होवें, इस से मन को अणु (अतिसूक्ष्म) माना है; और ज्ञान आदि के प्रत्यक्ष की सिद्धि के अर्थ आत्मा महान् विभु (सब से बड़े परिमाणवाला) माना है; पुनः मन (अणु) और आत्मा (म-

ज्ञान) एक किसरीति होसकते हैं; और मन को चेतन कहने से यह दोष भी आता है, कि चेतन (मन) में वर्तमान ज्ञान, सुख आदि का प्रत्यक्ष ना होवे; इस से मन चेतन नहीं है १७ ॥ ❖ ❖ ❖

नियमश्चनिरनुमानः १८ ॥

आशंका, रूप आदि का प्रत्यक्ष ही इंद्रियों के द्वारा हो, सुख आदि का प्रत्यक्ष विना ही करण (इंद्रिय) के होता है; और अन्य परमाणुओं का प्रत्यक्ष न भी हो, मन का प्रत्यक्ष होजाता है; उत्तर यह है, दृढ़ युक्ति के न होने से और गौरव दोष से उक्त संकोच के मानने में कोई प्रमाण नहीं है १८ ॥ ❖ ❖ ❖

आत्माकोमनसेपृथक्सिद्धकरनेका २८ वां॰ प्रकरण समाप्तहुआ ॥ ❖ ❖ ❖

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्यहर्ष भयशोकसम्प्रतिपत्तेः १९ ॥

इसरीति देहआदि से भिन्न आत्मा की सिद्धि करनेपर भी आत्मा में नित्यत्व की सिद्धि किये विना परलोक की कामना वाले मनुष्यों की प्रवृत्ति नहीं होगी; इससे आत्मा में नित्यत्व की सिद्धि के अर्थ यह (१९वां॰) सूत्र कहा है, जात (उत्पन्नहुए) बालक को इस जन्म में अनुभव करने से विनाही हर्ष आदिके हेतुओं से हर्ष (हंसना आदि) भय (चकितहोना आदि) शोक (रोना आदि) की संप्रतिपत्ति (उत्पत्ति) होने से स्पष्ट प्रतीत होता

है, कि पूर्व (पहिले) कभी अवश्य हर्ष आदिकाअनुभव हुआ था, कि जिस (अनुभव) से अब स्मरण हुआहै; परंतु इस जन्म में तो अभी प्रारंभ ही है, किंतु पहिले जन्म का अनुभव मानना पड़ेगा; इसीरीति उससे भी पहिले जन्म का अनुभव मानना पड़ेगा, अर्थात् इस अभ्यास (परंपरा) से सिद्धहुआ, कि आत्मा अनादि (उत्पत्तिसे हीन) है; परंतु अनादिभाव का नाश कभी नहीं होता, इस से सिद्ध हुआ, कि आत्मा नित्य (उत्पत्तिऔरविनाश से हीन) है १९ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

पद्मादिषुप्रबोधसम्मीलनविकारवत्तद्विकारः २० ॥

इसपर आशंका करते हैं, कि मुख के खिलजाने आदि से बालक के हर्ष आदि का अनुमान करना योग्य नहीं है; अदृष्ट विशेष की सामर्थ्य से कमल आदि के फूलने और संकुचित होने की नाईं बालक के मुख में हसनाआदि विकार प्रतीत होते हैं; इस से आत्मा में नित्यत्व की सिद्धि कभी नहीं होसकती २० ॥ ⁂

नोष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात्पञ्चात्मकविकाराणाम् २१ ॥

सिद्धांत यह है, कि पंचात्मक (पृथिवीआदिपांचभूतों से उत्पन्न) कमल आदि के विकार (फूलनाआदि) उष्ण (गर्मी) शीत (जाड़ा) वर्षा (वर्सात) इन समयों के भेद से होते हैं; और मनुष्यों के विकार (मुखकाखिलनाआदि) हर्ष आदि निमित्तों से होते हैं; इस से मनुष्यों को

कमल का दृष्टांत देना योग्य नहीं है; २१ ॥ ⁂

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात्स्तन्याभिलाषात् २२ ॥

आत्मा में नित्यत्वकी साधक और युक्ति देते हैं; प्रेत्य (मरके) पुनः उत्पन्न होते ही बालक को स्तन्य (दूध) की अभिलाष (इच्छा) देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि पूर्व जन्म में आहार (भोजन) के अभ्यास से ही यहां भी खाने की इच्छा हुई है; इस से सिद्ध हुआ, कि आत्मा अनादि (नित्य) है २२ ॥ ⁂ ⁂

अयसोऽयस्कान्ताभिगमन
वत्तदुपसर्पणम् २३ ॥

पुनः आशंका करते हैं, चुमकपत्थर के सामने यथा अयस (लोहा) जैसे अयस्कांत (चुमकपत्थर) के सामने जाता है; इसीभांति बालक स्तन के सामने जाता है; पूर्व जन्म की इष्टसिद्धि के ज्ञान से चेष्टा (क्रिया) मानके स्तन पान में प्रवृत्ति माननी, इस में कोई प्रमाण नहीं है २३

नान्यत्रप्रवृत्त्यभावात् २४ ॥

उत्तर यह है, कि स्तनपान में ही बालक प्रवृत्त हो, अन्यत्र न प्रवृत्त हो, इसका नियम बिना पूर्व स्मरण के होना कठिन है; वास्तव यह जानना, कि प्रवृत्ति में लोहे की क्रिया का साम्य नहीं आता, जिस से लोहे में प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से अन्य चेष्टा कभी नहीं होती, और बालक में ये दोनों हैं; इसलिये उक्त दृष्टांत से व्यभिचार देना योग्य नहीं है २४ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

वीतरागजन्मादर्शनात् २५ ॥

और युक्ति आत्मा में नित्यत्व की साधक देते हैं, वीत (नष्ट) होगया है, राग (इच्छा) जिस का ऐसे मनुष्य का मोक्ष होता है; जन्म नहीं होता किंतु राग आदि दोषों के होने पर ही जन्म होता है; परंतु इष्टसिद्धि के ज्ञान से विना इच्छा कभी नहीं होती, तो सिद्ध हुआ, कि पूर्वजन्म की इष्टसिद्धि के स्मरण से बालक को स्तनपान की इच्छा होती है; तब स्तनपान में प्रवृत्त होता है; इसी रीति पक्षी आदिभी अन्न के कण को खाने लगते हैं, इस साधारण इच्छा के जताने के वास्ते यह बात पुनः स्पष्ट करके कही है २५ ॥ ⁘ ⁘ ⁘

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः २६ ॥

आशंका करते हैं, सगुण (रूपआदिगुणोंकेसाथही) द्रव्यों (घटआदि) की उत्पत्ति जैसे होती है; इसीरीति इच्छा आदि गुणों के साथ हीआत्माभीउत्पन्नहोता हैं; पहले जन्म की इष्टसिद्धि का स्मरण मानने मे कोई दृढ़ युक्ति नहीं, अर्थात् तुमारा हेतु अप्रयोजक (अनुकूलतर्कसेहीन) है; २६ ॥ ⁘ ⁘ ⁘

न सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् २७ ॥

उत्तर यह है, कि राग (इच्छा) आदि का निमित्त (कारण) संकल्प (इष्टसिद्धिकाज्ञान) है; और प्रवृत्ति की कारण इच्छा है, चेष्टा की कारण प्रवृत्ति है; ये कार्यकारणभाव सब ही नर्वी हैं तो सिद्ध हुआ, कि अवश्य नित्य है २७ ॥ ⁘ ⁘ ⁘ ⁘

इति न्याय सूत्र वृत्ति में आत्मा के नित्यत्व का साधक २९ वां प्रकरण समाप्त हुआ. ॥ ✣ ✣

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः २८ ॥

क्रम से प्राप्त शरीर की परीक्षा करने के अवसर में कोई एं कहते हैं; कि मनुष्य आदि का शरीर पांचभौतिक (पृथ्वीआदिपांचभूतोंसेउपजाहुआ) है; सिद्धान्त यह है, गुणांतरों (गंध, नीलरूप, कठिनस्पर्श) की उपलब्धि (प्रतीति) से सिद्ध होता है, कि मनुष्य आदिका शरीर पार्थिव (पृथ्वीसेबना) है; २८ ॥ ✣

पार्थिवाप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः क
निश्वासोच्छ्वासोपलब्धेश्चातुर्भौतिकम्
ख गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदा-
नेभ्यः पाञ्चभौतिकम् ग. ॥

अन्य आचार्यों के मत इन (क, ख, ग) तीन सूत्रों में दिखाये हैं; इनके गुणों (गंध स्नेह, उष्णस्पर्श) की उपलब्धि (प्रतीति) से कोई आचार्य कहते हैं, कि मनुष्य आदि का शरीर इन (पृथ्वी, जल, तेज) तीन भूतों से बना है; क. निश्वास और उच्छ्वास (प्राणवायुका अंदर जाना और बाहर आना) देखने से कोई कहते हैं, कि मनुष्यआदि का शरीर इन (पृथ्वी, जल, तेज और वायु) चारभूतों से बना है । ख. और गंध, क्लेद (जल,) पाक (रूपआदिकापरिवर्तन,) व्यूह (प्राणोंकीगति) अवकाश (छेद) इन सब को देख के कोई एं कहते

हैं, कि मनुष्य का शरीर इन (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) पांच भूतों से बना है; ग. अतितच्छ ज्ञान के भाष्यकार ने इन मतों का खंडन नहीं किया; क्योंकि संकर दोषके भय से एक शरीर में पृथिवीत्व जलत्व आदि अनेक जातियों का मानना सर्वथा असंभव के समान है । और अनेक विजातीय (भिन्न २ जातिके) द्रव्य किसी एक कार्य के उपादान (समवायिकारण) नहीं होसकते; क्योंकि जल से उत्पन्न कार्य को पृथिवी नहीं कह सकते, और चित्र द्रव्य (किसीअंश में पृथ्वी, किसी अंश में जल आदि) भी नहीं मान सकते जिस से शरीर के सब अंशों में गंध का प्रत्यक्ष होता है; और क्लेद आदि जल आदि के गुणों का नाश होने से अनंतर भी सूकेरूप शरीर में गंध का प्रत्यक्ष होने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि मनुष्य आदि के शरीरों का उपादानकारण पृथ्वी है; जल, तेज, वायु और आकाश ये चार निमित्तकारण हैं; इसी रीति जलीय शरीर में जल उपादान और अन्य चार निमित्त, यही क्रम सब शरीरों में जानना; इसबात को प्रगटकरने के अर्थ ये (क, ख, ग) तीन सूत्र कहे हैं ॥

श्रुतिप्रामाण्याच्च २९ ॥

मनुष्यआदि के शरीर पार्थिव हैं, इस में और युक्ति देते हैं; कि सूर्य को मेरा चक्षु सुनता हूं इस मंत्र के अंत में कहा है, कि पृथ्वी को मेरा शरीर सुनता हूं और उपादानकारण में कार्य का लय (नाश) कहने

के प्रसंग में तेरा चक्षु सूर्य को प्राप्त होता है, इस मंत्र के अंत में कहा है; पृथ्वी में तेरा शरीर प्राप्त होता है; इन श्रुतियों के प्रमाण से भी स्पष्ट प्रतीत होता है, कि मनुष्य आदि के शरीर पार्थिव हैं; कोई ग्रंथकार इनचारों सूत्रों को भाष्य ही मानते हैं, परंतु एकसूत्र का प्रकरण न होनेसे इनका कहना योग्य नहीं है; इसीसे अन्य ग्रंथकार तीनों को भाष्य मानके चौथे को सूत्र कहते हैं; अन्य लोग इसी दोषसे वरुणलोक आदि में प्रसिद्ध जलीय, तैजस, वायवीय शरीरों में भी उपभोग (सुख अथवा दुःख का प्रत्यक्ष) की सिद्धि के अर्थ पृथ्वी निमित्त है; इस भाष्य को सूत्र कहते हैं; २९ ॥ ⁂

इति न्यायसूत्रवृत्ति में शरीर को पार्थिवत्व सिद्ध करने का ३०वां० प्रकरण समाप्त हुआ० ॥ ⁂ ⁂

कृष्णसारेसत्युपलम्भाद्व्यतिरिच्य
चोपलम्भात्संशयः ३० ॥

अब क्रमसे प्राप्त इंद्रियों की परीक्षा करनी योग्य है, परंतु पीछे लक्षण सूत्र में कह आये हैं; कि इंद्रियां भौतिक (भूतों से उत्पन्न) हैं; इस बात (इंद्रियां भौतिक हैं) की परीक्षा के अर्थ आदि में संशय दिखाते हैं; कृष्णसार (काली आंख की गोली) के होने पर घट आदि पदार्थों का उपलंभ (प्रत्यक्ष) होने से प्रतीत होता है, कि आंख में काले रंग का गोल तारा ही चक्षु इंद्रिय है; यह बौद्धों का सिद्धांत है, और व्यतिरिक्त (आंख से बाहर घट आदि विषयों को प्राप्त होके) उपलंभ (प्रत्यक्ष उपजाने) से

प्रतीत होता है, कि गोल तारा से अन्य कोई तेजका अंश इंद्रिय है; क्योंकि यह गोलतारा तो आंख से बाहर कभी नहीं जाता, यह अन्य आचार्यों का सिद्धांत है; इन मतों के भेद से संशय होता है, कि चक्षु इंद्रिय गोलतारा है, अथवा तारा से अन्य है, इस पर नैयायिकों का यह सिद्धांत है, कि गोलतारा से अन्य तेज का अंश चक्षुइंद्रिय है; और भूतों से भी अन्य अहंकारका कार्य इंद्रिय है, यह सांख्य का सिद्धांत है; और अन्य सब आचार्य इंद्रियों को भौतिक (भूतों से उत्पन्न) मानते हैं ३० ॥ ❖ ❖ ❖

महदणुग्रहणात् ३१ ॥

इन सब मतों में से सांख्य के मत से बौद्ध के मतका खंडन करके दिखाते हैं; गोलतारा को इंद्रिय नहीं कह सकते, जिस से यह (तारा) आंख से बाहर जाके विषय (घटआदि) को प्राप्त नहीं होसकता, और विनाही प्राप्ति के प्रत्यक्ष मानों तो यह व्यभिचार दोष लगेगा विना देखे पदार्थ का भी प्रत्यक्ष हो जावे; क्योंकि अप्राप्ति सब में एकसी है, ऐसे ही गोलतारा से अन्य भौतिक इंद्रिय का मानना भी असंगत है; जिस से चक्षु अपनी अपेक्षा छोटे, बड़े सब पदार्थों को ग्रहण करता है, परंतु छोटा चक्षु बड़े पदार्थ को व्याप्त (अंदर) न कर सकने से ग्रहण नहीं कर सकेगा; इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि इंद्रिय भौतिक नहीं किंतु आहंकारिक (अहंकार के कार्य) हैं ३१ ॥ ❖ ❖ ❖ ❖

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात्तद्ग्रहणम् ३२

सांख्य के मत का खंडन करते हैं; रश्मि (गोलतारा के उपरले तेज) का अर्थ (घटआदि) के साथ सन्निकर्ष विशेष (संयोगविशेष) होने से इंद्रिय छोटे बड़े सब पदार्थों का ग्रहण करलेता है; अर्थात् भूत (तेज) से उपजा हुआ भी दीप जैसे अपनी अपेक्षा छोटे और बड़े पदार्थों का भी प्रकाश करता है; इसी रीति भूत (तेज) से उत्पन्न इंद्रिय (चक्षु) भी छोटे, बड़े पदार्थों को ग्रहण करता है; और इंद्रिय यदि भूतों के कार्य न हों, किंतु अहंकार के कार्य हों, तो केवल वर्त्तमान पदार्थों का ही ग्रहण न करें, बरुक भूत, भविष्य आदि तीनों कालों के पदार्थों का ग्रहण करें; ३२ ॥ ⁂ ⁂

तदनुपलब्धेरहेतुः ३३ ॥

इस पर बौद्धों की यह आशंका है, कि छोटे, बड़े पदार्थों के ग्रहण करने में जो (रश्मि और पदार्थ का संयोग) हेतु दिया है; वह योग्य नहीं, जिस से गोलतारा से पृथक उस (रश्मि) की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) नहीं होती; ३३ ॥

नानुमीयमानस्यप्रत्यक्षतो
ऽनुपलब्धिरभावहेतुः ३४

उत्तर यह है, कि अनुमीयमान (अनुमानप्रमाण से सिद्ध) पदार्थ का अभाव (नहोना) केवल प्रत्यक्ष (इंद्रियों) के द्वारा अनुपलब्धि (नजानने) से नहीं सिद्ध हो सकता; अर्थात् नील आदि रूपों के प्रत्यक्ष का कारण (साधन) होने से अनुमान प्रमाण के द्वारा जब इंद्रिय

(चक्षु) सिद्ध होगया, तो केवल प्रत्यक्ष के नहोने से उस (चक्षु) के अभाव (नहोने) का कथन सर्वथा असंगत है; इस से सिद्ध हुआ, कि चक्षु जिस से तेजस (तेजका कार्य) है, इसीसे छोटे, बड़े पदार्थों को ग्रहण कर सकता है ३४ ॥ ❖ ❖ ❖

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः ३५ ॥

यदि चक्षु इंद्रिय प्रमाण से सिद्ध है, तोउस (चक्षु) का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता; इस पर कहा है, कि द्रव्य के धर्म (महत्परिमाणआदि) और गुण के धर्म (उद्भूतत्वआदि) इन धर्मों के अनुसार उपलब्धि (प्रत्यक्ष का नियम है; अर्थात् सब द्रव्योंका प्रत्यक्ष नहीं होता, किंतु जिस द्रव्य में महत् परिमाण और उद्भूतरूप रहे, उस द्रव्य (घटआदि) का प्रत्यक्ष होता है; और जिस द्रव्य में ये (उक्त) धर्म न रहें, उन द्रव्यों (परमाणु, चक्षुआदि) का प्रत्यक्ष नहीं होता; ३५ ॥ ❖ ❖

अनेकद्रव्यसमवायाद्रूपविशेषाच्चरूपोपलब्धिः ३६ ॥

रूप आदि गुणों का भी उन्हीं का प्रत्यक्ष होता है; जो (रूपआदि) समवाय संबंध से अनेकद्रव्य (बहुत उपादानों से उत्पन्नद्रव्य) में रहें, और उद्भूत (प्रगट) हों, चक्षु की रश्मि में महत्परिमाण और उद्भूत रूपभी नहीं है; पुनः चक्षु का और चक्षु के रूप का प्रत्यक्ष कहां से होता था; अर्थात् चक्षु का रूप भी अनुद्भूत (सूक्ष्म) और स्पर्श भी अनुद्भूत है; इस से चक्षु का प्रत्यक्ष नहीं होता;

कर्मकारितश्चेन्द्रियाणांव्यूहःपुरुषार्थतन्त्रः ३७

चक्षु में उद्भूतरूप क्यों नहीं है, इसपर यह कहा है; इंद्रियों का व्यूह(रचनाविशेष) कर्मों(पुरुषार्थ(सुख अथवा दुःखका प्रत्यक्ष) के अधीन कर्मों का ज्ञान है, अर्थात् अदृष्ट(धर्म, अधर्म) का प्रत्यक्ष नहीं होता, किंतु कार्य(पुरुषार्थ) से कारण(अदृष्ट) का अनुमान होता है; यही अदृष्ट चक्षु के अनुद्भूत रूप का कारण है ३७ ॥ ❖ ❖ ❖

अव्यभिचाराच्चप्रतीघातोभौतिकधर्म्मः ३८

और जो आवरण विशेष(भितिआदि) के व्यवधान से पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता इस में अव्यभिचार(अन्वय व्यतिरेक) से भौतिक(भूतोंका) स्वाभाविक धर्म प्रतीघात(अन्यवस्तुकोरोकदेना) प्रतीत होता है; अर्थात् भूतों का यह स्वभाव ही है, कि एक भूत मध्य मे हो, तो दूसरे का प्रत्यक्ष नहीं होता, इस सूत्र को वृत्तिकार ने नहीं माना; ३८ ॥ ❖ ❖ ❖

मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धि
वत्तदनुपलब्धिः ३९ ॥

रूपवाले महत् पदार्थ की अनुपलब्धि(प्रत्यक्ष के न होने) में दृष्टांत देते हैं; दिन में उल्का(नक्षत्र) का प्रकाश सूर्य के प्रकाश में लीन(छिपा) हुआ जैसे नहीं दीखता, इसीरीति उद्भूत(स्थूल) रूप के न होने से चक्षु का प्रत्यक्ष नहीं होता; ३९ ॥ ❖ ❖

नरात्रावप्यनुपलब्धेः ४० ॥

इस पर आशंका करते है, कि इसी रीति घटआदि सब पदार्थों में रश्मि(तेजकाअंश)मानना योग्य है; केवल सूर्य के तेज में लीन होने से प्रत्यक्ष नहीं होता, उत्तर यह है, सूर्य के नहोने पर रात्रि में भी नक्षत्रों की नांईं घट आदि की रश्मि नहीं देखने में आती, इस से घट आदि में रश्मि का मानना असंगत है; ४०

बाह्यप्रकाशानुग्रहाद्विषयोपलब्धे
रनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ४१ ॥

इस पर तटस्थ की यह आशंका है, कि उद्भूतरूप के नहोने से चक्षु का प्रत्यक्ष नहीं होता, अथवा सूर्य के अभिभव(तिरस्कार) से चक्षुका प्रत्यक्ष नहीं होता, इन दो पक्षों में से सिद्धान्त कैसे जानाजावे; उत्तर बाह्य(सूर्यआदिके) प्रकाश के अनुग्रह(साहाय्य) से विषय(घटआदि) का प्रत्यक्ष होता है; जेकभी चक्षु में उद्भूत रूप होता तो बाह्यप्रकाश से प्रत्यक्ष अवश्य होता; और यदि चक्षु का अभिभव मानें, तो सूर्यआदि के साहाय्य से भी चक्षु प्रत्यक्ष होनउपजासके, जैसे दिनमें अभिभूतनक्षत्रअन्यका का अपना प्रत्यक्षभीनहींकरासकता ४१ ॥

अभिव्यक्तौचाभिभवात् ४२ ॥

इस पर यह आशंका करते हैं, सूर्य के तेज से चक्षु का तिरस्कार नहीं होता; किंतु चक्षु के रूपका अभिभव होता है, परंतु इस(रूप)को प्रत्यक्ष का कारणमानने में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है; और अभिभव(तिरस्कार) से ही चक्षुका प्रत्यक्ष नहीं होता, अन्य पदार्थों का

प्रत्यक्ष कराने में कोई विरोध भी नहीं आता; इसआशंका का यह उत्तर है, अभिव्यक्त(उद्भूत) रूप का प्रत्यक्ष न होने से कल्पना की जाती है; कि इस रूप का अभिभवहुआ है; परंतु चक्षु का रूप जब उद्भूत ही नहीं है, तोइस में अभिभव की कल्पना कभी नहीं होसकती; और सुवर्ण आदि की नाईं कोई अन्य द्रव्य सदामिला रहता है, जिस से चक्षु का प्रत्यक्ष कभी नहीं होता; इस कल्पना में भी महागौरव दोष आता है; ४२ ॥ ⁂ ⁂

नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ४३ ॥

इस प्रमाण से भी स्पष्ट प्रतीत होता है, कि गोलतारा से अन्य रश्मि(तेजकाअंश) चक्षु है, रात्रिचारी(बैल, सिंह, उल्लूआदि)के नेत्रों में प्रत्यक्ष से ही रश्मि देखने में आती है, इसी प्रत्यक्ष का दृष्टांत देके संपूर्ण जीवों के नेत्रों में अनुमान प्रमाण के द्वारा रश्मि(तेजकाअंश) चक्षु सिद्ध होता है; नहींतो अंधेरे के समय सिंहआदि के नेत्रों में भी रश्मि न दीखे; ४३ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

अप्राप्यग्रहणंकाचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ४४ ॥

काच, अभरक, स्फटिक के व्यवधान होने पर भी चक्षु के द्वारा पदार्थों का प्रत्यक्ष होजाने से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि प्राप्ति(संबंध) से विना ही चक्षु पदार्थ का ग्रहण(प्रत्यक्ष) करता है, अर्थात् संबंध की अपेक्षा जब नहीं है, तो गोलतारा से पृथक् रश्मि(तेजकाअंश) चक्षु मानना सर्वथा असंगत है, किंतु गोलतारा ही चक्षु है ४४ ॥

नकुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ४५ ॥

उत्तर यह है, कुड्य(भीत) का अंतर(व्यवधान) होने पर प्रत्यक्ष नहोने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि विना संबंध के प्रत्यक्ष का मानना असंगत है, इसलिये गोलतारा से पृथक् चक्षु का प्रतिषेध भी कभी नहीं होता; कोई ग्रंथकार ४३ वें सूत्र को पूर्वपक्षी का मान के ४४ वें सूत्र को भाष्य की अवतरणिका कहते हैं; वास्तव में यह(४३ वां) सिद्धांती का सूत्र ही है, अर्थात् काच आदि के व्यवधान से दीप प्रकाश करता है; और तेज है, इसीरीति काच आदि के व्यवधान होने पर भी चक्षु प्रत्यक्ष को करता है; इस से अवश्य तेज है, ४५ ॥ ⁂ ⁂

अप्रतिघातात्सन्निकर्षोपपत्तिः ४६ ॥

पुनः आशंका करते हैं, कि कुड्य(भित्ति) के व्यवधान से जैसे चक्षु का संबंध पदार्थके साथ नहीं होता, इसीरीति काच आदि का व्यवधान होने पर भी पदार्थों के साथ चक्षुका संबंध होने से विनाही प्रत्यक्ष होजावेगा, पुनः संबंध के अर्थ रश्मि की कल्पना व्यर्थ है; इस का उत्तर करते हैं, काच आदि स्वच्छ द्रव्यों के अप्रतिघात(स्वाभाविक रुकावट के नहोने) से चक्षु के साथ पदार्थ का संबंध होकेही प्रत्यक्ष होता है; बिना संबंध के प्रत्यक्ष नहीं होता; ४६ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

आदित्यरश्मेःस्फटिकान्तरेऽपिदाह्येऽविघातात् ४७

इस पर प्रत्यक्ष दृष्टांत देतेहैं, कि स्फटिक आदि का व्यवधान होने पर भी दाह्य (घटआदि) पदार्थों में सूर्य की

रश्मि का संबंध कभी रुकता नहीं, अथवा कपाल का व्यवधान होनेपर भी चर में पड़े तंडुलों से आगकी रश्मि का संबंध होने से कभी नहीं रुकता, इसीरीतिकाचआदिका व्यवधान होनेपरभी चक्षु का संबंध हो ही जाता है; अर्थात् काच आदिस्वच्छद्रव्यतेजकीरश्मिकोनहींरोकसकते; ४७ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

नेतरेतरधर्म्मप्रसङ्गात् ४८ ॥

इसपर आक्षेप करते हैं, कि इतरों (काचआदि) से इतर (कुड्यआदि) के धर्म (रोकदेना) की प्राप्ति से यह (स्वच्छद्रव्यतेजकीरश्मिकोनहींरोकते) कथन नहीं बन सकता; अर्थात् कुड्य आदि सबपदार्थों का साधारण स्वभाव काचआदि में न रहे, इस में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है; ४८ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

आदर्शोदकयोःप्रसादस्वाभाव्याद्रूपोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ४९

उत्तर यह है, आदर्श (दर्पण,) उदक (जल) इन दोनों का स्वभाव प्रसाद (स्वच्छहोना) है, इसी से दर्पण, जल में मुख आदि पदार्थों का प्रतिबिंब (छाया) देखने में आता है; परंतु भित्तिआदिमें कभी ऐसे प्रतिबिंब नहीं दीखता, इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, काच आदिका यह स्वभाव है; कि बीच (मध्य) में होनेपर भी प्रत्यक्ष को नहीं रोकते, और कुड्यआदिका इस से विरुद्ध यह स्वभाव है, कि मध्यमें होने से प्रत्यक्ष को अवश्य रोकदेते हैं; और आग का यह स्वभाव है, कि स्वच्छ वा मलिन कैसा ही

पदार्थ मध्यमें हो, सब को फाड़के लंघ जाना; दीप का स्वभाव यह है, स्वछद्रव्य को फाड़के परलीऔर प्रकाश करदेना, मलिन द्रव्यको नहीं लंघ सकना इनस्वभावों के भेद से सब दोष दूर होजाते हैं; ४९ ॥

दृष्टानुमितानांनियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ५०

चक्षु को दीपआदि का सादृश्य देने में क्या प्रमाण है, इस पर कहा है, कि दृष्ट (प्रत्यक्ष से सिद्ध) अनुमित (अनुमान सेसिद्ध) पदार्थों का अथ वा दृष्टसेअनुमित (प्रत्यक्षदृष्टांतदेकेअनुमानसेसिद्ध) पदार्थों का विनाकिसीदृढ़युक्तिकेनियोग (ऐसाहोवे) औरप्रतिषेध (ऐसानहोवे) अनुपपन्न (युक्ति से विरुद्ध) है; ५० ॥ ⁂

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में इंद्रियों की परीक्षा का ३१ वांप्रकरण समाप्तहुआ; ॥ ⁂ ⁂ ⁂

स्थानान्यत्वेनानात्वादवयविनानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्चसंशयः ५१ ॥

चक्षु औरत्वचा से एक पदार्थ का ग्रहण करने से जो इंद्रियों से पृथक आत्मा की सिद्धि की है; वह तभी हो सकती है, जब इंद्रियां नाना (बहुत) सिद्ध हो लेवें; इस संगति से इंद्रियों के नानात्व की परीक्षा के अर्थ आदि में संशय दिखाते हैं, स्थान (अवयवों) के भेद से घट, पटआदि पदार्थों का भेद देखते हैं, और बहुत से अवयवों में एक ही अवयवी देखते हैं; इस से संशय होता है, कि इंद्रिय बहुत हैं, अथवा एक ही है; ५१ ॥

त्वगव्यतिरेकात् ५२ ॥

आशंका है, कि सारे शरीर में त्वक् का व्यतिरेक (अभाव) नहीं है, इस से एक त्वचा ही इंद्रियमाननी योग्यहै; ५२

नेन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः ५३ ॥

अंधे मनुष्य की त्वचा वर्त्तमान भी है, पुनः उसे इंद्रियांतर (चक्षु) के अर्थ (रूप) का प्रत्यक्ष नहीं होता इस से एक त्वचा ही इंद्रियमाननी योग्यनहीं है, ५३ ॥

त्वगवयवविशेषेणधूमोप लब्धिवत्तदुपलब्धिः ५४ ॥

नेत्र के भीतर त्वचा का अंश धूम को ग्रहण करता है, सारी त्वचानहीं ग्रहणकरसकती; इसीरीति त्वचा के भिन्न भिन्न अवयव पृथक् २ विषयों को ग्रहण करेंगे, पुनः एकत्वचाही इंद्रिय मानीजावे, तो क्या दोष है; ५४

आहतत्वादहेतुः ५५ ॥

यह हमारा कथन आप ही आहत (खंडित) होजाने से योग्य नहीं है; अर्थात् विषयोंके भेद से अंशों का भेद मानने से इंद्रियोंका भेदतो सिद्ध होगया; परंतु इनसब अंशों को त्वचा कहनें में कोई प्रमाण नहीं है; ५५

नयुगपदर्थानुपलब्धेः ५६ ॥

सिद्धांत यह है, युगपत् (एकवारगी) अर्थों (गंधरसआदि) की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) नहोने से स्पष्ट प्रतीत होता है, कोई एक इंद्रिय नहीं है ५६ ॥

⁂ ⁂

विप्रतिषेधाच्चनत्वगेका ५७ ॥

त्वचा स्पर्श को प्राप्त होके ग्रहण करती है, और गंध, रूप

आदि को प्राप्त होनेसेविना ही ग्रहण करती है; इस विप्रतिषेध (तुल्यविरोध) से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि एक त्वचा ही इंद्रिय है, यह कथन असंगत है; ५७ ॥

इंद्रियार्थपञ्चत्वात् ५८ ॥

इंद्रियो के वहुत होने में कार्यों का भेद ही प्रमाण दिखाते हैं; इंद्रियों (चक्षुआदि) के अर्थ (ग्रहण करनेयोग्य) रूप आदि जब पांच हैं; तो इनके ग्रहण करने वाली इंद्रियां भी पांच ही हैं; अर्थात् एक ही इंद्रिय यदि मानीजावे, तो रूप, रस आदि पदार्थों में विलक्षणता (अंतर) न होवे; कौं कि एक ही इंद्रिय जब मानीगई, तो अंधे को भी रूप का प्रत्यक्ष होजावे; ५८ ॥ ❖

नतदर्थवहुत्वात् ५९ ॥

इस पर आशंका करते हैं, कि चक्षु आदि इंद्रियोंके अर्थ (नीलपीतआदि) वहुत भी हैं; पुनः चक्षु एकहीहै; वहुत नहीं हैं, इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि विषयों के भेदसे इंद्रियोंका भेद मानना, सर्वथा युक्ति से विरुद्ध है; ५९ ॥

गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद्गन्धादीनामप्रतिषेधः ६०

उत्तर यह है, कि गंधआदि विषय वहुत भी हों, परंतु गंधत्व आदि धर्म उन में एक एक ही होने से उक्त प्रतिषेध (खंडन) योग्य नहीं हैं; अर्थात् गंधत्व धर्म जिनमें रहे, उन्हें घ्राण, रसत्व धर्म जिनमें रहे, उन्हें रसना, रूपत्व धर्म जिन में रहे, उन्हें चक्षु, स्पर्शत्वधर्म जिन में रहे उन्हें त्वचा, और शब्दत्वधर्म जिन में रहे, उन्हें श्रोत्र ग्रहण करता है; इस गंधत्वआदि पांच धर्मों के भेद

से इंद्रियांभी पांच ही हैं; औरनीलत्व आदि से नियम हीनहींमाना कि उक्तआपत्ति लगे ९० ॥ ⁘

विषयत्वाव्यतिरेकादेकत्वम् ९१ ॥

यदि नीलत्व आदि व्याप्य धर्मों से प्रत्यक्ष भेदकोत्याग के रूपत्व आदि व्यापक धर्मों से रूप आदि पदार्थों में एकता मान कर पांच इंद्रियों का नियम बांधाजावे; तो गंधत्व आदि के भी व्यापक विषयत्व धर्म से रूपआदि सब विषयों में एकता का स्वीकार करने से पांच की अपेक्षा एक इंद्रिय के माननें में ही बहुत लाघव है; यह आशंका की गई है; ९१ ॥ ⁘ ⁘

नबुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्या कृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः ९२ ॥

उत्तर यह है, कि बुद्धि(बाह्यप्रत्यक्ष) के लक्षण(भेद) ये (सुंघना, स्वादचाखना, देखना, छूना, और सुनना;) पांच हैं; इस (बाह्यप्रत्यक्ष) के विषय भी पांच हैं, गंध, रस, रूप, स्पर्श, और शब्द; इस(बा॰प्र॰) की उत्पत्ति के क्रमभी ५ ही हैं; गंध का प्रत्यक्ष नासिका के समीप पुष्पआदि गंधीलेपदार्थ आने से होताहै; जिह्वा के साथ रसीले आम आदि के छूने से रस का प्रत्यक्ष होता है; और बहुत दूर तक भी जाकर आंखों से रूप का प्रत्यक्ष होता है; और सारे देह में कहीं भी शीत आदि पदार्थों के छूने से स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है; कान तक पहुंचने से शब्द का प्रत्यक्ष होता है; और इस(बा॰प्र॰) के करणों के आकार(स्वरूप) भी पांच ही हैं· इन सबों में पांच संख्या का

नियम बांधने वाले करण घ्राणत्व, रसनत्व, चक्षुष्ट्व, त्वक्त्व, श्रोत्रत्व, धर्मों से पृथक पृथक पांच इंद्रिय पृथिवी आदि भूतों के कार्य अवश्य मानने योग्य हैं; ६२ ॥ ⁘ ⁘

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ६३ ॥

अब घ्राण आदि पांच इंद्रियों में पृथिवी आदि पांच भूतों की कार्यता सिद्ध करने के अर्थ प्रमाण दिखाते हैं; भूतों (पृथिवी आदि पांचों) के गुण विशेष (गंधआदिपांच) की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) से तादात्म्य (अभेद) सिद्ध है; अर्थात् केसर के समान गंध देने वाले घृतआदिका दृष्टांत देके गंध आदि पांचों मे से क्रम पूर्वक जो जो इंद्रिय जिसजिसगुण को ग्रहण करे; वह पृथिवीआदि पांच भूतों के कार्य, और अभिन्न (बड़ीजाति से एक) सिद्ध होजाते हैं; ६३ ॥ ⁘ ⁘ ⁘

इति श्री न्यायसूत्रवृत्ति में पांच (बाहरकी) इंद्रियसिद्ध करनेका ३१ वां॰ प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ⁘ ⁘

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानांस्पर्शपर्यन्ताः
पृथिव्यामप्तेजोवायूनां पूर्वंपूर्वमपो-
ह्याकाशस्योत्तरः ६४ ॥

क्रम से प्राप्त अर्थ की परीक्षा के अर्थसिद्धांतसूत्र कहते हैं; गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द; इन पांचों में से स्पर्श तक चारों पृथ्वी में रहते हैं, पूर्व (पहिले) पहिले को त्याग के क्रम से ३ (रस, रूप, स्पर्श) जलमें; २ (रूप स्पर्श) तेजमें; १ (स्पर्श) वायु में और सबसे उत्तर (पीछे) शब्द आकाश में

रहते हैं; ६४ ॥ ❖ ❖ ❖

न सर्वगुणानुपलब्धेः ६५ ॥

आक्षेप करता है, कि तुमारा यह गुणों का नियम योग्य नहीं है; क्योंकि पृथिवी के जो चार गुण (गंध, रस, रूप, स्पर्श, कहे हैं; उन सब का पृथिवी की इंद्रिय घ्राण से प्रत्यक्ष नहीं होता; और वाहर की इंद्रियों का यह नियम है, कि अपनी प्रकृति के सारे विशेषगुणों को ग्रहण करना, इस से यह ही प्रतीत होता है, कि पृथ्वी का विशेषगुण गंध ही है; इसीरीति जल आदि में भी आप का नियम टूट जाता है; ६५ ॥ ❖ ❖ ❖

एकैकस्यैवोत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तरोत्तराणांतदनुपलब्धिः ६६ ॥

उत्तर देते हैं, उत्तर उत्तर जल आदि कों में एक एक के क्रम से उत्तर उत्तर गुण (रसआदि) विशेषगुण नियत होने से अपने २ विशेषगुण को अपनी अपनी इंद्रिय ग्रहण करेगी, अन्यविषय को अपनी प्रकृति में आने पर भी नहीं ग्रहण करेगी; अर्थात पृथिवी के विशेषगुण गंध को पृथिवी की इंद्रिय घ्राण; जल के विशेष गुण रस को जल की इंद्रिय रसना; तेज के विशेष गुण रूप को तेज की इंद्रिय चक्षु; वायु के विशेषगुण स्पर्श को वायु की इंद्रिय त्वचा; और आकाश के विशेषगुण शब्द को आकाश की इंद्रिय श्रोत्र ग्रहण करेगी; ६६ ॥

संसर्गाच्चानेकगुणग्रहणम् ६७ ॥

यदि पृथिवी आदि में रस आदि गुण नहीं हैं, तो पृथ्वी आदि

में उन (रसआदि) का प्रत्यक्ष कैसे होता है; इसका उत्तर वादीने दोसूत्रों में किया है, यद्यपि पृथिवी आदि में एक एक गुण ही है, तोभी संसर्ग (संबंध) से अनेक गुणों का ग्रहण (प्रत्यक्ष) होता है; अर्थात् पृथिवी में विशेषगुण तो गंधही है, परंतु जल के संबंध से रस तेज के संबंध से रूप और वायु के संबंध से स्पर्श भी प्रतीत होता है; ऐसेही औरों में भी जानलेना ९७ ॥ ⁂ ⁂ ⁂ ⁂

विंष्टंह्यपरंपरेण ९८ ॥

इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं, अपर (पृथिवीआदि) जिससे पर (जलआदि) के साथ विष्ट (संबद्ध) हैं; इसी से अन्यगुणों का भी प्रत्यक्ष होता है, अर्थात् पृथिवी में मिले हुए जल से रसना का संयोग होने पर रसका प्रत्यक्ष होता है; पृथिवी में रस नहीं है ९८ ॥ ⁂ ⁂

नपार्थिवाप्ययोःप्रत्यक्षसिद्धत्वात् ९९ ॥

सिद्धांत यह है, कि पार्थिव (पृथिवीसेउत्पन्न) आप्य (जलसेउत्पन्न) द्रव्यों की प्रत्यक्ष से सिद्धि होनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है; तुमारा कहा एकएकगुणोंका नियम योग्य नहीं है, अर्थात् पृथिवी आदि द्रव्यों में यदि रूप न होवे, तो इन (पृथिवीआदि) का चक्षु से प्रत्यक्ष न होवे; और यदि इन में स्पर्श नहोवे, तो इन (पृथिवीआदि) का त्वचा से प्रत्यक्ष नहोवे; क्योंकि द्रव्यों के चाक्षुष प्रत्यक्ष में रूप और त्वाचप्रत्यक्ष में स्पर्श कारण है; और किसी द्रव्य के प्रत्यक्षों में ये (रूपऔरस्पर्श) समवाय संबंधसे कारण माने जावें; किसी द्रव्यके प्रत्यक्ष में ये (रूपऔरस्पर्श) परंपरा (स्वसमवायिसंयोग) संबंध सेका

रण माने जावें; तो एक के स्थान दो संबंध मानने से बहुत गौरव दोष आता है; किंतु पृथिवी आदि द्रव्यों में गंध आदि गुण ६४ वें· सूत्र में कहे क्रमसे ही रहते हैं ६९ ॥ ⁂

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम् ७० ॥

इंद्रियों का यह नियम है, कि अपनी प्रकृति के सब योग्य गुणों का ग्रहण करना; तो पृथिवी में यदि रूप, स्पर्श होवें, तब पृथिवी की इंद्रिय (घ्राण) से इन (रूप और स्पर्श) का ग्रहण अवश्य होवे; इस आशंका का उत्तर करते हैं, पूर्वपूर्व (गंध आदि) गुणों के उत्कर्ष (घ्राण आदि में पृथिवीत्व आदि जातियों की सिद्धि करने) से वही (गंध आदि गुण) प्रधान (घ्राण आदि से ग्रहण करने के योग्य) हैं; अर्थात् गंध आदि पांचों में से जो गुण घ्राण में पृथिवीत्व की, रसना में जलत्व की, चक्षु में तेजस्त्व की, त्वचा में वायुत्व की और श्रोत्र में आकाशत्व की सिद्धि करता है, उसी उसी गुण को अपनी प्रकृति में अथवा अन्य प्रकृति में भी क्रमसे घ्राण आदि इंद्रिय ग्रहण करते हैं, अपनी प्रकृति के सब गुणों का ग्रहण करने में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है ७०

तद्व्यवस्थानन्तु भूयस्त्वात् ७१ ॥

इस पर आशंका करते हैं, कि गंध तो सारी पृथिवी में रहता है; पुनः घ्राण को ही इंद्रिय कहना, अन्य पृथिवी को इंद्रिय नहीं मानना; इसका नियम कैसे होगा, उत्तर करते हैं, इंद्रिय का व्यवस्थान (नियम) भूयस्त्व (अधिकता) से होता है; अर्थात् जल आदि के संबंध से बिना केवल पृथिवी से जो द्रव्य उत्पन्न होता है, उसे घ्राण इंद्रिय कहते हैं; इसी (पृथिवी की प्रधानता) से यह (घ्राण) गंध के ग्रहण में कारण (द्वार) है ७१

सगुणानामिन्द्रियभावात् ७२ ॥

घ्राण आदि इंद्रियों में गंध आदि गुणों के होने में प्रमाण दिखाते हैं; सगुण (गंध आदि गुणों वाले) ही घ्राण आदि इंद्रिय (गंध आदि के प्रत्यक्ष में करण) होते हैं; अर्थात् घृत में जब गंध है, तो वह (घृत) केसर के गंध का प्रत्यक्ष कराता है, इसी रीति घ्राण आदि जब गंध आदि गुणों का प्रत्यक्ष कराते हैं; तो इन (घ्राण आदि) में भी गंध आदि गुण अवश्य हैं ७२ ॥ ❖ ❖ ❖

तेनैव तस्याग्रहणाच्च ७३ ॥

इस रीति इंद्रियों में गंध आदि गुणों की युक्ति के द्वारा सिद्ध होने पर प्रत्यक्ष के न होने से कल्पना की जाती है; कि घ्राण आदि में गंध आदि गुण अनुद्भूत (सूक्ष्म) हैं; इस अभिप्राय से गोतम जी ने कहा है, कि उस (इंद्रिय) से उस (इंद्रिय) का अग्रहण होने (प्रत्यक्ष न होने) से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि इंद्रियों के गुण अनुद्भूत (सूक्ष्म) हैं; ७३ ॥ ❖ ❖ ❖

न शब्दगुणोपलब्धेः ७४ ॥

इस पर आशंका करते हैं, कि उक्त (इंद्रियों के गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता यह) नियम योग्य नहीं है; जिससे श्रोत्र इंद्रिय के गुण शब्द की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) होती है; ७४ ॥

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्य गुणवैधर्म्यात् ७५ ॥

उत्तर करते हैं, द्रव्यों (पृथिवी आदि) के गुणों (गंध आदि) का वैधर्म्य (विलक्षण स्वभाव) होने से शब्द का प्रत्यक्ष होता है; अर्थात् रूप आदि गुणों के आश्रय पृथक् पृथक् होने से

चक्षु के रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता; और सब शब्दों का आश्रय (आकाश) लाघव से एक मानागया है; इससे श्रोत्र के ग्रहण शब्द का प्रत्यक्ष होजाता है ७५ ॥ ⁂

अर्थों की परीक्षा का ३३ वां प्रकरण समाप्त हुआ ।

इति न्यायसूत्रवृत्ति में आत्माआदिचार प्रमेयों की परीक्षा का तीसरे अध्याय में पहिला आह्निक समाप्त हुआ । ॥

३य॰ अध्याय॰ २य॰ आह्निक

कर्म्माकाशसाधर्म्यात्संशयः १ ॥

क्रम से प्राप्त बुद्धि और मन की परीक्षा इस आह्निक में की जावेगी, यह (बुद्धि और मन की परीक्षा) ही इस आह्निक का प्रयोजन है; कोई आचार्य ऐसे कहते हैं, कि देह के भीतर वर्त्तमान सुख आदि के भोगने में सहायक प्रमेयों की परीक्षा इस, आह्निक का प्रयोजन है; परंतु यह कथन असंगत प्रतीत होता है, जिस से शरीर के भीतर वर्त्तमान इंद्रियों की परीक्षा पिछले आह्निक में होचुकी है; इस आह्निक में सात प्रकरण हैं; इनमें से आदि के पांच प्रकरणों में बुद्धि की परीक्षा होगी; इन पांचों में से पहिला बुद्धि में अनित्यता की सिद्धि का प्रकरण है, पहिले बुद्धि में अनित्यत्व का संशय दिखाने के लिये यह सूत्र कहा है; उत्क्षेपण आदि कर्मों की नाईं स्पर्श से रहित बुद्धि अनित्य है, अथवा आकाश आदि विभुओं की नाईं स्पर्श से रहित बुद्धि नित्य है; अर्थात् अनित्य कर्मों के साथ और नित्य आकाश आदि के साथ साधर्म्य (एकसा स्पर्शशून्यत्वधर्म) देखने से संशय हुआ, कि बुद्धि नित्य अथवा अनित्य है १ ॥

विषयप्रत्यभिज्ञानात् २ ॥

अब सांख्यकार बुद्धि में नित्यत्व की सिद्धि करता है; विषयों (घट आदि) की प्रत्यभिज्ञा (जो घट मैं ने देखा था उसी को अब हाथ से छूता हूं; ऐसा ज्ञान) होने से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि बुद्धि नित्य है, उक्त प्रत्यभिज्ञा से सब ज्ञानों का आश्रय कोई एक सिद्ध होता है; परंतु कूटस्थ आत्मा में

तो ज्ञान आदि किसी पदार्थ की प्राप्ति ही नहीं है; किंतु ज्ञान आदि सब बुद्धि के परिणाम और बुद्धि के ही धर्म हैं; इस बुद्धि का आविर्भाव (प्रगट होना) और तिरोभाव (छिपजाना) माना है; उत्पत्ति और विनाश नहीं माना; इससे बुद्धि नित्य है २ ॥

⁂ ⁂ ⁂

साध्यसमत्वादहेतुः ३ ॥

उत्तर करते हैं, ज्ञान आदि का आश्रय बुद्धि है; यह बात साध्यसम (युक्ति के द्वारा न सिद्ध) होने से अपने पक्ष (बुद्धि में नित्यता) की सिद्धि नहीं कर सकती; उत्पत्ति और विनाश से रहित होके ज्ञानवाला होने से ही आत्मा कूटस्थ कहाता है; अन्य कोई कूटस्थ का लक्षण प्रसिद्ध नहीं है, किंतु आत्मा ही ज्ञान आदि का आश्रय नित्य और चेतन है; बुद्धि अनित्य (क्षणिक) है, ३ ॥ ⁂

न युगपदग्रहणात् ४ ॥

नित्य बुद्धि के ही व्यापार विषयों के ज्ञान वह्नि के चिंगाड़ों की नांईं बुद्धि से अभिन्न हैं; इस (सांख्य के) सिद्धांत का खंडन करते हैं, युगपत् (एकबारगी) ग्रहण (विषयों का ज्ञान) न होने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि ज्ञान और ज्ञानाश्रय का अभेद कभी नहीं हो सकता, अर्थात् ज्ञान और ज्ञानाश्रय यदि एक ही हों, तो एकबारगी सब पदार्थों का ज्ञान होजावे; किंतु ज्ञान का आश्रय आत्मा ज्ञान से भिन्न ही है ४ ॥

⁂ ⁂ ⁂

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः ५

और ज्ञानों को तुमने भी अनित्य माना है; पुनः आश्रय

के साथ इन (ज्ञानों) का अभेद (ऐक्य) भी माना है, तो प्रत्यभिज्ञा के नाश से आश्रय का नाश अवश्य होना योग्य है; क्योंकि ज्ञान और ज्ञानाश्रय एक ही माने गये हैं; इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि ज्ञान और ज्ञानाश्रय का एक मानना सर्वथा युक्ति से बाहर है ५ ॥ ⁂ ⁂

क्रमवृत्तित्वादयुगपद्ग्रहणम् ६ ॥

अपने मत में गौतम जी एक क्षण में अनेक ज्ञानों का न उत्पन्न होना सिद्ध करते हैं; अणु (अतिसूक्ष्म) मन का जिस जिस इंद्रिय के साथ संयोग होता है, क्रम क्रम से वही इंद्रिय ज्ञान को उत्पन्न करता है; परंतु अतिसूक्ष्म होने से एकबारगी दो इंद्रियों के साथ तो मन का संयोग होही नहीं सकता; इस से सिद्ध हुआ, कि इन्हीं (मनके साथ इंद्रियों के संयोगों) के क्रम से ज्ञानभी क्षण क्षण के विलंब से ही उत्पन्न होते हैं; एक क्षण में उक्त कारणों के न होने से अनेकज्ञान कभी नहीं उत्पन्न होते ६ ॥

अप्रत्यभिज्ञानं चविषयान्तरव्यासङ्गात् ७ ॥

जिस इंद्रिय से मनका संयोग जबतक नहीं होता, तबतक उस इंद्रिय से ज्ञान नहीं उत्पन्न होता; इस बातको युक्ति से सिद्ध करते हैं, विषयांतर (अन्यइंद्रिय) के साथ मन का व्यासंग (संयोग) होने से जिस इंद्रिय के साथ मन का संयोग नहीं है, उस इंद्रिय से प्रत्यभिज्ञान (ज्ञान) कभी नहीं उत्पन्न होता; किंतु जिस (इंद्रिय) के साथ मन का संयोग होता है, उसी (इंद्रिय) से ज्ञान उत्पन्न होता है ७ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

नगत्यभावात् ८ ॥

और सांख्य के मत से यह क्रम नहीं सिद्ध होसकता, क्योंकि इस मत में कार्य कारण के अभेद से मन जब विभु (सबसे अधिक परिमाणवाला) हुआ, तो मन की गति (एक इंद्रियको त्यागके दूसरे इंद्रिय से जामिलना) नहीं बन सकती; कोई २ कहते हैं, कि मन जब विभु है, तो सब इंद्रियों के साथ इस (मन) का संयोग सदा ही बना रहता है; इसलिये सदा ही सब ज्ञान इकट्ठे उत्पन्न हुआ करें ८ ॥

स्फटिकान्यताभिमानवत्तदन्यत्वाभिमानः ९ ॥

ज्ञान और ज्ञान का आश्रय ये दोनों सिद्धांत में तो एक ही हैं, भेद की प्रतीति भ्रम से होती है; इस आशंका को सांख्यकार दृष्टांत देके सिद्ध करते हैं; जैसे जवा पुष्प आदि के प्रतिबिंब से स्फटिक में भिन्न भिन्न रूपों के भ्रम से स्फटिक में भी भेद का भ्रम होने लगता है; इसी रीति बुद्धि से अभिन्न भी है, ज्ञान तोभी नाना विषयों के संबंध (प्रतिबिंब) से ज्ञान और बुद्धि भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं; यथार्थ विचार के देखें, ज्ञान और बुद्धि (ज्ञानकाआश्रय) एकही हैं ९ ॥

⁂ ⁂ ⁂

नहेत्वभावात् १० ॥

इस का खंडन करते हैं, कि हेतु (युक्ति) के अभाव (न होने) से ज्ञानों में भेद के ज्ञान को अयथार्थ (भ्रम) मानना योग्य नहीं है; कोई आचार्य यूंकहते हैं, कि यह (नहेत्वभावात्) सूत्र नहीं किंतु भाष्य है; अर्थात् न्याय मत के सूत्रकार ने सांख्य की इस आशंका का उत्तर नहीं किया,

इसलिये भाष्यकार ने न्यूनता दूर करने के अर्थ यह पाठ लिख के सांख्य की उक्त आशंका का समाधान करदिया है; इस विचार से सिद्ध हुआ, कि बुद्धि अनित्य क्षणिक है, और बुद्धि (ज्ञान) का आश्रय आत्मा बुद्धि से भिन्न नित्य है १० ॥ इतिन्यायसूत्रवृत्ति में बुद्धि की अनित्यता का साधक ३४ वां प्रकरणसमाप्त हुआ ॥

स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः
क्षणिकत्वाद्व्यक्तीनामहेतुः ११

स्फटिक की नाईं ज्ञान भी भ्रम से ही बहुत प्रतीत होते हैं; इस बात को न सहन के सौगत (बौद्ध) आशंका करते हैं, कि ज्ञानों के भेद का खंडन करने के अर्थ स्फटिक का दृष्टांत अहेतु (अयोग्य) है; क्योंकि सब भाव क्षणिक हैं, इस से पहिले स्फटिक का नाश और अन्य स्फटिक की उत्पत्ति क्षण क्षण में होती ही रहती है; अर्थात् स्फटिक में अथवा ज्ञान आदि में भेद का ज्ञान यथार्थ ही होता है, अयथार्थ नहीं है; इस रीति भाव पदार्थों में क्षणिकत्व वात्स्यायन भाष्य में सिद्ध किया है; कि क्षण क्षण में शरीर के अंग कभी स्थूल और कभी कृश देखने में आने से स्पष्ट प्रतीत होता है, पूर्व शरीर का नाश और अन्य शरीर की उत्पत्ति क्षण २ में होती रहती है; क्योंकि एक देह में दो परिमाण इकट्ठे कभी नहीं रहसकते, और आश्रय के नाश से बिना परिमाण का नाश कभी नहीं होता; इस-

रीति शरीर का दृष्टांत देके सब भावों में क्षणिकत्व सिद्ध कर लेना, कोई ग्रंथकार इतने भाष्य कोभी सूत्र ही मानते हैं; ११ ॥

❖ ❖ ❖ ❖

नियमहेत्वभावाद्यथादर्शनमभ्यनुज्ञा १२ ॥

सिद्धांत यह है, कि सब भावों में नियम से नाश की सामग्री होने का कोई दृढ़ हेतु नहीं है; किंतु जहां (शरीरों) में) नाश की सामग्री (अंगोंकाबढ़नाघटना) देखने में आवे, उन (शरीरों) को क्षणिकमाननेकी अभ्यनुज्ञा (सम्मति) है; औरजिन (स्फटिकआदि) में उक्त सामग्रीनहीं दीखती, उन्हें क्षणिक कहने में कोई प्रमाण नहीं है १२ ॥

नोत्पत्तिविनाशकारणोपपत्तेः १३ ॥

सिद्धांतकीसहायक और युक्ति दिखातेहैं, उत्पत्ति और विनाश के निमित्त कारण (अंगोंकाबढ़नाघटनाआदि) जिन में प्रत्यक्ष दीखें, वे (शरीरआदि) क्षणिक होते हैं; परंतु उक्त कारण स्फटिकआदि में नहीं हैं इस से स्फटिक आदि(भावों) को क्षणिक मानना सर्वथा असंगत है १३ ॥

क्षीरविनाशेकारणानुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिवच्चतदुपपत्तिः १४ ॥

आशंका वादीकरते हैं, कि क्षीर (दूध) के नाश काकारण और दही की उत्पत्ति का कारण यद्यपि प्रत्यक्ष (इंद्रियों) से नहीं दीखता; तोभी दूध का नाश और दही की उत्पत्ति मानी जाती है; इसीरीति कारणोंके न दीखने परभी पहिले स्फटिक का नाश और उत्तर स्फटिक की उत्पत्ति मानलेंगे; अर्थात् स्फटिक आदि सब भाव क्षणिक ही हैं; १४ ॥

लिङ्गतोग्रहणान्नानुपलब्धिः १५ ॥

न्यायका सिद्धांत यह है, कि दूध का नाश और दही ये कार्य जब प्रत्यक्ष दीख रहे हैं; तो इन्हीं कार्यों से इन के कारण भी अनुमान प्रमाण से सिद्ध होजावेंगे, और तुमारे कार्य (पहिले स्फटिक का नाश और दूसरे स्फटिक की उत्पत्ति) तो प्रत्यक्ष से नहीं दीख पड़ते, कि तुम भी उन कार्यों से कारणों का अनुमान करलो; प्रायशः वही अनुमान उत्तम होता है, जिसका हेतु प्रत्यक्ष से निश्चित हो; १५

न पयसः परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात् १६ ॥

बौद्ध के मत पर सांख्य की रीति से दोष देते हैं; दूध का नाश और दही की उत्पत्ति यह कथन सर्वथा असंगत है; किंतु विद्यमान दूध के ही परिणाम (फल) अन्य से अन्य होते रहते हैं; अर्थात् वर्त्तमान दूध में ही अवस्था के भेद से पहिले गुणों (मधुर रस आदि) का तिरोभाव (लुप्त होजाना) और अन्य गुणों (आम्ल रस आदि) का आविर्भाव (प्रगट होना) होता रहता है; विनाश और उत्पत्ति किसी कार्य की भी नहीं होसकती, जिस से संपूर्ण कार्य नित्य हैं १६ ॥

⁂

व्यूहान्तराद्द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम् ७ ॥

पूर्व कहे सांख्य के मत का खंडन कर के न्याय का सिद्धांत दिखलाते हैं; व्यूहांतर (रचनाविशेष) से द्रव्यांतर (पहिले द्रव्य से अन्य द्रव्य) की उत्पत्ति के ज्ञान से अनुमान किया जाता है; कि पहिले (अवयवों के) संयोग का

नाश होने पर पूर्व (पहिले) द्रव्य का नाश होजाने से अन्य द्रव्य उत्पन्न हुआ है; क्योंकि एक क्षण में अनेक मूर्त द्रव्य एक आश्रय में कभी नहीं रहते, यह बात प्रत्यक्ष से ही घट आदि मूर्त द्रव्यों में पाई जाती है; अर्थात् वर्त्तमान ही दूध अवस्था के भेद से दही बनजाता है, यह सांख्य का कथन सर्वथा युक्ति से विरुद्ध है १७ ॥ ⁂

क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः
क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः १८ ॥

सांख्य के मत में और दोष देनेके अर्थ गोतम जी ने सूत्र कहा है; कहीं घट आदि के विनाशका कारण (दंडका अभिघातआदि) प्रत्यक्ष ही देखने में आता है; और कहीं दूध, शब्द आदि के विनाश का कारण प्रत्यक्ष नहीं दीखता; इस से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि यह (दूध का नाश और दही कारणसे विना ही होते हैं;) सांख्यकार का कथन अनेकांत (अनियत) होने से सर्वथा अप्रमाणी है। वास्तव यह है, आम्ल द्रव्य का संयोग दूध के नाशका कारण है; और आम्ल परमाणु और उनका संयोग दही का कारण है; इस से सांख्य का कथन असंगत ही प्रतीत होता है १८ ॥ इतिन्यायसूत्रवृत्ति में भाव पदार्थों की क्षणिकताके खंडनका ३५ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ⁂ ⁂ ⁂ ॥

नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् १९

बुद्धि आत्मा का गुण है, यद्यपि यहबात आत्मा की परीक्षा में सामान्यरीति से सिद्ध कर आए हैं; तोभी विशेष करके इस प्रकरण में सिद्ध करते हैं, कि बुद्धि आत्मा का ही गुण है; आदि में आशंका यह है, कि भेरी और आकाश के संयोग से उत्पन्न शब्द जैसे आकाश का विशेषगुण है; इसी रीति इंद्रिय और अर्थ (घटआदि) के संयोगसे उत्पन्न ज्ञान भी इंद्रियों का ही विशेषगुणहोनायोग्य है; इस पर न्याय का सिद्धांत सूत्रकार ने दिखाया है, कि इंद्रियों का अथवा अर्थों का गुण बुद्धि नहीं है; जिस से इंद्रियों और अर्थों के नाश से अनंतर भी ज्ञान (स्मरण) होता है; परंतु स्मरण उसी को होताहै, जिसको अनुभव हुआ हो; नहींतो यह नियम नरहै, किसका स्मरण किस को हो, किसको नहो १९ ॥

⁂ ⁂ ⁂ ⁂

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः २० ॥

मनकाभी गुण बुद्धि नहीं है, इसबात को प्रगट करते हैं; युगपत् (एकबारगी) ज्ञेयों (पदार्थों) की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) हटाने के अर्थ जब मन अणु (अतिसूक्ष्म) और ज्ञानोंका करण माना गया है; और प्रत्यक्ष में महत्व (महत्परिमाण) कारण है; तो ज्ञानआदि यदि मन के गुण माने जावें, तो इन (ज्ञानआदि) का प्रत्यक्ष नहोवे; और कायव्यूह प्रवेशसे अनेक देहों में ज्ञान आदि न होवें २० ॥

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् २१ ॥

इस पर यह आशंका है, बुद्धिको आत्माकागुण मानने

पर भी यह (एकवारगीवहुतज्ञानउत्पन्नहोवें) होसक्ता है, जिस से विभु आत्मा का संयोग एकवारगी सब इंद्रियों से बनाही है; पुनः मन क्या कर सकता है २१ ॥

इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात्तदनुत्पत्तिः २२

उत्तर यह है, कि विभुआत्मा का संयोग सब इंद्रियों के साथ एकवारगी यद्यपि बना रहता है; परंतु अणु (अतिसूक्ष्म) मन का संयोग एकवारगी सब इंद्रियों के साथ न होने से एक क्षण में अनेक ज्ञानों की उपपत्ति (सिद्धि) नहीं हो सकती अर्थात् आत्मा के साथ इंद्रियों के संयोग की नाईं मन के साथ इंद्रियों का संयोग भी ज्ञान का कारण अवश्य है; २२ ॥

⁂

नोत्पत्तिकारणानपदेशात् २३ ॥

पुनः आशंका करते हैं, बुद्धि की उत्पत्ति के कारण का अनपदेश (अकथन) होने से यह (बुद्धिआत्माकागुणहै) कथन अप्रमाण है; और यदि आत्माके साथ मन का संयोग ही बुद्धि का कारण मानाजावे, तो बुद्धि (ज्ञान) सार्वदिक (नित्य) होनी योग्य है; जिस से नित्य आत्मा और नित्य मन का संयोग सदा ही बना रहता है २३ ॥

विनाशकारणानुपलब्धेश्चाव-
स्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः २४ ॥

बुद्धि को आत्मा का गुण मानने में और दोष देते हैं; कि बुद्धि का आत्मा में अवस्थान (होना) माने, तो बुद्धि के नाश का कारण (आश्रय का नाशआदि) उपलब्ध (प्रतीत) नहीं होता, इस से बुद्धि नित्य (उत्पत्ति और नाशसेरहित)

होनी योग्य है; अर्थात् इन (२३+२४) दो सूत्रों से यह सिद्ध हुआ, कि बुद्धि की उत्पत्ति का कारण और विनाश का कारण जब कोई नहीं प्रतीत होता, तो बुद्धि नित्य है; और आत्मा का गुण बुद्धि नहीं है २४ ॥ ⁂

अनित्यत्वग्रहाद्बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत् २५ ॥

उत्तर यह है, कि बुद्धि के अनित्यत्व (उत्पत्ति और विनाश) का ग्रह (अनुभव) होने से इन्हीं (उत्पत्ति और नाश) कार्यों के द्वारा कारणों का अनुमान कर लिया जाता है; कि आत्मा के साथ मन का संयोग ज्ञान की उत्पत्ति का कारण है; और उत्तर (पीछे से होने वाली) बुद्धि अथवा संस्कार पहिली बुद्धि के नाश का कारण है; और अदृष्ट से अथवा दीर्घ काल से अंतिम (सब से पिछली) बुद्धि का नाश होता है; एक बुद्धि का नाश दूसरी बुद्धि से होता है, इस में योग्य दृष्टांत दिखाते हैं; 'शब्दवत्' जैसे एक शब्द का नाश दूसरे शब्द से होता है; और निमित्त (अभिघात आदि) के नाश से अंतिम शब्द का नाश होता है, इसी रीति ज्ञान में भी जानना २५ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः २६ ॥

पुनः आशंका करते हैं, कि बुद्धि जब आत्मा का गुण है, तो संस्कार और आत्मा के साथ मन का संयोग ये दोनों हेतु वर्तमान होने से एक क्षण में अनेक स्मरण उत्पन्न होवें; इस पर किसी एकदेशी का उत्तर यह है, ज्ञान (संस्कार-

का कारण अनुभव) जिस पदार्थ का आत्मा में समवेत (उत्पन्न) हो, उस पदार्थ में आत्मा और मन का सन्निकर्ष (संयोग) स्मृतिका कारण है; परंतु वह सन्निकर्ष क्रमिक (एकबारगी न उत्पन्न होनेवाला) है; इस से एकक्षण में अनेक स्मृति नहीं होंगी; कोई ग्रंथकार करण व्युत्पत्ति से ज्ञान पद का अर्थ संस्कारही करते हैं २६ ॥ ⁂

नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः २७

एकदेशी के मत का खंडन करते हैं, कि यह मत योग्य नहीं है, जिस से शरीर के अंदर वर्तमानही मन अपने व्यापार (आत्मा से संयोग) के द्वारा ज्ञान को उपजाता है; शरीर से बाहर मन का संयोग ज्ञान का कारण ही नहीं है; अर्थात् शरीर के भीतर मन का संयोग जब कारण माना, तो उक्त (एकक्षण में अनेक स्मरणों का होना) दोष सामग्री (संस्कार और आत्ममनोयोग) के होने से लगाही रहेगा २७ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

साध्यत्वादहेतुः २८ ॥

एकदेशीपुनः आशंका करते हैं, कि शरीर के भीतर आत्मा के साथ मनका संयोग साध्य (अनिश्चित) होने से स्मरण का हेतु (कारण) नहीं हो सकता; अर्थात् देह के भीतर ही आत्मा के साथ मन का संयोग स्मरण का कारण मानाजावे, इसमें कोई प्रमाण नहीं है २८ ॥

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः २९ ॥

न्याय का सिद्धांत यह है, कि स्मरण करने के समय शरीर के धारण की उपपत्ति (सिद्धि) से उक्त (शरीर के भी-

तर आत्मा के साथ मन का संयोग स्मरण का कारण नहीं है) प्रतिषेध (खंडन) योग्य नहीं है; अर्थात् शरीर के बाहर मन का संयोग यदि कारण माना जावे, तो स्मरण के समय यत्न के कारण शरीर के अंदर आत्मा के साथ मन का संयोग न होने से शरीर का धारण (जीना) न होवे, किंतु स्मरण के समय शरीर मृत होजावे; २९ ॥ ∴

नतदाशुगतित्वान्मनसः ३० ॥

पुनः आशंका एकदेशी करते हैं, कि मन की उस समय अति शीघ्र गति होने से अर्थात् बहुत शीघ्र पुनः शरीर में आजाने से शरीर मृत नहीं होता और स्मरण तो देह से बाहर विषय तक मन के जाने से ही होता है ३० ॥ ∴

नस्मरणकालानियमात् ३१ ॥

एकदेशी के मत का खंडन करते हैं, कि स्मरण के समय का कोई हढ़ नियम न होने से यह (मन बाहर विषय तक जा के पुनः बहुत शीघ्र शरीर के अंदर आजाता है) कथन असंगत है; अर्थात् कभी शीघ्र स्मरण होता है, और कभी मन को केवल एक विषय की ओर लगाने पर विलंब से स्मरण होता है; यदि एकदेशी कहे, कि मन केवल एक विषय की ओर तो शरीर के भीतर ही लगाया जाता है; किंतु स्मरण की उत्पत्ति से एक क्षण पहिले मन बाहर विषय तक जाता है; तो यह भी कहना असंगत है, जिस से बाहर जाना और हट के पुनः भीतर आना, इन क्रियाओं से उत्पन्न विभाग, पहिले संयोग का नाश, अन्य संयोग की उत्पत्ति, इत्यादि कार्य जितने क्षणों में उत्पन्न होंगे, उतने क्षणों तक शरीर मृत

रहे; ३१ ॥

❖ ❖ ❖ ❖

आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञता
भिश्चनसंयोगविशेषः ३२ ॥

एकदेशी के मत पर कोई औरएकदेशी दोष देता है, कि शरीर के वाहर विषय से मन का संयोग स्मरण के अर्थ आत्मा की प्रेरणा से नहीं होसकता; क्योंकि आत्मा विषय को जानने से अनंतर मन को प्रेरेगा, तो पहिले ही स्मरण होजाने से प्रेरण व्यर्थ है; यदृच्छा से(विनाकिसीकारणके) भी विषय से मन का संयोग नहीं कह सकते, जिससे यह (वह संयोग कव हो, औरकवनहो) नियम कोई नहीं वांध सकेगा; और यह भी नहीं कह सकते, कि चेतन मन स्मरण की इच्छा से विषय से जामिलता है, जिससे मन में चैतन्यका खंडन अणुत्व(अतिसूक्ष्महोने) से करदिया है; कोई लोग प्रेरणा(ज्ञान) यदृच्छा(इच्छा) औरज्ञता(यत्न)कहते हैं; परंतुकेवलयत्नकेकथनसेहीनिर्वाहहोजानेसे यहकथनअसंगत है ३२ ॥

❖ ❖ ❖

व्यासक्तमनसःपादव्यथनेनसं-
योगविशेषणसमानम् ३३ ॥

इस(दूसरेएकदेशीके) मत का खंडन करते हैं; नृत्यआदि में एक टक मन लगाये मनुष्य को कांटे आदि से पाउं में व्यथा (पीड़ा) होने पर जैसे मन वहुतशीघ्रता से नृत्य को त्याग के पाउं से आमिलता है; इसी रीति स्मरण के समय विषय से छूटके मन वहुत शीघ्रता से शरीर में आजाता है; नहीं तो नृत्य के स्थल में भी ये सव दोष लगें, अदृष्ट विशेष के अधीन

क्रियाओंके सामर्थ्य से यदि मन का संयोग नत्यके स्थलमेंमानाजावे; तौ स्मरण में भी इसीरीति अदृष्ट के सामर्थ्य से निर्वाह करलेना ३३ ॥

❖ ❖ ❖

प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगपद्भावादयुगपत्स्मरणम् ३४ ॥

न्याय के मत से एक क्षण में अनेक स्मरणों का ना होना सिद्ध करते हैं; प्रणिधान (चित्त की एकाग्रता अथवा स्मरण की इच्छा) लिंग (उद्बोधक) आदि के ज्ञान जिससे युगपत् (एकबारगी) नहीं होते; इसी से एकबारगी अनेक स्मरण भी नहीं होते, किंतु स्मरण के कारण उक्त ज्ञान जिस क्रम से होते हैं, इसी क्रम से स्मरण भी होते हैं; यदि उद्बोधक आदि इकट्ठे जाने जावें, तौ स्मरण भी इकट्ठा सब पदार्थों का एक ही होजाता है; जैसे बहुत अक्षरों के पद का ज्ञान होता है ३४ ॥

❖ ❖ ❖

प्रातिभवत्तुप्रणिधानाद्यनपेक्षेस्मार्ते यौगपद्यप्रसङ्गः ३५ ॥

प्रतिभा (फुर्ती) से मन की एकाग्रता आदि की अपेक्षा से बिनाही जैसे अनेक ज्ञान अति शीघ्रता के प्रभाव से एकबारगी होते प्रतीत होते हैं; इसीरीति जिन स्मरणों में अभ्यास आदि के प्रभाव से उद्बोधक आदि की अपेक्षा नहीं रहती, वे स्मरण भी अतिशीघ्रता से एकबारगी होते प्रतीत होते हैं। ३५

ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः ३६ ॥

अब बौद्ध यदि इच्छा को मन का गुण मान के कारण (ज्ञान) को अपने कार्यों के आधार (मन) में युक्ति से ही सिद्ध करके

आत्मा में ज्ञान का निषेध करे; तो यह उत्तर है । कि ज्ञान आदि मन के गुण नहीं, किंतु आत्मा के गुण हैं, जिस से कार्यों में प्रवृत्त होना, और निवृत्त होना ये प्रयत्न (आत्मा के गुण) अपने कारण इच्छा और द्वेष जो कि ज्ञानका कार्य है, उसे आत्मा में ही सिद्ध करता है; अर्थात् अपने कार्य के कार्य प्रयत्न (अभ्यास) हेतु से चेतन, विभु (सबसे अधिक परिमाणवाला) आत्माही ज्ञान का आधार सिद्ध होता है; अणु (अतिसूक्ष्म) मन अभ्यास नहीं करसकता; १६ ॥

नलिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवे
ष्वप्रतिषेधः १७ ॥

इस पर नास्तिक की यह आशंका है; ज्ञान, इच्छा, यत्न, होते तो एक ही आश्रय में हैं, परंतु वह आश्रय मनुष्य के आकार से इकट्ठा हुआ, परमाणुओंका पुंज (समूह) शरीर ही है; प्रयत्न (अभ्यास) को प्रत्यक्ष से ही शरीर में देखके इस (प्रयत्न) के कारण इच्छा द्वेष और ज्ञान भी शरीर में अनुमान से सिद्ध होजाते हैं; इस से पार्थिव (देह आदि) पदार्थों में ज्ञान, इच्छा यत्न, का प्रतिषेध नहीं है १७ ॥

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् १८ ॥

समाधान करने की इच्छा से नास्तिक के मतपर दोष देते हैं; कि परशु (कुहाड़ा) आदि में क्रियाविशेष (काटना आदि) के द्वारा यत्न का अनुमान करने से ज्ञान आदि चेतन के सब गुण जड़ पदार्थों में भी सिद्ध होजावें; इस से यह ही प्रतीत होता है, कि यत्न समवाय संबंध से शरीर आदि (जड़ों) की क्रिया का कारण नहीं; किंतु परंपरा (स्वाश्र-

यसंयोग) संबंध से कारण है; यदि समवाय संबंध से यत्न क्रिया का कारण होवे, तो परशुआदि में यत्न भी अवश्य होवे; अर्थात् काटना आदि में नियम से चेतन (सिपाहीआदि) की अपेक्षा न पड़े ३८ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः ३९ ॥

घट आदि के अवयवों में घट के प्रारंभ (प्रवृत्ति) को और रेत में घट के न उपजाने (निवृत्ति) को देख के भी इच्छा द्वेष के न होने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि यत्न (आरंभनिवृत्ति) से इच्छा, द्वेष का अनुमान करना अहेतु (अयोग्य) है ३९ ॥

नियमानियमौतुतद्विशेषकौ ४० ॥

न्याय मत में उक्त दोषों का वारण इस रीति होता है; चेतन और अचेतन (जड़) का विशेष (भेद) नियम (समवायसंबंध से ज्ञान इच्छा यत्न के होने) और अनियम (समवायसंबंध से उक्त ज्ञानआदि के न होने) से सिद्ध होता है; अर्थात् समवाय संबंध से ज्ञानआदि चेतन (आत्मा) में ही रहते हैं; और अवच्छेदकतानामी स्वरूप संबंध से ज्ञान आदि शरीर में चेष्टा के कारण हैं; और परशुआदि में यत्न विषयता संबंध से क्रिया के कारण हैं; सिद्धांत यह है, यत्न परशुआदि की क्रिया का कारण नहीं, किंतु चेष्टा ही कारण है ४० ॥ ⁂ ⁂

यथोक्तहेतुत्वात्पारतन्त्र्यादकृताभ्या
गमाच्चनमनसः ४१ ॥

इच्छा आदि मनके गुण नहीं हैं, इस पर और युक्ति दिखाते हैं; इच्छा आदि मन के गुण नहीं हैं, उक्त हेतु (कार्य, कारण के एक आश्रयमें रहने) से चेतन (ज्ञानके आधार) आत्मा

में ही इच्छा आदि गुण सिद्ध होते हैं; और जिस से मन परतंत्र (आत्माके साहाय्यसे ही कार्य्य सिद्धकरने में समर्थ) है; इस से इच्छा आदि मन के गुण नहीं, किंतु आत्मा के ही गुण हैं; वास्तव यह [illegible] जानना, कि इच्छा आदि गुण जिस से परतंत्र हैं; अर्थात् अपने आश्रय में वर्त्तमानज्ञान की विषयता ही इन (इच्छाआदि) की विषयता है, पृथक कोई विषयता इन की नहीं है, इस से ज्ञान के अधिकरण आत्मा में ही इच्छा आदि गुण रहते हैं; और अपने किये कर्म से उत्पन्न सुख अथवा दुःख का भोग (प्रत्यक्ष) आत्मा में होने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि यत्न यदि मन में हो, तो आत्मा में भोग (प्रत्यक्ष) न हो; अथवा अन्य पुरुष के कर्मका फल अन्य में होने लगे; बंध मोक्ष का भागी होने से आत्माही प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों का आश्रय है, मन नहीं हो सकता; सुख आदि का प्रत्यक्ष होने से इन (सुखआदि) के आश्रय आत्मा में महत्त्व (बड़ापरिमाण) माना है; और एकवारगी अनेक ज्ञानोंकी उत्पत्ति हटाने के अर्थ मन अणु (अतिसूक्ष्म) माना है; इससे आत्मा और मन एक भी नहीं होसकते, इसपर आशंका है, कि आत्मा और मन दोनोंनित्य हैं, इसलिये इनका संयोगभी नित्य होने से मोक्ष कभी ना होवे; इस से मनको अनित्य मान के मनके नाशको मोक्ष कहो; उत्तर यह है, कि अदृष्ट के न होनेसे हिमालय और विंध्यकीनाईं नित्यों (आत्माऔरमन) का संयोग नहीं होगा; ज्ञानआदि के अभिप्राय से कहीं श्रुतितो (अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः) इस की नाईं निमित्तकारणताको ही जनाती है ४१ ॥

❖ ❖ ❖

परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ४२ ॥

ज्ञान आदि को आत्मा में ही सिद्ध करते हैं; शरीर आदि में युक्तिओं के द्वारा निषेध करदेने से और चक्षु आदि अनेक इंद्रियों से एकपदार्थ का ज्ञान होता है; इत्यादि उक्त हेतुओं से ज्ञान आदि आत्मा के गुण ही सिद्ध होते हैं; ४२ ॥

स्मरणंत्वात्मनोज्ञस्वाभाव्यात् ४३ ॥

आत्मा में ज्ञान की सिद्धि करने से ही स्मृति की सिद्धि भी होजाती है, तोभी बालकों की बुद्धि विस्तारने के अर्थ आत्मा में स्मृति की सिद्धि करते हैं; पुनः स्मरण भी आत्मा का ही गुण है, जिस से सबज्ञान आत्मा के गुण हैं, और स्मरण भी एक प्रकार का ज्ञान है, अथवा स्मरण का कारण अनुभव सबआत्मा का गुण है, तो स्मरण भी आत्मा का ही गुण है; कोई ग्रंथकार यूं कहते हैं, कि यद्यपि स्मरण का कारण अनुभव नष्ट होजाता है, तोभी ज्ञानवान (आत्मा) के स्वभाव (संस्कारगुण) से स्मरण उत्पन्न होता है; अर्थात् अपने व्यापार (संस्कार) के द्वारा अनुभव भी दीर्घकाल तक भी स्मरण के पूर्वक्षणतक बना रहता है ४३ ॥

प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्य्यवियोगैककार्य्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः ४४ ॥ ⁂ ॥

एककाली अनेक स्मृतिओं का व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ प्रणिधान (मन की एकाग्रता) आदि उद्बोधकों का क्रम प्र-

ण का कारण माना है; इसलिये प्रणिधान आदि उद्बोधक इस सूत्र में दिखाये हैं, स्मरण की अनुवृत्ति पिछले सूत्र से करनी, और द्वंद्वसमास से अनंतर पढ़े निमित्त पद का प्रणिधान आदि प्रत्येकपदकेसाथ अन्वय करने से सूत्र का यह अर्थ होता है; प्रणिधानआदि प्रत्येक निमित्त से स्मरण होता है; अन्य विषयों से हटा के मन को एक विषय में लगाना, प्रणिधान कहाता है; निबंध (एकसूत्र में अथवा एक ग्रंथ में होना) के द्वारा जैसे प्रमाण से प्रमेय का स्मरण होता है; दृढ़ संस्कार को अभ्यास कहते हैं; यद्यपि यह (संस्कार) उद्बोधक नहीं, किंतु कारण है, तोभी संस्कार की अधिकता से उद्बोधक शीघ्र प्रतीत होते हैं, इस अभिप्राय से अभ्यास को उद्बोधकों में लिखा है; लिंग (व्याप्य) से व्यापक का स्मरण होता है; लक्षण (चिह्न) से ध्वजा में कपि (वानर) से अर्जुन का स्मरण होता है; सादृश्य से देह आदि की स्मृति होती है, परिग्रह (स्वस्वामिभाव) से स्वामि से दास का और दास से स्वामि का स्मरण होता है; आश्रय (आधार) से आश्रित (आधेय) का स्मरण होता है; संबंध (गुरुशिष्य भाव) के द्वारा गुरु से शिष्य का और शिष्य से गुरु का स्मरण होता है; आनंतर्य से प्रोक्षण (धोने) से अवघात (कूटने) का स्मरण होता है; वियोग (विरह) से स्त्रीआदिका स्मरण होता है, एककार्य (एकसाध्यायी) से दूसरे साध्यायीका स्मरण होता है; विरोध से सांपनेवल आदि में से किसी एक के देखने से दूसरे का स्मरण होता है; अतिशय (यज्ञोपवीतआदिसंस्कार) से आचार्य (गुरुआदि) का

स्मरण होता है; धन आदि की प्राप्ति से दाता का स्मरण होता है; अवधान (ढांकन) कोश (मियान) आदि के देखने से खड्ग आदि का स्मरण होता है; सुख से दुःख का और दुःख से सुख का स्मरण होता है; अथवा सुख दुःख से इन (सुखदुःख) के हेतुओं का स्मरण होता है; इच्छा, द्वेष से इन (इच्छाद्वेष) के विषयों का स्मरण होता है; भय से मरण का अथवा भय के हेतु चोर आदि का स्मरण होता है; अर्थित्व (भिक्षा मांगने) से दाता का स्मरण होता है; क्रिया (शाखा-आदिके कांपने) से वायु आदि का स्मरण होता है; राग (प्रेम) से पुत्र आदिका स्मरण होता है; और धर्म अधर्म से पूर्वजन्म में किये सुखदुःखके साधनों (उपायों) का अथवा पूर्वजन्म में अनुभव किये सुखदुःख का स्मरण होता है; इन हेतुओं में से कोई तो साक्षात् स्मरण के कारण होने से उद्बोधक कहाते हैं; और कार्यों के ज्ञान स्मरण के कारण हैं, इस से वे भी उद्बोधक कहाते हैं; बालकों की बुद्धि विस्तारने के अर्थ यह उद्बोधकों का विस्तार दिखाया है; ४४ ॥

इति श्रीन्यायसूत्रवृत्ति में बुद्धि आत्मा का गुण सिद्ध करने का १६ वां प्रकरण हिंदीभाषा में समाप्त हुआ॥

कर्मानवस्थायिग्रहणात् ॥ ४५ ॥

उत्तर बुद्धि से पूर्व बुद्धि का नाश कहा है, परंतु उत्पत्ति से तीसरे क्षण में बुद्धि का ध्वंस (नाश) सिद्ध होने से ही यह होसकता है; इसलिये बुद्धि में [illegible] (उत्पत्ति से तीस

रे क्षण में नाश) की सिद्धि के अर्थ यह सिद्धांतसूत्र कहा है; शरीर श्वास आदि की क्रिया का प्रवाह प्रतिक्षण भिन्न होने से इन (क्रियाओं) के ज्ञान भी विषयों के भेद से प्रतिक्षण भिन्न ही मानने योग्य हैं; और पहिली एक ही बुद्धि एक कर्म को ग्रहण करके अन्य कर्मों को नहीं ग्रहण कर सकती; जिस से एक कर्म के ग्रहण करने से व्यापार निवृत्त होचुका है, और व्यापार से विना कार्य का होना ही असंभव है; और अपर बुद्धि जब उत्पन्न ही नहीं हुई, तो पूर्व (पहिले) कर्म का ग्रहण कैसे करावेगी; इस से सिद्ध हुआ, कि उत्पत्ति से तीसरे क्षण में बुद्धि का नाश होता है; बुद्धि का आश्रय आत्मा तो नित्य ही है, इसलिये आश्रय के नाश से तो बुद्धि का नाश नहीं कह सकते; किंतु विरोधिगुण (दूसरे ज्ञान) से पहिले ज्ञान का नाश होता है ४५ ॥ ❖

बुद्ध्यवस्थानात्प्रत्यक्षत्वे स्मृत्यभावः ४६ ॥

इसी सिद्धांत का सहायक यह सूत्र है; बुद्धि का यदि अवस्थान (चिरकाल तक रहना) मानो, तो पदार्थ का प्रत्यक्ष ही चिर तक बना रहेगा, स्मरण कभी न होवे; क्योंकि अनुभव और स्मरण दोनों एक काल में इकट्ठे नहीं रह सकते; इस से भी सिद्ध हुआ, कि उत्पत्ति से तीसरे क्षण में बुद्धि का नाश होता है ४६ ॥ ❖ ❖ ❖

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद्विद्युत्स
म्पातेरूपाव्यक्तग्रहणवत् ४७ ॥

इस पर आशंका यह है, कि बुद्धि का नाश यदि उत्पत्ति से तीसरे क्षण में माना जावे; तो जैसे बिजली के चमक में

पर पदार्थ अव्यक्तरूप से (विशेष्यविशेषण के भेद से बिना) ही प्रतीत होते हैं; इसीरीति पदार्थ अव्यक्तरूप से ही सदा प्रतीत होवें, विशेषरूप से (विशेष्यविशेषणकेभेदसे) कभी ना प्रतीत होवें, परंतु विशेषरूप से पदार्थों का ज्ञान सब को होताहै, इस से सिद्ध हुआ, कि बुद्धि स्थिर (नित्य) है, क्षणिक (तीसरेक्षण मे नष्ट होनेवाली) नहीं है; ४७ ॥ ❖

हेतूपादानात्प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा ४८

उत्तर यह है, कि हेतु (बिजली के चमकने पर उत्पन्नबुद्धिमें शीघ्रनाशकता होना) के उपादान (स्वीकार) से तुमने भी प्रतिषेद्धव्य (बुद्धि के शीघ्रनाशहोने) की अभ्यनुज्ञा (सम्मति) दी है, अर्थात् बिजली के समय उपजी हुई बुद्धि का अतिशीघ्र नाश मान के जब तुम बुद्धि मे नित्यत्व की सिद्धि करते हो; तो हमारे मत में पक्ष (बुद्धि) के एक देश में बाध दोष लगता है; ४८ ॥ ❖ ❖ ❖

प्रदीपार्चिःसन्तत्यभिव्यक्तग्रहण
वत्तद्ग्रहणम् ४९ ॥

बिजली के समय उत्पन्न बुद्धि का तीसरे क्षण में नाश जब तुमने मानलिया है; तो इसी दृष्टांत से सब बुद्धिओंका नाश तीसरे क्षण में मानना योग्य है; जैसे दीप के किरणों का समूह क्षणिक (क्षणक्षण में नष्ट होनेवाला) भी है; पुनः उन का विशेष ज्ञान होने में कोई न्यूनता नहीं है; इसीरीति सब क्षणिक भी हों, पुनः पदार्थों के विशेष ज्ञान होने में कोई न्यूनता नहीं है; बिजली के समय जो बुद्धि उत्पन्न हुई है, वहभी अपने विषय में व्यक्त ही है; अव्यक्त नहीं है ४९ ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में उत्पत्ति से तीसरे क्षण में बुद्धि के नाश का साधक १७ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ⁂

द्रव्येस्वगुणपरगुणोपलब्धेःसंशयः ५० ॥

अब इस बात को सिद्ध करते हैं, कि बुद्धि शरीर का गुण नहीं है; यदि कोई कहे, कि यह बात तो पीछे आत्मा की परीक्षा में ही सिद्ध होचुकी है; पुनः इस प्रकरण का प्रारंभ अर्थ है, तो इसका यह उत्तर है, कि जिस से गोरे रंग का हूं, इसी से मेरा ज्ञान अधिक है, ऐसे ऐसे अनुभवों से आत्मा में ज्ञान की साधक और शरीर में ज्ञान की बाधक युक्तिओं का खंडन होजाने से इस प्रकरण की बहुत ही आवश्यकता है; इसलिये विशेषरूप से शरीर में बुद्धि का खंडन करने के अर्थ आदि में संशय का बीज (निमित्त) दिखाते हैं; द्रव्य (चंदनआदि) में अपने गुण (गंधआदि) और पराये (जलआदिके) गुण (शीतस्पर्शआदि) भी प्रतीत होते हैं; इसीरीति शरीर में अपने गुण (रूपआदि) और पराये (तेजआदिके) गुण (उष्णस्पर्शआदि) की प्रतीति से संशय होता है; कि शरीर में बुद्धि अपना गुण है, अथवा किसी अन्यका गुण है; ५० ॥ ❖ ⁂

यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम् ५१ ॥

इस पर न्याय का यह सिद्धांत है; इस सूत्र के आदि में वात्स्यायन जीने प्रतिज्ञा अपनी ओर से मिलादी है, कि चेतना (बुद्धि) शरीर का गुण (विशेषगुण) नहीं है, जिस से

शरीर के विशेषगुण (रूपआदि) सारे यावत् (परिमित) द्रव्य (शरीर) में रहते हैं; यदि बुद्धि शरीर का विशेषगुण हो तो रूप आदि की नांई आश्रय (शरीर) के नाश होने पर ही नष्ट होवे; परंतु शरीर के नाश से विना भी बुद्धि का नाश होजाने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि बुद्धि शरीर का विशेषगुण नहीं, किंतु किसी नित्य (आत्मा) का विशेषगुण है।

नपाकजगुणान्तरोपलब्धेः ५२ ॥

पिठर (अवयवी) में पाक मानने वाले (गौतमके) मत से उक्त अनुमान में व्यभिचार दोष देते हैं; पाक (अग्निके संयोग) से पहिले गुणों (रूपआदि) का नाश और गुणांतर (अन्यरूपआदि) की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि शरीर के नाश से ही शरीर के विशेषगुणों (रूपआदि) का नाश मानना सर्वथा असंगत है; अन्यग्रंथकार इसे सिद्धांतसूत्र ही मानके यूं अर्थ करते हैं; पाक से पहिले रूपआदि का नाश होके अन्य रूपआदि उत्पन्न होते हैं; इससे उक्त अनुमान में व्यभिचार की शंका नहीं करनी; अर्थात् उक्त अनुमान का यह अभिप्राय है, कि शरीर के पहिले रूपआदि का नाश जबतक ना होलेवे; तबतक अन्य रूप आदि उसशरीर में कभी नहीं आसकते, पर बुद्धिके वर्तमान क्षण में दूसरी बुद्धि उत्पन्न होने से सिद्ध हुआ, कि बुद्धि शरीर का विशेष गुण नहीं है ५२ ॥

प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ५३ ॥

गौतम के मत से ही उत्तर भी करते हैं, चेष्टा से हीन घट आदि पदार्थों में आश्रय (घटआदि) के नाश से विना भी पहि

ले रूपआदिका नाश और अन्य रूपआदि की उत्पत्ति हो; परंतु अवयवों की वृद्धि और हानि से प्रतिद्वन्द्वि (अन्यशरीर) की सिद्धि होने पर शरीर में पाकज गुणों का प्रतिषेध (खंडन) योग्य नहीं है; अथवा अपाकजरूप आदि का दृष्टान्त देने से पाकज रूपआदि की प्राप्ति ही नहीं है; तो व्यभिचार कहां से लग जाया; कोई लोग इस सूत्र को यूं लगाते हैं; कि पाकज रूप आदि के प्रतिद्वंद्वि (विरोधी) रूपआदि की सिद्धि से स्पष्ट है; कि शरीरका विशेषगुण बुद्धि नहीं है, अर्थात् एक क्षण में दो रूप एक शरीर में नहीं रह सकते; परंतु एक क्षण में दो बुद्धि की सिद्धि से बुद्धि शरीरका विशेषगुण नहीं है ५३ ॥

❖ ❖ ❖

शरीरव्यापित्वात् ५४ ॥

इस हेतु से भी सिद्ध है, कि ज्ञान आदि शरीर के विशेषगुण नहीं हैं; शरीर के विशेषगुण (रूपआदि) व्यापी (सारे शरीर में रहते) हैं; और ज्ञानसुखआदि का अनुभव तो केवल हृदय में ही होता है, सारे शरीर में नहीं होता; इस से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि ज्ञानआदि शरीर के विशेषगुण नहीं हैं; ५४ ॥

❖ ❖ ❖ ॥

केशनखादिष्वनुपलब्धेः ५५ ॥

इसपर दोष देते हैं, कि शरीर के विशेषगुणों (रूपआदि) का सारे शरीर में कथन असंगत है; जिस से केशों और नखों में शरीर के रूप आदि गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता; ५५

त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्यकेशनखादिष्वप्रसङ्गः ५६

उत्तर यह है, कि रूप आदि विशेषगुण सारे शरीर में ही रह-

ने हैं; क्योंकि केशों और नखों का नाम शरीर नहीं है, जिससे जहां तक त्वचा का प्रसार है, उसी को शरीर कहते हैं; अर्थात् शीत, उष्ण स्पर्श का प्रत्यक्ष त्वचा से जहांतक हो, वहांतक ही शरीर कहा जाता है; परन्तु केशों और नखों में उक्त स्पर्शों का प्रत्यक्ष नहीं होता; इससे केशों और नखों को शरीर नहीं कहते; कोई आचार्य इन (५४-५५-५६) सूत्रों को यूं लगाते हैं; जिस से बुद्धि शरीर और शरीर के सब अंगोंमें एक (अवच्छेदकतानामी स्वरूप) संबंध से रहती है; इस से शरीरका विशेषगुण नहीं है; जिस से शरीर के गुण रूप आदि शरीर में समवाय संबंध से और अंगों में स्वसमवायिसमवेतत्व संबंध से रहते हैं; आशंका यह है, केशों औरनखोंमें तो बुद्धि नहीं है; पुनः सब अंगों में बुद्धि कैसे कही है; उत्तर यह है, जिनजिन अंगों में त्वचा का प्रसार (स्पर्शोंका प्रत्यक्ष होता) है; उन अंगों में बुद्धि मानी है, केशोंऔर नखोंमें स्पर्शोंका प्रत्यक्ष ना होने से बुद्धिमानी हीनहीं है; पुनः निषेधकिसका करते हो ५६ ॥

∴ ∴ ∴

शरीरगुणवैधर्म्यात् ५७ ॥

शरीर में बुद्धि का निषेध (खंडन) करने के अर्थ और हेतु दिखाते हैं; शरीर के गुण रूप आदि का वैधर्म्य (विरुद्धधर्म) बुद्धि में रहने से बुद्धि शरीरका गुण नहीं है; अर्थात् चक्षु आदि बाहर की इंद्रियों से बुद्धिका प्रत्यक्ष नहीं होता, औरप्रत्यक्ष होता है; इस से बुद्धि शरीर का विशेष गुण नहीं है; ५७ ॥

नरूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात् ५८ ॥

इस पर आक्षेप (आशंका) करते हैं, जिन का बाहर की

इंद्रिय से प्रत्यक्ष न हो; इन का यदि शरीर में निषेधकरो, तो बाहर की इंद्रिय चक्षु से स्पर्श का और त्वचा से रूप, रस आदि का प्रत्यक्षनाहोने से शरीर में रूप आदिका भी निषेध होना योग्य है; अर्थात् रूप आदिगुणोंके वैधर्म्य से शरीर में बुद्धि का निषेधकरनायोग्यनहीं है; ५८ ॥ ⁂

ऐन्द्रियकत्वाद्रूपादीनामप्रतिषेधः ५९ ॥

उत्तर यह है, कि बाहर की किसी एक इंद्रिय से भी जिस का प्रत्यक्ष होजावे; उसका शरीर में निषेध नहीं होता, इस लिये बाहर की चक्षु आदि एक एक इंद्रिय से रूप आदि एक एक का प्रत्यक्ष होजाने पर शरीर में रूप आदि का निषेध सर्वथा अयुक्त है; और बाहर की किसी इंद्रिय से भी बुद्धि का प्रत्यक्ष नहीं होता, परंतु मन से बुद्धि का प्रत्यक्ष होता है; इस से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि शरीरका विशेषगुण बुद्धि नहीं, किंतु आत्मा का विशेषगुण बुद्धि है; ५९ ॥ इति न्यायसूत्रवृत्ति में शरीर से बुद्धि के खंडन करने का १० वां-प्रकरण समाप्त हुआ ॥

ज्ञानायौगपद्यादेकंमनः ६० ॥

क्रम से प्राप्त मन की परीक्षा करते हैं, कि एक शरीर में एक ही मन है, अथवा चक्षु आदि पांच इंद्रियों के सहायक पांच मन हैं; इस संदेह होनेपर किसीका पूर्वपक्ष (आशंका) है; कि पांच ही मन मानने योग्य हैं, जिस से एक एक मनके संबंध से एकज्ञान की और अनेक मनों के संबंध से अनेक

ज्ञानों की सिद्धि भी एक क्षण होजावेगी; इस आशंकाका उत्तर करने के अर्थ गौतम जीने यह सिद्धांतसूत्र कहा है; ज्ञानों के अयौगपद्य (इकट्ठे एकक्षणमें न उत्पन्नहोने) से एक ही मन है; अनेक मन नहीं है; अर्थात् मन यदि अनेक हों, तो एक ओर चित्त लगाने के समय भी अनेक ज्ञान उत्पन्न होजावें; इस से मन एक ही है, ६० ॥ ⁘

नयुगपदनेकक्रियोपलब्धेः ६१ ॥

इसपर आशंकाकरते हैं, कि लोन, मीठा आदि अनेकरसों से भरी हुई बहुत अच्छी पूरी खानेके समय रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि के अनेक (क्रिया) ज्ञान युगपत् (इकट्ठे एकक्षण में) होते देखने से यह प्रतीत होता है; कि अनेक (पांच) ही मन हैं; एक मन नहीं है ६१ ॥

अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धि
राशुसञ्चारात् ६२ ॥

उत्तर यह है, क्रम क्रम से उत्पन्न हुए अनेक पदार्थ भी किसी दोषविशेष (अतिशीघ्रताआदि) से इकट्ठे उत्पन्न होते प्रतीत होने लगते हैं; जैसे अलात (लुआती) बहुत वेग से घुमाई जावे, तो उस (अलात) की बहुतसी क्रिया अतिशीघ्रता के दोष से एक चक्रबनाहुआ प्रतीत होती है; इसीरीति क्षण (अतिसूक्ष्मकाल) के विलंब से होते रूपआदि के ज्ञान अतिशीघ्रता के दोष से इकट्ठे होते प्रतीत होते हैं; मन एक ही है ६२ ॥ ⁘ ⁘

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ६३ ॥

जब एक मन सिद्ध हुआ, तो एक क्षण में अनेक ज्ञानों

की उत्पत्ति सिद्ध करने के अर्थ यह (मन) विभु मानना योग्य है; इसका उत्तर इस सूत्र में किया है, कि यथोक्त (कहे हुए) हेतु (एकक्षण में अनेक ज्ञानों के ना उत्पन्न होने) से ही मन अणु (अतिसूक्ष्म) है; विभु नहीं है; अर्थात् एक क्षण में अनेक ज्ञानों का होना ही असिद्ध (प्रमाण से विरुद्ध) है; इसी से मनको विभु मानना भी युक्ति से बाहर है ६३ ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में मन की परीक्षा (सूक्ष्मता की सिद्धि) का ३९ वां· प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ⁂ ⁂

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ६४ ॥

अब प्रसंग संगति से शरीर में जीवात्मा के अदृष्टों से उत्पन्न होने की सिद्धि के प्रकरण का अथवा एकशरीर में वर्त्तमान मन का सब आत्माओं से संबंध (संयोग) होने पर भी अपने अपने आत्मा का ही ज्ञान (प्रत्यक्ष) सिद्ध करने के अर्थ ज्ञान में अदृष्ट से उत्पन्न होने की सिद्धि के प्रकरण का प्रारंभ करते हैं; यहां शरीर जीवात्मा में समवेत (समवाय संबंध से वर्त्तमान) अदृष्ट (पुण्य पाप) से जन्य है, अथवा नहीं; इस संशय के होने पर निषेध (शरीरअदृष्टसेजन्य नहीं है) तीन प्रकार से किया गया है; यथा (१) अदृष्ट नामी पदार्थ ही जगत में नहीं है, (२) अदृष्ट शरीर का कारण ही नहीं है, (३) अदृष्ट का जीवात्मा से समवाय (संबंध) ही नहीं है; इन तीनोंमें से पहिले पक्ष का खंडन इस में किया है, पूर्व (पहिले) जन्म के यज्ञ, दान, हिंसा आदि कर्मों के फल

(पुण्य, पाप) के अनुबंध (साहाय्य) से शरीर की उत्पत्ति होती है; इस कार्य (शरीर) से कारण (अदृष्ट) अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध होता है ९४ ॥ ⁂ ⁂

भूतेभ्योमूर्त्युपादानवत्तदुपादानम् ९५ ॥

आशंका जैसे विना अदृष्ट की सहायता के भूतों (परमाणुओं) से मूर्त्ति (मृत्तिकाआदि) का उपादान (उत्पत्ति) होता है; इसीरीति अदृष्ट की अपेक्षा त्यागके केवल परमाणुओं से ही शरीर की उत्पत्ति होती है; ९५ ॥ ⁂ ⁂

नसाध्यसमत्वात् ९६ ॥

उत्तर यह है, कि मृत्तिका का दृष्टांत साध्यसम (युक्ति से सिद्ध नहीं) है; इस लिये तुमारा कथन असंगत है; अर्थात् अदृष्टके साहाय्य से ही परमाणु मृत्तिका को भी उपजाते हैं; इस से तुमारा कथन अयुक्त है ९६ ॥ ⁂

नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ९७ ॥

और शरीर में मृत्तिका की समता नहीं आसकती, इसबात को दो सूत्रों से सिद्ध करते हैं; जिससे माता, पिताके अदृष्ट शरीर की उत्पत्ति में निमित्त कारण हैं; अर्थात् उनका मुख देखने से जो सुख का अनुभव (प्रत्यक्ष) होता है; उस के कारण अदृष्ट (तपस्या अथवा देवता के आराधन से उत्पन्न) ही पुत्र की उत्पत्ति में निमित्त कारण हैं; ९७ ॥ ⁂

तथाहारस्य ९८ ॥

इसी रीति माता, पिता का आहार (शाकआदि का भोजन) भी अदृष्टों के साहाय्य से पुत्र की उत्पत्ति में वीर्य, रुधिर, आदि के उपजाने से निमित्त कारण है, अन्य आचार्य

है कहते हैं, कि आहार पितामह आदि पितरों को श्राद्ध में पिंड देने से उत्पन्न हुए अदृष्ट ही पुत्र कीउत्पत्ति मेंनिमित्त कारण हैं; इन हेतुओं सेसिद्ध हुआ, कि शरीर में मृत्तिका आदि का दृष्टांत देना सर्वथा अयुक्त है; ६८ ॥

प्राप्तोचानियमात् ६९ ॥

आहार में अदृष्ट की सहायता को व्यतिरेक मुख (अदृष्ट से विना आहार आदि को अर्थ बनादेने) से सिद्ध करते हैं; प्राप्ति (स्त्री, पुरुष का संयोग) होने पर भी जिस से गर्भ धारण का दृढ़ नियम नहीं देखने में आता; इस से अदृष्ट की सहायता अवश्य माननी योग्य है; अर्थात् अदृष्ट के होने पर एकवार संयोगहोने से भी गर्भ की स्थिति होजाती है; औरयदि अदृष्ट ना हो, तो बहुत वार संयोग होने सेभी गर्भ की स्थिति नहीं होती; इस अन्वय व्यतिरेक से सिद्ध हुआ, कि शरीर की उत्पत्ति में अदृष्ट अवश्य कारण है; ६९

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तंकर्म ७०

इस पर यह आशंका है, कि अदृष्टों की अपेक्षा त्याग के अपने स्वभाव से ही कोई भूत (परमाणु) शरीर को उत्पन्न करते हैं; क्योंकि स्वभाव यदि नामानाजावे, तो आत्मा (विभु) का संयोग तो सब शरीरों (मूर्त्तों) से बना है; पुनः यह ही इस का शरीर है; और यह नहीं है, ऐसा अंतर ना होवे अर्थात् आत्माका साधारण संयोग सब शरीरों से हो भी परंतु विशेष संयोग (अवच्छेदकतानामी) जिस शरीर से हो, वही उस का शरीर होता है; इसविशेष संयोग का

कौन कारण है, इसका उत्तर यह है, कि जैसे शरीर की उत्पत्ति का निमित्त कारण अदृष्ट है; इसीरीति विशेषसंयोग (अवच्छेदकता) का निमित्तकारण भी अदृष्ट है; इस संयोग में अन्य संयोगों से विशेषता यह है; आत्मा का ज्ञान उत्पन्न करने की नियामक (नियमबांधनेवाली) जाति (साधारणधर्म्म) ही विशेषता है; कोई कहते हैं, कि शरीर के अवयवों की रचना (आकृति) ही विशेषता है ७० ॥ ❀

एतेनानियमः प्रत्युक्तः ७१ ॥

इस पर सांख्य की यह आशंका (दूसरापक्ष) है; प्रकृति का यह स्वभाव है, कि सब कार्यों को उत्पन्न करना; इसीसे शरीर की उत्पत्ति भी सिद्ध होजावेगी, पुनः शरीर को अदृष्ट से जन्यमानना अयुक्त है; किंतु बंधन के टूटने से जलजैसे नीचे की ओर वह चलता है; इसीरीति अन्यशरीर की उत्पत्ति में प्रतिबंधक (पहिलेशरीर) का नाश अदृष्टों के अधीन है; उत्तर यह है; इस (अदृष्ट को कारणमानने) से अनियम (अवस्था का नाहोना) भी दूर होगया; अर्थात् कभी मनुष्य, कभी देवता, कभी पशु आदि होना; और कभी सारे अंग सुंदर होने, कभी काणे गंजे आदि हीन अंग होने, इन सब का नियम अदृष्ट मानने पर ही बंध सकता है; नहींतो अव्यवस्था होजावेगी; और भी है, कि अदृष्टों की अपेक्षात्यागके केवल प्रकृति से ही शरीर की उत्पत्ति मानें, तो सब शरीर एकसे (सुखीदुःखी) ही हों; भिन्नभिन्न प्रकारके नाहों; कोई इस सूत्र को यूं लगाते हैं, उत्तरउत्तर अदृष्टों के कारण अनादि परंपरा से चले आते पूर्व पूर्व अदृष्ट कारण मानने से अदृष्टों में

भी अव्यवस्था का वारण होजावेगा ७१ ॥ ⁂

उपपन्नश्चतद्वियोगःकर्मक्षयोपपत्तेः ७२ ॥

शरीर के संबंध में जब अदृष्ट कारण माने गये; तो भाव कार्य होने से कर्मों (अदृष्टों) का क्षय (नाश) सिद्ध होजावेगा; इस (अदृष्टोंकेनाश) से शरीरका (शरीरसेप्राणोंका) वियोग भी सहज से सिद्ध होजावेगा; अर्थात् कारण (अदृष्ट) जबतक रहेगा; तबतकशरीर भी रहेगा, और अदृष्टके नाश से शरीर का नाश होजावेगा ७२ ॥ ⁂

तददृष्टकारितमितिचेत्पु
नस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे ७३ ॥

कोई एक बौद्ध विशेष यूं कहते हैं, कि अदृष्ट मन और परमाणुओंका गुण है; इस से पार्थिव परमाणुओं के समूह अपने अदृष्टों के साहाय्य से शरीर को उत्पन्न करते हैं; और अपने अदृष्ट की सहायता से मन उस शरीर में प्रवेश करता है; वह अदृष्ट स्वभाव से ही पुरुष के सुखदुःखों को उत्पन्न करता है; इस का उत्तर यह है, कि आत्मा में अदृष्ट संबंध से विना ही आत्मा में सुखदुःख उपजाने के के अर्थ यदि परमाणु ही शरीर को उत्पन्न करें, तो नित्य परमाणु आत्मा के मोक्ष से अनंतर भी उस आत्मा के भोग (सुखदुःख) उपजाने के अर्थ शरीर को उत्पन्न करें; और मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट आदि के देहों की प्राप्ति का भी कोई दृढ़ नियम ना होवे; ७३ ॥ ⁂ ⁂

नकरणाकरणयोरारम्भदर्शनात् ७४ ॥

यदि यूं कहें, कि एकवार शरीर को उत्पन्न करके हटजाता

हुए परमाणु उस (मुक्त) आत्मा के शरीर को नहीं उत्पन्न करते; तो यह उत्तर है, एकबार शरीर उपजाने से विषयों का प्रत्यक्ष होजाने पर भी पुनः पुनः देह उत्पन्न होते हैं; और प्रकृति, पुरुष के भेद का प्रत्यक्ष करने से बिना भी पुनः पुनः शरीर की उत्पत्ति होती है; इसलिये अपना कार्य (विवेक) उपजा के प्रकृतिका निवृत्त होना सत्य है; और विषयों के प्रत्यक्ष से भूतों का निवृत्त होना सर्वथा असंगत है; ७४

मनःकर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः ७५

मन का गुण भी अदृष्ट नहीं है, यदि अदृष्ट मन का गुण हो, तो शरीर की उत्पत्ति में हेतु, ज्ञान आदिका कारण संयोग (मन का) कभी नष्ट ना होवे, क्योंकि इस (संयोग) का कारण नित्य मन का अदृष्ट भी परमाणु से नित्य है, इस से संयोग की धारा भी नित्य होनी योग्य है; और अदृष्ट को अनित्य भी मानो, तो विरुद्ध अधिकरण (आत्मा) में होने वाले भोग से इसका नाश मानने पर अव्यवस्था हो जावेगी ७५ ॥

नित्यत्वप्रसंग-अपवर्गानुपपत्तेः ७६ ॥

मनः संयोग का नाश ना होने से क्या हानि है, यह दिखाते हैं; संयोग के नाश से बिना अपवर्ग (प्राणवियोग) के ना होने से शरीर नित्य (नाशरहित) होजावे; ७६ ॥

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत्स्यात् ७७ ॥

इस पर आशंका करते हैं, कि जैसे नित्य भी परमाणु का नीलरूप परमाणु के नाश से बिना ही नष्ट होजाता है; इसी रीति अपने कारण संयोग के नाश से बिना ही शरीर भी नष्ट होजाता है; अथवा अणु नीलरूप की नांई नित्य भी न

माणु का अदृष्ट नष्ट होजाता है; इस से मोक्ष के समय शरीर नहीं उत्पन्न होता; ७७ ॥

नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ७८ ॥

सिद्धांत यह है, कि अकृत (प्रमाण से विरुद्ध) का अभ्यागम (स्वीकार) करने से तुमारा कथन योग्य नहीं है; अर्थात् परमाणु के नील रूप को नित्य मानना भी किसी प्रमाण से नहीं सिद्ध होसकता; तो इस (नीलरूप) के दृष्टांत से अदृष्टों के नाश का स्वीकार भी असंगत है; और नित्य का अर्थ यदि अनादि करें, तो पुनः इन (नीलरूपआदि) का नाश मानना, सर्वथा असंगत है; क्योंकि अनादिभावों का नाश कभीनहीं होता, किंतु जन्यभावों का हीनाश होता है; अथवा शरीर के संबंध में यदि नित्य अदृष्ट कारण मानेजावें, विनाकिये कर्मों के फलों की प्राप्ति से कौनसा किसका शरीर है; कौनसा नहीं है, यह व्यवस्था सर्वथा टूट जावेगी; ७८ ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में शरीर को अदृष्ट जन्य सिद्ध करने का ४० वां प्रकरणसमाप्तहुआ ॥

इतितीसरेअध्याय का दूसरा आह्निकसमाप्तहुआ• ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में तीसराअध्यायसमाप्तहुआ• ॥

४र्थ· अध्याय की अवतरणिका ॥

कोटि सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान, कोटि कामदेव से भी अधिक सुंदर जगत के आधार, सब की कामना सिद्ध करने वाले, योगीजनों के अंतःकरण में स्थित, किसी श्यामवर्ण (कृष्णवर्ण) का हम आश्रय लेते हैं; १ तीसरे अध्याय में कारण रूप आत्मा आदि के प्रमेयों की परीक्षा हो चुकी है; अब ४र्थ· अध्याय में अवसर और कार्यकारणभाव संगति से कार्य रूप प्रवृत्ति आदि के प्रमेयों की परीक्षा होगी; यद्यपि १म· आह्निक में ही इन छओं की परीक्षा होगी; २य· आह्निक में तो तत्त्वज्ञान की परीक्षा होगी; तो भी मोक्ष का कारण होने से और उपोद्घात संगति से तत्त्वज्ञान की परीक्षा भी मोक्ष की परीक्षा का ही एक अंग है; इस से प्रवृत्ति आदि के प्रमेयों की परीक्षा ही ४र्थ· अध्याय का प्रयोजन है; उस में उक्त संगतियों से प्रवृत्ति आदि के प्रमेयों की परीक्षा १म· आह्निक का प्रयोजन है; इस आह्निक में १५ प्रकरण हैं; इन में से उक्त संगति से प्रवृत्ति और दोष की परीक्षा का १म· प्रकरण है; इसपर आशंका करते हैं, प्रवृत्ति और दोष इन दो प्रमेयों की दो परीक्षा होनी योग्य हैं, एक कैसे कहते हो, उत्तर यह है, यथा, तथा इन दोषों के नियत संबंध से दोनों में एक प्रकार की संगति दिखाने से एक ही प्रकरण कहा है ।

प्रवृत्ति की परीक्षा के अर्थ यह सूत्र कहा है,

प्रवृत्तिर्यथोक्ता १ ॥

इस सूत्र में कोई लोग तथा इतना अपनी ओर से लगाते

हैं; परंतु यह अयुक्त है, क्योंकि १म सूत्रमेंही (यथा, तथाका) संबंध निवृत्त होजाने से २य सूत्र में भी यथा शब्द अवश्य देना पड़ेगा, इससे प्रकरण भी दो होजाने से बहुत गौरव दोष आवेगा; इसलिये दूसरे सूत्र के तथा शब्द को साथलेके दोनों का एकअर्थ करलेना; प्रवृत्ति का जैसेउक्त लक्षण ही सिद्धांत है; ऐसेदोषों का भी यथोक्त ही सिद्धांत लक्षण जानना; ऐसे दोनों सूत्रोंका इकट्ठा अर्थकरना। अर्थात् प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः इस सूत्र में जो प्रवृत्ति का लक्षण कर आये हैं; वह ही सिद्धांत जानना, यह प्रवृत्ति दो प्रकार की है, कारणरूपा और कार्यरूपा परंतु ये दोनों ही समवाय संबंध से आत्मा में रहती हैं; इन दोनों में से पहिली यत्न (अभ्यास) नाम की प्रत्यक्ष से सिद्ध कुछ (जीवात्मा में रहनेवाली) अनित्य और कुछ (ईश्वर में रहनेवाली) नित्य है; और दूसरी धर्म, अधर्म (पुन्य, पाप) नामकी चिरकाल के नष्ट हुए यज्ञ आदि उत्तम कर्म और हिंसा आदि मंद कर्मका फल (सुखदुःख) उत्पन्न होना देखके अनुमान से मानी जाती है; और कर्मनाशा नदी के जल का स्पर्श होजाने से और प्रायश्चित आदि कर्मों से यह (धर्म अधर्म नामकी) कार्य रूपा प्रवृत्ति नष्ट भी होजाती है; १ ॥ ४

तथादोषाः २ ॥

क्रम से प्राप्त दोषोंकी परीक्षा करने के अर्थ यह सूत्र कहाहै इसीरीति प्रवर्त्तनालक्षणादोषाः इस सूत्र में जो दोषोंका लक्षण कहा है; वह ही सिद्धांत जानना योग्य है २ ॥ इतिन्याय सूत्रवृत्तिमें प्रवृत्ति और दोषकी सामान्यपरीक्षा [illegible]

षण समासक्रमः ॥ ⁂ ⁂

तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ३ ॥

अथ दोषकी विशेष परीक्षा करने के अर्थ रागआदि दोषों के तीनसमूह दिखाने का प्रकरण चलाया है; आदि में यह सिद्धांत सूत्र कहा है, उनदोषों के तीन समूह (राशि) हैं; ना कि राग आदि एक एक ही दोषहैं, जिस से इन (रागआदि) के आवांतर भेद बहुत हैं, इस से भय शोक मोह आदि का इन्हीं में अंतर्भाव होनेसे कोई न्यूनताभी नहीं, और इच्छात्व, द्वेषत्व, मिथ्याज्ञानत्व धर्मों के भेद से अधिकता भी नहीं आती; रागआदि में इच्छात्व आदि धर्म अनुभव से ही प्रतीत होते हैं; इन में से राग के समूह में ये पदार्थ आते हैं; काम (संभोगकी इच्छा) स्त्री पुरुष के विलक्षण संयोग को संभोग कहते हैं; मत्सर (अपने प्रयोजन से विना ही पराये अर्थके विघातकी इच्छा) जैसे राजा के कूवील (प्रपा) से पानी नहीं पीना योग्य है; स्पृहा (धर्म से धनप्राप्तिकी इच्छा) तृष्णा (यह मेरा पदार्थ नछूनाहोवे ऐसी इच्छा) कार्पण्य (श्राद्धआदि में योग्य व्ययसे भी धन रखने की इच्छा) भी तृष्णा के ही अंतरगत जानना; लोभ (पाप से धन प्राप्तिकी इच्छा) माया (अन्यपुरुषोंको छलने की इच्छा) दंभ (कपटसे धर्मात्मा बनके अपनी प्रसिद्धि की इच्छा) द्वेष के समूह में येपदार्थआते हैं; क्रोध (आंख लाल होजाने आदि का हेतु दोष), ईर्ष्या (साधारणवस्तुकी प्राप्ति से भी स्वामी पर क्रोध) असूया (परा-

येगुणोंसे क्रोध) द्रोह (मारनेके अर्थ क्रोध), अमर्ष (अपराधीकाकुछनाकरसकनेपरक्रोध) अभिमान (शत्रुका कुछनाकरसकनेसे अपने शरीरपर क्रोध) । मोह के समूह में ये पदार्थ आते हैं; विपर्यय (मिथ्याज्ञाननामी अयथार्थनिश्चय) संशय (एकआश्रयमेंविरुद्धभाव और अभावकाज्ञान) इसीकोविचिकित्साभीकहते हैं; तर्क (व्याप्यकेभ्रमसेव्यापकका भ्रम) मान (अपने में नरहनेवालेगुणोंकेभ्रमसे अपने आपआपकोबड़ेमानना) और दूसरेगुणीकोनिर्गुणज्ञाननाभीमान, प्रमाद (करनेकेयोग्यपदार्थमेंकरनेकीनायोग्यता काज्ञान) भय (दुःखके हेतु की प्राप्ति पर उसे त्याग नसकनेकाज्ञान) औरशोक (इष्टकावियोगहोने व उस कीनाप्राप्तिहोनेकाज्ञान) ३ ॥

⁂

नैकप्रत्यनीकभावात् ४ ॥

इस पर आशंका करतेहैं, कि दोषों (राग आदि) केतीन भेद मानने योग्य नहीं हैं; जिस से ये (रागआदि) सब दोष एक (तत्त्वज्ञान) के ही विरोधी हैं; अर्थात् एकतत्त्वज्ञान से ही जब इन सब दोषोंका नाश होजाता है, तो दोष नामी एक ही पदार्थ मानना योग्य है; तीन भेदमानने व्यर्थ हैं; ४ ॥

⁂

व्यभिचारादहेतुः ५ ॥

उत्तर यह है, एक पदार्थ के विरोध से वस्तुओं के भेदका खंडन करना व्यभिचारी होने से असंगत है; जिस से रूपआदि गुण एक पदार्थ (अग्निके संयोग) से ही विरोध

रखते हैं; अर्थात् केवल अग्नि के संयोग से रूप आदि गुण नष्ट भी होते हैं; पुनः भिन्न हैं, एक नहीं हैं, इसीरीति एकतत्वज्ञान से दोषों का नाश भी हो, पुनः रागआदि तीन दोष ही हैं; एक मानने सर्वथा असंगत हैं; ५

तेषांमोहःपापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः ६ ॥

और इनतीनों का एक (तत्वज्ञान) से साक्षात् नाश भी नहीं होता; किंतु तत्वज्ञान से केवल मोह (अज्ञान) का नाश होता है; मोह के नाश से राग, द्वेष का नाश होता है; इसआशय से यह सूत्र कहा है, इन (रागद्वेषमोहों) में से मोह पापीयान् (प्रबलशत्रु) है; जिस से मोह के ना होनेपर रागद्वेष भी नहीं होते, इसपर व्याकरण की यह आशंका है; कि बहुत में से एक को अधिकता जनाने के अर्थ इष्ठन् अथवा तमप् प्रत्यय के विधान से प्रकृत में राग द्वेष, मोह, नामी तीन (बहुत) दोषों में से मोह की मुख्यता जनाने के अर्थ पापिष्ठ अथवा पापतम विशेषण देना योग्य है; पुनः पापीयान् कैसे कहा है, इस का उत्तर यह है, कि दो पदार्थों में से एककी उत्कृष्टता जनाने के अर्थ जब ईयसुन् प्रत्ययका विधान किया है; इस से रागमोह मेंसे अथवा द्वेषमोह में से मोह प्रबलशत्रु है, ऐसा अर्थ करके पापीयान् कहा है; पुनः आशंका है, तत्वज्ञानी कीभी राग से हित में प्रवृत्ति और द्वेष से अहित में निवृत्ति देखने में आती है; इस से व्यभिचार दोष आता है, उत्तर यह है, कार्यरूप (धर्मअधर्म) प्रवृत्ति के कारण राग द्वेष ही दोषकहाते हैं; इसी से कहा है, कि ज्ञानी पुरु

न पदार्थों में प्रवृत्त हुआ भी मुक्त होजाता है ६ ॥

प्राप्तस्तर्हि निमित्तनैमित्तिकभावा
दर्थान्तरभावोदोषेभ्यः ७ ॥

इस पर आशंका करते हैं, कि दोषों का निमित्त (कारण) जब मोह है, तो दोषों से भिन्न अवश्य होना योग्य है; क्योंकि अभेद में कार्यकारणभाव कभी नहीं होता; दोषेभ्यः यह बहुवचन तो आवांतरभेदों के अभिप्राय से दिया है; इस सूत्र के आदि में प्राप्तस्तर्हि इतना भाष्य का पाठ जानना; ७ ॥

⁂ ⁂ ⁂

न दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ८ ॥

उत्तर यह है, कि दोषों का लक्षण आजाने से मोह में दोषत्व का निषेध (खंडन) नहीं योग्य है; इच्छात्व आदि धर्मों से भेदकीसिद्धि होने पर एक दोष (मोह) अन्य दोषों (रागद्वेष) का कारण मानने से कोई न्यूनता नहीं है; क्योंकि पार्थिव दंड चक्र आदि पार्थिव (घट) के कारण होते ही हैं; अर्थात् व्यक्ति के अभेद से कार्य कारणभाव का खंडन होता है; दोषत्व पृथिवीत्व आदि धर्मों के अभेद से कार्यकारण भाव का निषेध नहीं होता ८ ॥

निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तु
ल्यजातीयानामप्रतिषेधः ९ ॥

वादी के मत को अप्रयोजक (अपनी सिद्धि करने में असमर्थ) बना के, अब वादी के कहे पर व्यभिचार दोष देते हैं; एक जाति वाले द्रव्यों और गुणों का परस्पर कार्यकारणभाव मानने से राग, द्वेष नामी दोषों के कारण मोह में दोष

त कार्यकल्पना सर्वथा असंगत है; अर्थात् पार्थिव कपालों से पार्थिव घट उत्पन्न होता है, कपालके रूपगुण से घट का रूपगुण उत्पन्न होताहै; इत्यादि उदाहरणों से यह प्रतीत होता है, कि सजातीयों से ही सजातीय उत्पन्न होते हैं; कभी विजातीयों से विजातीय नहीं उत्पन्न होसकते; इस से राग, द्वेष दोषों के कारण मोह को कार्यों (रागद्वेष) के सजातीय (दोष) ही मानना योग्य है; विजातीय (दोषोंसेभिन्न) मानना सर्वथा असंगत है ९ ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में दोषों की परीक्षा और तीन राशिदिखाने का ४१वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥

क्रम से प्राप्त प्रेत्यभाव की परीक्षा करने के समय यह संशय हुआ; कि प्रेत्यभाव शरीरका अथवा बुद्धि का अथवा आत्मा का होता है; परंतु पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः इस लक्षण सूत्र से नष्ट हुए पदार्थ की उत्पत्ति का नाम प्रेत्यभाव प्रतीत होता है; इस से उत्पत्ति और विनाश से रहित आत्मा का यह प्रेत्यभाव नहीं होसकता; किंतु शरीर का अथवा बुद्धि का प्रेत्यभाव मानना उचित है; परंतु विनष्ट हुए शरीर आदि की उत्पत्ति ना होसकने से इन (शरीरआदि) का भी प्रेत्यभाव मानना असंगतप्रतीत होताहै; ॥

आत्मनित्यत्वेप्रेत्यभावसिद्धिः १०

जोभी मुख को खोल के सोया है, इस की नाईं अन्य शरीर को ग्रहण करके प्राप्त होना ही प्रेत्यभावका अर्थ मानने से नित्य आत्मा का प्रेत्यभाव सिद्ध होसकता है; इस

अभिप्राय से यह (१०वां) सिद्धांत सूत्र कहा है; पूर्वोक्त युक्तिओं से आत्मा में नित्यत्व की सिद्धि होने पर आत्मा का ही प्रेत्यभाव (अंतिम संबंध के नाश से एकजाति के शरीर को त्याग के नया पहिला संबंध होने से अन्यजाति के शरीर का ग्रहण) सिद्ध होसकता है; परंतु शरीर के साथ आत्मा का यह अवच्छेदकता संबंध स्वरूप संबंध ही है, अथवा अन्य है; यह विचार ग्रंथ बढ़जाने के भय से वृत्ति में नहीं किया; प्रेत्यभाव के लक्षण सूत्र में पुनः पद देने का यह तात्पर्य है, कि यह मरने जमने का प्रवाह अनादि चला आता है; इस का ज्ञान वैराग्य में बहुत उपयोगी है १० ॥

⁂

व्यक्ताद्व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ११ ॥

इस पर यह आशंका है, कि उत्पत्ति पदार्थ जानने से प्रेत्यभाव पदार्थ का ज्ञान होसकता है; परंतु उत्पत्ति सजातीयों से सजातीयों की अथवा विजातीयों से विजातीयों की भी नहीं कहसकते; क्योंकि पहिली पृथिवी (परमाणु) की उत्पत्ति किस से मानोगे, सजातीय (पार्थिव) तो उस (परमाणु) से पहिले है ही नहीं, और विजातीय से उत्पत्ति सर्वथा अनुभव में नहीं आती; परमाणुओं को नित्य मानने में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है; इस संगति (उपोद्घात वा अवसर) से उत्पत्ति का क्रम दिखाते हैं; प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है, अपने सजातीय सूक्ष्म पदार्थों से सजातीय स्थूलों की उत्पत्ति होती है; जैसे सूक्ष्म पार्थिवों (कपालों) से स्थूल पार्थिवों (घटों) की उत्पत्ति होती है; इसी से यह

त्र्यणुक के अवयव (द्व्यणुक) के अवयव (परमाणु) की कल्पना करके लाघव से उस (परमाणु) को नित्य मानते हैं ११ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

नघटाद्घटानिष्पत्तेः १२ ॥

सिद्धांत के जानने से विना ही कोई आशंका करता है; घट से कभी घट नहीं उत्पन्न होता, पट से कभी पट नहीं उत्पन्न होता; जब यह विशेष कार्य कारणभाव (सजातीयों से सजातीयों की उत्पत्ति) कभी नहीं बनता; तो यह सामान्य रूप से सजातीयों से सजातीयों की उत्पत्ति माननी सर्वथा असंगत है; १२ ॥ ⁂

व्यक्ताद्घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः १३ ॥

विशेष व्यभिचार तो विषय के भेदसे विरोधी ही नहीं है; और सामान्यव्यभिचार कोई आता नहीं है, इस अभिप्राय को लेकर उक्त आशंका का उत्तर करते हैं; सजातीय पार्थिव कपालों से सजातीय पार्थिव घट की उत्पत्ति प्रत्यक्ष ही देखने में आने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि सजातीय से सजातीय की उत्पत्ति का निषेध करना सर्वथा असंगत है; अर्थात् सजातीयों से सजातीयों की उत्पत्तिमानने का यह तात्पर्य नहीं है, कि सब सजातीयों से सब सजातीय उत्पन्न होते हैं; किन्तु यह अभिप्राय है, कोई द्रव्य कार्य उत्पन्न हो, तो वह अपने सजातीय से ही उत्पन्न होगा; विजातीय से कभी विजातीय कार्य उत्पन्न नहीं होगा; घट से घट ना उत्पन्न हो, परन्तु अपने सजातीय पार्थिव कपालों से सजातीय पार्थिव घट की

उत्पत्ति सिद्ध होजानेसे सजातीय से सजातीय की उत्पत्ति का निषेध करना सर्वथा असंगत है १३ ॥ ❖

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में प्रेत्यभाव की परीक्षा का ४३ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ❖ ❖

अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् १४

अब प्रसंग अथवा उपोद्घात संगति से व्यक्त(स्थूल) पदार्थों की सिद्धि के अर्थ आठ प्रकरण कहे हैं; उन में से आदि में बौद्धों का मत खंडनकरने के अर्थ शून्यता(अभाव) से जगत् की उत्पत्ति के निषेध का प्रकरण है; इस में बौद्धों का यह पूर्व पक्ष है; बीज आदि के उपमर्द(नष्टकेनाश) से बिना कार्य(अंकुरआदि) का प्रादुर्भाव(उत्पत्ति) नहीं देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि बीज आदि के अभाव(नाश) सेही अंकुर आदि कार्य उत्पन्न होते हैं; अर्थात् अभावही सारे जगत् का उपादान(समवायि) कारण है; १४ ॥ ❖ ❖ ❖ ❖

व्याघातादप्रयोगः १५ ॥

इस का उत्तर यह है, कि व्याघात(व्याकरण के विरोध) से उपमर्द(नाश) करके प्रगट होना यह कथन असंगत है; अर्थात् उपमर्द(नाश) का कारण यदि पहिले ही वर्त्तमान है, तो पहिले ही प्रगट हुआ; पुनः नाश करके पीछे से प्रगट होता है, यह कथन सर्वथा असंगत हुआ; यदि पहिले नहीं विद्यमान है, तो पूर्वदशा में रहने से बिना नाश का कारण मानना भी सर्वथा असंगत है; १५ ॥

नातीतानागतयोःकारकशब्दप्रयोगात् १६

पूर्वपक्षी (बौद्ध) पुनः दोष देता है, प्रयोग असंगत (व्याकरण से विरुद्ध) नहीं है; जिससे अतीत (पीछे होचुके) अनागत (आगे होने योग्य) पदार्थों में भी कर्तृ, कर्म वाचक शब्दों का प्रयोग देखने में आता है; यथा आगे जो पुत्र उत्पन्न होगा, उस पुत्र को स्मरण करता है; जो घट घर के पास था, टूटे हुए उस घट का शोक करता है; इन उदाहरणों में भविष्यपुत्र का स्मरण और भूत घट का शोक कहने से प्रतीत होता है, कि भूतभविष्य पदार्थों में भी औपचारिक (कल्पित) प्रयोग होने में कोई विवाद नहीं है १६ ॥

नविनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः १७ ॥

हम स्वीकार करते हैं, कि कल्पित प्रयोग हो. परंतु नष्ट हुए बीज को उपादान कारण मानते हो; अथवा बीज के नाश को उपादानकारण कहते हो, वा बीज के नाश को निमित्तकारण मानते हो; पहिले पक्ष का यह उत्तर है, कि कार्य के अव्यवहितपूर्वक्षण में कारण के ना रहने से नष्ट हुए बीज आदि अंकुरआदिकार्यों के कारण कभीनहीं होसकते; और उपादानकारणता का नियामक द्रव्यत्व धर्म ही जब ध्वंस में नहीं रहता, तो बीज आदि के नाश (ध्वंस) को अंकुर आदि कार्यों का उपादानकारण मानना भी सर्वथा असंगत है; इस दूसरे पक्षका खंडन करने के समय भाव में क्त प्रत्यय आके विनष्ट पद सिद्ध हुआ जानना १७ ॥

क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः १८ ॥

तीसरे पक्ष का उत्तर यह है, कि अभाव में कारणता का

सामान्य निषेध हम भी नहीं करते, किंतु उपादानकारणता का निषेध करते हैं; क्योंकि सिद्धांत में भी प्रतिबंधकों के संसर्गाभाव (प्रागभाव, ध्वंस, अत्यंताभाव) कार्य मात्र के कारण माने हैं; प्रकृत में वीज के नाश होने पर अंकुर उत्पन्न होता है; इसतुमारे माने अनुभव से ही सिद्ध होता है, कि प्रतिबंधक (वीज) का अभाव (नाश) कार्य (अंकुर) का निमित्तकारण है; वीज के नाश से पीछे जलसिंचने पर वीज और मृत्तिका के अवयव (खंड) मिलकर अंकुरको उत्पन्न करते हैं; अर्थात् वीजके अवयव ही अंकुर के उपादान कारण हैं, अभाव को ही कारणमानों, तो पीसके फेंके वीजों से भी अंकुर उत्पन्न होजावे १८ ॥ ❖ ❖ ❖

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में अभाव में उपादान कारणता के निषेधका ४४ वां प्रकरणसमाप्तहुआ। ॥ ❖

ईश्वरःकारणंपुरुषकर्म्माफल्यदर्शनात् १९ ॥

इस प्रकरण में अन्य शास्त्रों के मत दिखाये हैं; कि घट पट आदि अनेक परिणामों (कार्यों) को उत्पन्न करके भी जैसे मृतिका अपने यथार्थ स्वरूप को नहीं त्यागती, किंतु सब कार्यों में व्यापक होके बनी ही रहती है; इसी रीति परब्रह्म नाम, रूप, प्रपंच के भेद से अपने परिणाम (कार्य) सारे जगत को उत्पन्न करके भी अपने यथार्थ स्वरूपको नहीं त्यागता; किंतु व्यापक होके सब कार्यों में बना ही रहता है इसको परिणामका-

द कहते हैं । और जल आदि भिन्नभिन्न स्वच्छ पदार्थों में प्रतिबिंब (छाया) पड़ने से मुख की नाईं सनातन, अनिर्वचनीय यथार्थ रूप से जानने के अयोग्य) अविद्या (अज्ञान) में प्रतिबिंब (छाया) पड़ने से परब्रह्म ही अनंत रूपों का जगत होके प्रतीत होता है; इस को विवर्त्त वाद कहते हैं । सूत्र की उत्थानका यह है, कि जीवात्मा के कर्म (व्यापार) से ही सब कार्य सिद्ध होजावेंगे; पुनः ईश्वर की क्या अपेक्षा है; इस पर कहा है, पुरुष (जीवात्मा) के कर्म (व्यापार) को बहुत स्थानों में निष्फल देखने से अवश्य कोई सहायक (ईश्वर) मानना पड़ता है; तो सिद्ध हुआ, उस सहायक (ईश्वर) की इच्छा सेही सब कार्य उत्पन्न होजावेंगे, पुनः जीवों के व्यापार को कारणता माननी व्यर्थ है; सिद्धांत यह है, कि इस प्रकरण से ईश्वर में कार्यमात्र की कारणता सिद्ध की है; समवायिकारणता सिद्ध करने में कोई प्रमाण नहीं है १९ ॥

न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः २० ॥

उत्तर यह है, केवल ईश्वर को ही कारण कहें, तो उसकी इच्छा और इच्छा की विचित्रता को भी कारण मत मानो, नहीं तो दो तीन कारण हो जावेंगे; और केवल ईश्वर नामी नित्य कारण से सब कार्य सहायक से ही उत्पन्न होते रहें; विचित्रता होवे, इससे जीवात्माओं के व्यापार भी अवश्य सहायक मानने पड़ेंगे. और असमवायिकारण के ना होने से ईश्वर उपादान नहीं हो सकता; निमित्तकारण तो मानते ही हैं; २० ॥

तत्कारितत्वादहेतुः २१ ॥

इस पर आशंका करते हैं, कि जीवात्मा का व्यापार भी जब

अवश्य कारण हुआ; तो कार्यकी उत्पत्ति में व्यभिचार (कहीं होना कहीं ना होना) कभी ना होवे; उत्तर यह है, कि फल का नाउत्पन्न होना जीवात्मा के अदृष्ट का अभाव होने से होता है; कार्य की उत्पत्ति में जीवात्मा का व्यापार प्रधान कारण नहीं है; किंतु प्रधानकारण अदृष्ट और अदृष्ट का सहायक आत्मा है; वह ईश्वर ही कौन है, इस का उत्तर वा स्थापन जीने किया है; कि नित्यज्ञान, नित्यइच्छा, नित्ययत्न इन विशेषगुणों से और संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग नामी सामान्यगुणों से युक्त, जीवात्माओं से भिन्न, आत्मा (सबको उपासना करने के योग्य) जगत् की उत्पत्ति, पालन. संहार का कर्त्ता, वेदों के द्वारा हित और अहित उपदेश करने वाला जगत का पिता ईश्वर है; अन्य आचार्य इन (१९-२०-२१) तीनों सूत्रों को ईश्वर के वर्णन पर ढूलगाते हैं; कुम्हार से जन्य घट आदि कार्यों की नाईं सब कार्य कर्त्ता से जन्य होते हैं; इस अनुमान से सिद्ध होता है, कि पृथ्वी, अंकुर, सृष्टि के आदि में द्व्यणुक इत्यादि सब कार्यों का कर्त्ता परमाणु से आकाशतक सब पदार्थों को विना आयास के प्रयत्न से देखता ईश्वर ही है; निष्फल कर्मों में प्रवृत्त अल्पज्ञ जीवात्मा परमाणु आदि के प्रयत्न से विना कभी कार्य मात्र का कारण नहीं होसकता; इसपर आशंका यह है, जीव की प्रारब्ध से विना फल (कार्य) की सिद्धि कभी ना होने से प्रतीत होता है; कि अदृष्ट (प्रारब्ध) के द्वारा जीवात्मा ही कार्यमात्र का कारण है; उत्तर यह है, कि प्रारब्ध भी, चेतन ईश्वर के साहाय्य से फल देता है; स्वतंत्र अचेतन (कर्म) कुछ नहीं

कर्मकर्ता, और मनुष्यत्वके ना होनेसे जीवात्मा कर्मों के फल देनेमें सामर्थ्यही नहीं रखता; २१ ॥ ⁂ ⁂

इति न्यायसूत्रवृत्तिमें ईश्वरकी कारणताका ४५ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ⁂ ⁂ ⁂ ⁂

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टक
तैक्ष्ण्यादिदर्शनात् २२ ॥

जो लोग विना कारण के अकस्मात (स्वभावसे) ही सारे जगत की उत्पत्ति मानते हैं; उन के मत में ना परमाणु उपादान (समवायी) कारण हैं, ना ईश्वर ही निमित्त कारण है; इससे स्वभाव वादीके मतका खंडन करने केअर्थ इस प्रकरण का प्रारंभ किया है; आदि में स्वभाववादी की यह आशंका है, कि घट पट आदि भावों (कार्यों) की उत्पत्ति विना ही निमित्त (कारण) के होती है; जैसे विना ही कारण के कांटे में तीक्ष्णता की उत्पत्ति होती है; अथवा मोर पक्षी के शरीर में चित्र, बहुत तीखे कांटे आदि भाव कार्य विनाही कारण के उत्पन्न होते देख के अनुमान किया जाता है; कि इन (चित्रता, तीखेकांटे आदि) की नाई घट पट आदि सब भाव कार्य विनाही कारण के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं; पुनः परमाणुओं को उपादानकारण मानना और ईश्वर को निमित्त कारण मानना सर्वथा असंगत है २२ ॥ ⁂

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः २३ ॥

कोई एकदेशी इसमें स्वभाववादी का खंडन करता है, कि अनिमित्ततः इस हेतु पंचमी से ही विदित होता है, स्वभाववादीने कार्यों की उत्पत्ति में अनिमित्त (निमित्तके अभा-

व) को कारण माना है; तौ निमित्तों के अभाव को कारण मान के पुनः कैसे कहा कि विनाही कारण के कार्य उत्पन्न होते हैं; अर्थात् कारण मान के कारण का निषेध करने से स्वभाववादी प्रतिज्ञाविरोध नामी निग्रहस्थान में आगया है; तौ सिद्धांतका खंडन कहां से करसकेगा; २३ ॥

⁂ ⁂ ⁂ ⁂

निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तर
भावादप्रतिषेधः २४ ॥

स्वभाववादी के और एकदेशी के मतों का खंडन करता है, अनिमित्त (निमित्ताभाव और निमित्त के) अर्थान्तरभाव (भेद) से एकदेशी का कथन योग्य नहीं है; अर्थात् अनिमित्त (निमित्ताभाव) को निमित्त नहीं कह सकते, और निमित्त को निमित्ताभाव नहीं कह सकते; और शरीर की स्वभाव से उत्पत्ति का खंडन करने से सब कार्यों की स्वभाव से उत्पत्ति का खंडन होगया है; इस से यहां स्वभाववादी का खंडन नहीं किया; नवीनलोग इन (२३-२४) दो सूत्रों को यूं लगाते हैं, कि अनिमित्तत्व (निमित्ताभाव) की अनुमिति के साधक हेतु (भावत्वआदि) के स्वीकार से प्रतीत होता है; कारण अवश्य मानने योग्य हैं, यदि उक्त हेतु (भावत्वआदि) न मानेजावें, तौ प्रमाण के न होने से अनिमित्तत्व (निमित्ताभाव) की सिद्धि करनी भी अतिकठिन होजावेगी; और अदृष्ट विशेष की सहायता से परमाणु ही जब कांटे को तीक्ष्ण करते हैं, तौ विना कारण के कांटे की तीक्ष्णता का मानना, और उसका दृष्टा

त हैके कार्यों को स्वभाव से उत्पन्न मानना सर्वथा असंगत है; स्वभाववादी के मतपर और दोष देते हैं, कि इस कार्य का यह कारण है, यह वही कारण है, ऐसे प्रसिद्ध अनुभव से निमित्त और अनिमित्त का भेद जब सिद्ध होगया, तो निमित्त का खंडन करना सर्वथा असंगत है; नहीं उनोक्तप्रसिद्ध प्रतीति नहीं उपपन्न होगी २४ ॥ ❖

इति न्यायसूत्रवृत्ति में स्वभाव वादीके खंडन का ४६ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ❖ ❖ ❖

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् २५ ॥

सब पदार्थों में अनित्यत्व का स्वीकार करने से आत्मा आदि को नित्य मानना असंगत है; इस से सब पदार्थों में अनित्यत्व के खंडन का प्रकरण चलाया है; आदिमें सर्व प्रमेय अनित्य हैं, वा नहीं (नित्य हैं) इस संदेह से सर्ववादी ने यह आशंका की है; जो २ प्रमेय हैं, वे सब घटआदि की नाईं उत्पन्न होते हैं, और जिन की उत्पत्ति होती है, उनका विनाश अवश्य होता है; इस से सिद्ध हुआ, कि घट, पट, आकाश आदि सब प्रमेय (पदार्थ) जिससे उत्पन्न और नष्ट भी होते हैं, इससे सब पदार्थ अनित्य हैं; अथवा उत्पन्न विनाश होने ही सब घट आदि पदार्थ जगत में प्रतीत होते हैं इन से भिन्न (उत्पत्ति विनाश से रहित) पदार्थों के मानने में कोई प्रमाण नहीं; किंतु सब पदार्थ अनित्य ही हैं, कोई इस सूत्र को यूं लगाते हैं, कि सब पदार्थ अनित्य हैं (कभी वर्त्तमान होते हैं कभी

नहीं वर्त्तमानहोते) जिस से उत्पन्न भी होते हैं; और नष्ट भी होते हैं, २५ ॥

⁂ ⁂ ⁂

नानित्यतानित्यत्वात् २६ ॥

इस आशंका पर सिद्धांती (गौतम) दोष देते हैं, जो २ पदार्थ उत्पन्न होते हैं, नियम से उन सब का नाश मानना अयोग्य है; क्योंकि उत्पन्न होके भी ध्वंस का नाश ना होने से व्यभिचार दोष आता है; अर्थात् ध्वंस में उत्पत्तिमत्व (उत्पन्नहोना) हेतु तो रह गया, परंतु विनाश के ना होने से विनाशित्व (साध्य) नहीं रहा, तोव्यभिचार दोष से दुष्ट यह (अनितावादीका) हेतु सब पदार्थों में अनित्यता की सिद्धि करने में सर्वथा असमर्थ है २६ ॥ ⁂

तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यंविनाश्यानुविनाशवत् २७ ॥

पुनः पूर्वपक्षी का आक्षेप है, किजैसे दाह्य काष्ठ आदि का नाश करके अग्नि आप नष्ट हो जाता है; परंतु नष्ट हुए काष्ठ आदि की पुनः उत्पत्ति नहीं होती; इसीरीति घट आदि पदार्थों के नाश से अनंतर नाश (ध्वंस) का भी नाश होजाता है; परंतु इस (ध्वंसकानाशहोजाने) से घट आदि की पुनः उत्पत्ति नहीं होती; ध्वंस का ध्वंस भी प्रतियोगी (घटआदि) के ध्वंस का ही स्वरूप है; और ध्वंस प्रागभाव से शून्य देश में प्रतियोगी अवश्य रहता है; इस नियम के मानने में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है; इस से घट आदि का पुनः उत्पन्न होना असंभव के समान है २७ ॥

नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धिव्यवस्थानात् २८ ॥

नित्य पदार्थों का प्रत्याख्यान (खंडन) करना योग्य नहीं है; लाघव के साहाय्य से अनुभव ही सब पदार्थों के नित्य और अनित्य होने की व्यवस्था (नियम) बांधता है; अर्थात् आकाश आदि नित्य पदार्थों को अनित्य मानने से उन (आकाशआदि) की उत्पत्ति विनाश उन के अवयवों की उत्पत्ति विनाश आदि विरुद्ध कल्पनाओं से बड़ा गौरव दोष आवेगा; इस से नित्यमानने में ही लाघव भी है, और दोष कोई नहीं आता २८ ॥ ❖ ❖

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में सब पदार्थों की अनित्यता के खंडन का ४० वां प्रकरण समाप्तहुआ. ॥ ❖

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् २९ ॥

सांख्यकार जब संपूर्ण पदार्थों को नित्यमानते हैं, तो उन के मत से प्रेत्यभाव (विनष्टपदार्थकाउत्पन्नहोना) कभी नहीं सिद्ध होसकता; इस से सांख्यमत (सबपदार्थनित्यहैं) का खंडन करने के अर्थ यह प्रकरण चला है; आदि में सांख्य की आशंका इस सूत्र में दिखाई है, जो १ प्रमेय अथवाभाव (पदार्थ) पृथिवीआदि पांच भूतों के परमाणु हैं, वे सब नित्य हैं, इसीरीति सबपदार्थ जिससे प्रमेय हैं, इसी से नित्य हैं; २९ ॥ ❖

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ३० ॥

उत्तर यह है, कि घट आदि पदार्थों की उत्पत्ति के कारण (कपालआदि) और विनाश के कारण (मुद्गरघातआ

रि) प्रत्यक्ष ही देखने में आते हैं: इस से उन के कार्य(घट आदि की उत्पत्ति और विनाश) भी अवश्य मानने योग्य हैं, जब उत्पत्ति और विनाश भी मान लिये, पुनः इन्हें (कार्यों को) नित्य मानना सर्वथा असंगत है; किंतु घट आदि सब अनित्य हैं ३० ॥

⁂

तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ३१ ॥

सांख्यकार पुनः आशंका करते हैं, तुम (नैयायिक) भी जिन्हें नित्य मानते हो, उन परमाणुओं के लक्षण (आवर्तक धर्म) मूर्त्तत्व, पृथिवीत्व आदि जब घट आदि पदार्थों में रह जाते हैं; तो उन्हें (घट आदि कार्यों को) परमाणु आदि की नाईं नित्य मानना ही योग्य है, अनित्य मानना सर्वथा असंगत है; और इन (घट आदि) की उत्पत्ति और विनाश तो भ्रम से ही प्रतीत होते हैं ३१ ॥

नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ३२ ॥

सांख्य के मत पर सिद्धान्ती दूषण देता है, कि अनित्यत्व का निषेध करना योग्य नहीं है; जिस से उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति प्रमाण के द्वारा सिद्ध है; और प्रमाण से सिद्ध पदार्थ का बिना किसी दृढ़ प्रमाण के खंडन करना सर्वथा असंगत है; नहीं तो सब जनों में प्रसिद्ध ये यथार्थ प्रतीतियां न होवें, कि अभी घट उत्पन्न नहीं हुआ, किंतु घट उत्पन्न होगा, अभी कपाल अथवा मृत्तिका वर्त्तमान है; इसी रीति उत्पत्ति से अनन्तर होता है, कि अब घट वर्त्तमान है, और नाश से पीछे होने लगता है, कि घट था अब नहीं है; इस पर सांख्यकार यदि कहें, कि आ-

विर्भाव (प्रगटहोना) और तिरोभाव (लुकजाना) से ही उक्त प्रतीतिओं का निर्वाह करलेंगे; तो उत्तर यह है, कि आविर्भाव नित्य है, अथवा अनित्य नित्यमानों तो उक्त प्रतीतिओं के विरोध लगे ही रहेंगे; यदि अनित्य मानों तो सब पदार्थों को नित्य मानना असंगत है; क्योंकि यह (आविर्भाव) ही नहीं नित्य हुआ ३२ ॥ ∴

नव्यवस्थानुपपत्तेः ३३ ॥

उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति जो भ्रम से कही है; उसका उत्तर करते हैं, सब (पंडितों से मूर्खों तक) लोग जिस प्रतीति को प्रमा (यथार्थ) मानते हैं; उस में भी जब भ्रमत्व का संदेह होने लगा, तो तो यथार्थ और अयथार्थ का व्यवहार (व्यवस्था) ही जगत से उठ जावेगा; ३३ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्तिमें सब पदार्थों में नित्यता के खंडन का ५८ वां प्रकरण समाप्त हुआ। ॥ ∴ ∴

सर्वंपृथग्भावलक्षणपृथक्त्वात् ३४ ॥

अब प्रसंगसंगति से सब पदार्थों को पृथक (समूहरूप) मानने का मत खंडन करने के अर्थ आदि में पूर्वपक्ष (आशंका) है; कि सेना, वनआदि जो२ वाच्य पदार्थ हैं, वे सब मनुष्यों के अथवा वृक्षों के समूह ही हैं, इसी रीति घट पट आदि सब जगत के पदार्थ समूह रूप ही मानने योग्य हैं; अतीन्द्रिय (जिनका प्रत्यक्ष नहीं होता) आकाश आदि के मानने में कोई प्रमाण नहीं है; हाथ, पांउ आदि अंगों के समूह (शरीर) से भिन्न कोई आत्मा

भी नहीं है; और आश्रय(द्रव्य) से भिन्न कोई गुण और कर्म भी नहीं हैं, सामान्य(जाति) भी आश्रय(व्यक्ति)का ही स्वरूप है; विशेष और समवाय नामी पदार्थों के मानने में कोई प्रमाण ही नहीं है; अभाव तो कोई वस्तु ही नहीं है; अथवा घट आदि सब पदार्थ अपने आप से भी पृथक(भिन्न) हैं, जिस से भावों(घटआदि) के भिन्न भिन्न लक्षण(कारण) गंध,रस आदि और कपाल, परमाणु आदि का स्वरूप ही घट है; ३४ ॥ ⁂

नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ३५ ॥

उत्तर यह है, कि अनेक लक्षणों(कारणों) गंध रस आदि और परमाणु आदि अवयवों से प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के विषय एक घट कार्य को घ्राण आदि अनेक इंद्रियों के द्वारा ग्रहण करने के योग्य गंधरस आदि पदार्थों से अभिन्न मानने में और अपने कारण अवयवों के साथ कार्य घट का अभेद मानने में कोई दृढ़ प्रमाण ना मिलने से समूहवादी का मत सर्वथा असंगत प्रतीत होता है; ३५ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

लक्षणव्यवस्थानादेवाप्रतिषेधः ३६ ॥

सिद्धांत की साधक और युक्तिआं दिखाते हैं, लक्षणों (कारणों) की व्यवस्था(नियम) से ही समूह से भिन्न अवयवी(कार्य) का प्रतिषेध(खंडन) करना योग्य नहीं है; अर्थात् कपाल में घट है, इस प्रतीति से (कपाल में समवाय संबंध से वर्त्तमान द्रव्य को घट कहते हैं) यह घट का लक्षण सिद्ध होता है; परंतु समूह रूप

माने, तो यह उक्त प्रतीति समवाय संबंध से कभी ना होवे; जिस से समूह के पदार्थ परस्पर संयोग संबंध से ही रहते हैं; अथवा घट आदि के लक्षण(समूह) का चक्षु और त्वचा से प्रत्यक्ष होता है; यदि अवयवों (परमाणुओं) का समूह ही घट होवे, तो परमाणु को कभी प्रत्यक्ष नहीं होता; इससे घट आदि पदार्थों का भी प्रत्यक्ष ना होवे; इसी रीति लक्षण(समूह) की अवस्था से ही प्रतीत होता है; कि सब पदार्थों को समूह रूप मानना, सर्वथा असंगत है, क्योंकि बहुत पदार्थों को इकट्ठे करने से समूह कहाता है; परंतु उन में से प्रत्येक पदार्थ को भी समूह रूप मानें, तो अनवस्था दोष लगेगा; यदि उन प्रत्येक को समूह रूप ना माना, तो सब पदार्थों को समूह रूप मानने का अपने मुख से ही खंडन हो गया; इस से सिद्ध हुआ, कि समूहवादी का मत सर्वथा असंगत है; ३६ ॥

इति न्याय सूत्र वृत्ति में समूहवाद के खंडन का ४५वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ३७ ॥

सब पदार्थ शून्य (अभाव) रूप माने जावें, तो कार्य कारण भाव का होना ही असंगत है; इसलिये शून्यता (अभाव) वादी के मत का खंडन करने के अर्थ यह प्रकरण चला है; आदि में ज्ञान के विषय (सब पदार्थ) अभाव रूप हैं, अथवा नहीं, इस संदेह के होने

पर अभाववादी ने पूर्वपक्ष किया है, कि सब पदार्थ (जिन्हें तुम भाव मानते हो) अभाव (तुच्छ) हैं; यह बात प्रत्यक्ष ही देखने में आती है, तुमारे माने घट पट आदि भावों में जो प्रतीतियां होती हैं; कि घट से पट भिन्न है (घट के भेद का आश्रय पट है) परंतु आश्रय से पृथक् कोई अभाव नहीं होता; इस से सिद्ध हुआ, कि घट का भेद ही पट है; इसी रीति सब पदार्थ अभाव ही सिद्ध होते हैं; तो इन अभावों (तुच्छों) का कार्यकारणभाव मानना सर्वथा असंगत है; ३७ ॥ ⁂

न स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ३८ ॥

सिद्धांती का उत्तर यह है, पृथिवी आदि भावों के स्वभावों (गंध आदि गुणों और पृथिवीत्व सत्ता आदि जातियों) की सिद्धि (साक्षात्प्रतीति) होने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि भावों का खंडन करना सर्वथा असंगत है; क्योंकि अभावों में गंध आदि गुणों और सत्ता आदि जातियों का होना ही असंभव के समान है; अर्थात् अभावों में गुणों और जातियों के मानने से यह व्यवस्था (नियम) कोई ना होवे, कि द्रव्यों में ही गुण रहें, वा द्रव्य आदि तीनों में ही सत्ता रहे; किंतु सब अभाव एक से हैं, इस से सब में सब रहें; ३८ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ३९ ॥

अभाववादी पुनः आशंका करता है, कि सब भावों का एक स्वभाव (गुणाश्रय वा जाति) तो नहीं सिद्ध हो सकता; जिस से भावों के स्वभाव (गुण और जातियां)

भिन्न भिन्न हैं; यदि ये भिन्न भिन्न स्वभाव मानें जावें, तो इन स्वभावों के भेद से पदार्थ (घटआदि) अपने आप से भी भिन्न होजावें; अर्थात् पदार्थ सब पुनः अभाव स्वरूप ही रहे; अथवा इसकी अपेक्षा यह अधिक नील है, इसकी अपेक्षा यह अल्परक्त है, इत्यादि प्रतीतियों से इतरों (अपने से भिन्नपदार्थों) की अपेक्षा के द्वाराही स्वभावों (गुणोंऔरजातियों) की सिद्धि होने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि स्वभाव (गुणऔरजातियां) भी अभाव (तुच्छ) ही हैं, क्योंकि इनकी अपेक्षा से जो पदार्थ सिद्ध हो, वह तुच्छही (अभाव) ही होता है; जैसे जवाकुसुम की अपेक्षा से सिद्ध स्फटिक का रक्तवर्ण तुच्छ ही होता है; ३९ ॥ ∴

व्याहतत्वादयुक्तम् ४० ॥

उत्तर यह है, कि अन्यकी अपेक्षा से सिद्ध पदार्थ तुच्छ होता है; यह बात किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होसकती; होभी घटको पट आदिकी अपेक्षामानने में कोई प्रमाण नहीं है; और अपेक्षा को किसी की अपेक्षा है, अथवा नहीं; यदि है, तो यह तुच्छ अपेक्षा अन्यपदार्थकीसिद्धि क्या करेगी; यदि नहीं है, तो यह अपेक्षा ही सत्य (भाव) पदार्थ सिद्ध होगई पुनः सबपदार्थों के अभावमाननासर्वथा असंगत है ४० ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में अभाववादीके मत का खंडन ४०वांप्रकरणसमाप्तहुआ ॥ ∴ ∴

संख्यैकान्तासिद्धिः कारणा
नुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ४१ ॥

सारे जगत में एक ही पदार्थ मानने के मत का खंडन इस प्रकरण में किया है; आदि में वात्स्यायन जी ने भिन्न भिन्न संख्याओं के मत दिखाए हैं; सत (अस्ति) यह प्रतीति सब पदार्थों में एकसी होने से सिद्ध होता है; कि सारे जगत के पदार्थ सत्वधर्म से एक ही हैं; सारे जगत में दो (नित्य और अनित्य) ही पदार्थ हैं; सारे जगत में तीन (ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय) ही पदार्थ हैं, सारे जगत में चार (प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमा) ही पदार्थ हैं; इत्यादि ऐसेभी कई मत-भेद हैं, इन में से नित्यत्व और अनित्यत्व नामी विलक्षण धर्मों से सब पदार्थों के दो भेद जैसे किये हैं; इसी रीति सत्वधर्म से सब पदार्थ एक भी साधु रूप से सिद्ध होसकते हैं; कोई आचार्य यूं कहते हैं, कि सब पदार्थों को एक मानना, यह अद्वैतवाद (वेदांत का सिद्धांत) है; कि एक नित्य, सब स्थान में वर्तमान ब्रह्म ही सत्य है, अन्य सब पदार्थ मिथ्या (अनित्य) हैं; अथवा जगत में प्रतीत होने सब पदार्थ सत होने से एक ही हैं; इस में श्रुति भी प्रमाण है, इस जगत में नाना पदार्थ कोई नहीं किंतु एक ही अद्वितीय (दूसरे से बिना) ब्रह्म है; आदि पद से सारे जगत में पांच (रूप, संज्ञा, संस्कार, वेदना, अनुभव) ही पदार्थ हैं, यह बौद्धों का मत भी जानना; इन सब मत-भेदों पर सिद्धांती ने कहा है,

एक ही संख्या निश्चित नहीं हो सकती; किसी अभिमत संख्या से पृथक् कारण (प्रमाण) मानें, तो संख्या टूट गई, न मानें तो प्रमाण से बिना संख्या सिद्ध ही नहीं हो सकती; ४१ ॥

❋ ❋ ❋

नकारणावयवभावात् ४२ ॥

इस पर आशंका है, कि अभिमत पदार्थ का अवयव (एकदेश) ही प्रमाण है; और अवयवों का अवयवी के साथ अभेद (एकत्व) है; पुनः संख्या का निषेध कैसे करते हो, ४२ ॥

❋ ❋ ❋ ❋

निरवयवत्वादहेतुः ४३ ॥

उत्तर यह है, वेदान्त के मत में निरवयव (अवयवशून्य) ब्रह्म का अवयव कहना ही असंगत है; सब मतों में अभिमत सब पदार्थ तब संख्या वाली साध्य के पक्ष हैं, तो पक्ष के एक देश (अवयव) को प्रमाण (हेतु) मानना, सर्वथा असंगत है; अतः प्रमाण से ब्रह्म में ऐक्य सिद्ध करके जगत को एक मानना भी हमें अच्छा नहीं प्रतीत होता; जिस से सत्यधर्म से एकान्तकी नाईं नित्यत्व और अभिमत धर्म से जितनी युक्ति (प्रमाण) से सिद्ध हो सकता है; अनित्य अनुमान से नित्यों और अनित्यों पदार्थों की सिद्धि मानने में कोई विरोध नहीं है; नहीं तो छः पदार्थों का और सात पदार्थों का मत कैसे सिद्ध होगा; इस से अद्वैतवाद (वेदान्तमत) का खंडन करना ही इस प्रकरण का प्रयोजन सिद्ध होता है; जिस युक्ति से सिद्ध सभी संख्या अपने अपने मत में प्रमाण मान-

नी योग्य हैं, ४३ ॥ ❖ ❖ ❖

इति न्यायसूत्रवृत्ति में एक ही संख्या के निषेध का ५२ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ❖

सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः ४४

अब अवसर संगति से फल की परीक्षा करने के संशय कहते हैं; पाक आदि क्रिया का शीघ्र फल होने से और कृषि (खेती) आदि का कालान्तर में फल होने से संदेह होता है; कि यज्ञ आदि का अथवा हिंसा आदि का फल शीघ्र होता है, अथवा कालान्तर से होता है; ४४ ॥ ❖ ❖

न सद्यः कालान्तरोपभोग्यत्वात् ४५ ॥

इस पर यहां ही यश और अपयश सब कर्मों का फल मानने से अदृष्ट (पुण्य, पाप) मानना ही नहीं, कि फल में कालान्तर का संदेह पड़े; इस आशंका का उत्तर सिद्धान्ती ने किया है; कि सद्यः (शीघ्र) फल नहीं हो सकता, जिस से यज्ञ आदि कर्मों का फल कालान्तर में भोगने के योग्य ही कहा है; क्योंकि यज्ञ आदि का स्वर्ग फल कहा है; इस जगत में उस स्वर्ग (दुःख के लेशमात्र से भी हीन सुख) का होना, सर्वथा असंभव के समान है; इसी रीति हिंसा आदि के फल नरक (सुख के लेशमात्र से भी हीन घोर दुःख) का होना भी इस लोक में असंभव है; किंतु अन्य लोक में ही येह सुख दुःख हो सकते हैं; इस से सिद्ध हुआ, कि कालान्तर में

ही फल होते हैं; यज्ञआदि के फल शीघ्र नहीं होते ४५ ॥

कालान्तरेणानिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् ४६ ॥

इस पर आशंका करते हैं, कि यज्ञ आदि कर्मों का फल कालांतर (चिरकाल) में मानना सर्वथा असंगत प्रतीत होता है; जिससे फल के कारण यज्ञआदि यहां ही नष्ट होजावेंगे, पुन: किस कारण से फल की उत्पत्ति मानोगे; कारण से विना कार्य की उत्पत्ति होही नहीं सकती; ४६ ॥

✣ ✣ ✣

प्राङ्निष्पत्तेर्वृक्षफलवत्तत्स्यात् ४७ ॥

उत्तर यह है, कि यज्ञ आदि यद्यपि नष्ट होते हैं; तौभी यज्ञ आदि से उत्पन्न सुख दुःख आदि फलों का कारण धर्माधर्म (अदृष्ट) फल की उत्पत्ति तक बना ही रहता है; जिस (व्यापार) के संबंध से नष्ट हुए यज्ञ आदि भी फल की उत्पत्ति तक विद्यमान के तुल्य ही कहे जाते हैं; इस बात को दृढ़ करने के अर्थ दृष्टांत दिखाते हैं; वृक्ष के फलों की उत्पत्ति का कारण जड़ों में जल देना आदि नष्ट भी होजावे, तौभी उस (जलदेने) से उत्पन्न धा रस आदि अवयवों की वृद्धि बनी रहने से फल की उत्पत्ति का कारण जड़ाओं से जलसंयोग मानने में कोई न्यूनता नहीं आती; इसरीति प्रकृत में यज्ञआदि का नाश होजाने पर भी यज्ञ आदि के कार्य अदृष्टों से स्वर्ग आदि फलों की उत्पत्ति मान के स्वर्ग आदि फलों के कारण यज्ञआदि कर्म मानने में कोई दोष नहीं है ४७ ॥

✣ ✣ ✣

नासन्नसन्नसदसत्सदसतोर्वैधर्म्यात् ४८

इस पर आशंका यह है, कि कार्यकारणभाव ही किसीरीति नहीं बन सकता; क्योंकि उत्पत्ति से पहिले कार्य को सत (वर्त्तमान) मानोगे, अथवा असत (नहीं वर्त्तमान) मानोगे; यदि उत्पत्ति से पहिले ही कार्य सत (वर्त्तमान) है तो कारणों के व्यापार व्यर्थ होजावें और पहिले ही जब वर्त्तमान है, तो उत्पत्ति का कहना सर्वथा असंगत है; और यदि उत्पत्ति से पहिले कार्य को असत (नहीं वर्त्तमान) मानें, तो कच्छू के रोम सहे के सींग इत्यादि असत्पदार्थों की नाईं असत कार्यों की उत्पत्ति होनी असंभव के तुल्य है; और रेत से भी तेल निकलने लगे; इसी से कार्य सत- असत भी नहीं होसकते जिस से सत कभी असत नहीं और असत कभी सत नहीं होसकता; ४८ ॥ ❀ ❀

प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिधर्म्मकमसदित्य
द्धाउत्पादव्ययदर्शनात् ४९ ॥

उत्तर यह है, कि जो जो पदार्थ जगत् में उत्पन्न होते प्रत्यक्ष दीखपड़ते हैं; वे घट पट आदि सब पदार्थ अपनी अपनी उत्पत्ति से पहिले असत (नहीं वर्त्तमान) होते हैं; अब घट उत्पन्न हुआ, अब घट नष्ट होगया इत्यादि अनुभवों से यह दृढ़ सिद्धांत जानागया है; यदि हठ से कोई वर्त्तमान पदार्थ की ही उत्पत्ति मानें, तो एक बेर उत्पन्न हुआ घट दूसरी तीसरी बेर पुनः उत्पन्न होवे; यद्यपि नाशकारण है, उत्पत्ति का तोभी उत्पन्न

हुए पदार्थ का ही नाश होसकता है सिद्ध यह हुआ कि नाश से प्रतीत हुआ, कि वस्तु की उत्पत्ति अवश्य होती है, और उत्पत्ति से प्रतीत हुआ, कि वस्तु पहिले असत् (नहीं विद्यमान) थी ४९ ॥

बुद्धिसिद्धन्तुतदसत् ५० ॥

असत् की उत्पत्ति मानें, तो यह नियम न रहे, कि इस कारण से कौनसा कार्य उत्पन्न हो; इस का उत्तर कहते हैं, कि अनुभव करने से स्पष्ट प्रतीत होता है, कार्य असत् (प्रागभाव का प्रतियोगी) है; जैसे इन तन्तुओं से पट उत्पन्न होगा, यह ज्ञान के कुविंद (जुलाहा) कपड़ा बिनने में प्रवृत्त होता है; जो कभी वह (कुविंद) जाने कि इन तन्तुओं में पट वर्तमान है, तो उसे चिकीर्षा (पट उत्पन्न करने की इच्छा) कभी ना होगी; और बिना इस इच्छा के वह (जुलाहा) पट के उपजाने में प्रवृत्त कभी ना होवे; और रेत में यह ज्ञान किसी को नहीं होता, कि इससे तेल उत्पन्न होगा, किन सब को यह ही ज्ञान होता है, कि रेत से तेल कभी नहीं उत्पन्न होगा; और तुम यदि तेल का आश्रय तिलों को ही मानों और रेत को ना मानों, तो तेल के समवायि कारण तिल हैं, रेत नहीं है; इस कार्यकारणभाव के मानने में क्या दोष है ५० ॥

आश्रयव्यतिरेकाद्वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः ५१ ॥

इस पर आशंका करते हैं, कि कार्यकारणभाव भी

हो, तो वृक्ष के फल का दृष्टांत ही नहीं बन सकता पुनः अदृष्ट की सिद्धि कैसे करते हो; वृक्ष के फल का दृष्टांत देना सर्वथा विरुद्ध है; जिस से वृक्ष ही बना रहता है, तो उस में जल देना आदि फलों की कारण सामग्री भी बन सकती है; और कर्म जिस शरीर से किया था वह (देह) वहां ही नष्ट होगया, तो अन्य शरीर में उस (कर्म) का फल मानना सर्वथा असंगत है ५१ ॥ ❁

प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः ५२ ॥

उत्तर यह है, कि प्रीति (अपने शरीर में उत्पन्न सुख) साक्षात् संबंध (समवाय) से आत्मा में ही रहता है; जो आत्मा उत्पत्ति और विनाश से रहित है; इसी में यज्ञ आदि से उत्पन्न अदृष्ट भी रहजाने से कार्यकारणभाव उत्तम बनजाता है; पुनः आश्रय का व्यतिरेक (नाश) हेतु बनाके उक्त कार्यकारणभाव का खंडन करना सर्वथा असंगत है; ५२ ॥ ❁ ❁ ❁

नपुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात् ५३

किसी स्थान में कार्यकारण एक आश्रय में रहें भी परंतु सब स्थान में ऐसा नहीं होसकता; इस अभिप्राय से आशंका करते हैं, कि पुत्र, पशु, स्त्री, वस्त्र, स्वर्ण, और अन्न आदि भी फल मानेगये हैं; जो आत्मा में नहीं रहते, और कारण (अदृष्ट) आत्मा में ही रहता है; इस से भिन्न अधिकरणों में वर्तमान इन पदार्थों का कार्यकारणभाव मानना सर्वथा असंगत है; ५३ ॥ ❁

तत्सम्बन्धात्फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचारः ५४ ॥

यद्यपि इस जन्म में किये यज्ञ आदि के यहां ही पुत्र पशु आदि फल मानने में आश्रय (शरीर) का भेद ना होने से कोई दोष नहीं आता; तौभी जन्मान्तर (अन्यजन्म) के पुत्र आदि की कामना से किये यज्ञआदि में कोई विरोध देते हैं; उस का भी कारण यह है, कि पुत्र आदि के संबंध से सुख आदि फलों की उत्पत्ति होने से पुत्र आदि को भी उपचार (परंपरा) से फल माना है; जैसे वेद में भी प्राणों के साधन अन्न को भी परंपरा से प्राण कहते हैं; "अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः" ५४ ॥ ∴ ∴ ∴

इतिन्यायसूत्रवृत्तिमें फलकीपरीक्षाका प्रकरणसमाप्तहुआ. ॥ ∴ ∴ ∴

विविधबाधनायोगादुःखमेवजन्मोत्पत्तिः ५५ ॥

क्रम से प्राप्त दुःख की परीक्षा करते हैं, उस में पिछले (बाधनालक्षणंदुःखं) सूत्र से दुःखत्व जाति ही दुःखका लक्षण प्रतीत होता है; परंतु शरीर आदि दुःखों में दुःखत्वजाति के ना रहने से इस लक्षण की अव्याप्ति प्रतीत होती है; बहुत प्रकार के दुःखों का योग (संबंध) देखने से शरीर को भी दुःख कह देते हैं; यथार्थ विचार के देखें, तो शरीर दुःखों का कारण है,

दुःख नहीं है, अर्थात् प्राणों के साधन अन्न जैसे गौण रूप से प्राण ही कहे जाते हैं; इसीरीति बहुत दुःखों के साधन शरीर को भी गौण रूप से दुःख कहते हैं; ५५ ॥ ❖ ❖ ❖

नसुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः ५६

इस पर वादी की यह आशंका है, कि शरीर को बहुत दुःखों का साधन मानने से क्या सुख का सामान्य निषेध करते हो, कि शरीर में कभी सुख होता ही नहीं है; परंतु यह कथन सर्वथा असंगत प्रतीत होता है, जिस से अंतराल (बीचबीच) में सुख की भी निष्पत्ति (सिद्धि) देखते हैं; तो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध सुख का सर्वथा निषेध कर के केवल दुःख का ही मानना सर्वथा असंगत है; पुनः शरीर आदि को दुःख मान के दुःखत्व जाति जिस में रहे, उसे दुःख कहते हैं, यह दुःख का लक्षण कैसे किया है ५६ ॥ ❖

बाधनाऽनिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः ५७ ॥

और सुख, दुःख दोनों का संबंध जब तुल्य है, तो यह नियम कैसे हो, कि संसार को दुःख रूप ही जाने और सुख रूप न जानें; इस पर कहा है, कि सुख का साधन जान के मनुष्य जिस कार्य के करने में प्रवृत्त होता है, वहां रक्षा करना, पालन करना आदि बहुत दोष हैं, जिन से अनेक पीड़ा प्राप्त होती हैं, बाधना (पीड़ा) की निवृत्ति नहीं होती, इस से वैराग्य की प्राप्ति के अर्थ-

सारे संसार में दुःख की भावना करने का उपदेश किया है; अर्थात् मध्य मध्य में कहीं सुख का भी अंश प्राप्त हो परंतु उस (सुखके अंश) की प्राप्ति के अर्थ बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं, और वह (सुखका अंश) नाश से पीछे स्मरण होने पर बहुत ही दुःख देता है; तो सिद्ध हुआ, कि वह सुख भी दुःख ही है, इस से सारा संसार दुःख है; ५७ ॥

⁂ ⁂ ⁂

दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च ५८

इस पर यदि कोई आशंका करे, कि दुःख (पीड़ा) का प्रत्यक्ष होने से मनुष्य आपही निवृत्त होजावेंगे पुनः दुःखकी भावना का उपदेश व्यर्थ है; उत्तर यह है, कि दुःखों के साधन हिंसा मैथुन आदि निषिद्ध कर्मों में सुख के अभिमान (भ्रम) से मनुष्यों की प्रवृत्ति ना होवे, इस से सारे जगत में दुःखभावना का उपदेश किया है, जिससे वैराग्य की प्राप्ति सहज में होजावे ५८ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में दुःख की परीक्षा का ५६ वां प्रकरण समाप्त हुआ॰ ॥

⁂ ⁂ ⁂

ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावः ५९

क्रम से प्राप्त अपवर्ग (मुक्ति) की परीक्षा करने के अर्थ आदि में यह आशंका की है; कि मुक्ति के अर्थ योगाभ्यास आदि में प्रवृत्त होने का समय जन्म से मरणान्तक सारे जन्म में कभी नहीं मिलता, इस से मोक्षका होनाहीं सर्वथा असंगत है; ऋण, क्लेश, और प्रवृत्ति, के

अनुबंध (रोकने) से मोक्ष के अर्थ तत्त्वविचार आदि में प्रवृत्त होने का समय न मिलने से मोक्ष नहीं होसकता, यही बात स्पष्ट करके वेद में भी लिखी है; जब कोई मनुष्य उत्पन्न होता है, तो ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण ये तीन ऋण भी साथ ही उत्पन्न होते हैं; और ब्रह्मचर्य (गुरुओं की सेवा, विद्या का अभ्यास) से ऋषियों का ऋण, यज्ञ करने से देवताओं का ऋण, प्रजा (संतति उपजाने) से पितरों का ऋण उतर जाता है; तो सिद्ध हुआ, कि इन तीन ऋणों के उतारने में ही मनुष्यों का सब आयु व्यतीत होता है; क्यों कि यह भी स्पष्ट रूप से वेद में लिखा है; कि अति वृद्ध होजाने से अथवा मरजाने से बिना मनुष्य को अग्निहोत्र, और दर्श (अमावास्या) का श्राद्ध, पूर्णमासी का श्राद्ध कभी त्यागना योग्य नहीं है; स्मृति में भी लिखा है, तीन ऋणों को उतार के पुरुष मन को मोक्ष में लगावे, यदि ऋण न उतारे और मोक्ष की ओर ही प्रवृत्त होजावे; तो नरक (नीचयोनि) की प्राप्ति होती है; इस स्मृति से भी यह ही सिद्ध हुआ, कि ऊपर के तीन ऋण मनुष्य (द्विज) को अवश्य उतारने योग्य हैं; जो जन्म भर में भी उतरने कठिन हैं; इसी रीति रागद्वेष आदि दोषों से संभोग युद्ध, व्यापार, आदि सांसारिक कार्यों में अनेक दुःखों के ही अनुभवों में सुख की भ्रांति से जन्म बीतता है; मोक्ष का कहां अवसर है; और कायिक, वाचनिक, मानसिक कर्मों में ही प्रवृत्त होके आयु बीत

जाता है; जिन कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट (धर्म अधर्म) उस को अन्य शरीर में जा बांधते हैं; सो तू कहां से ले आया ॥

प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवा
दो निन्दाप्रशंसोपपत्तेः ९० ॥

उत्तर यह है, कि उक्त श्रुति में जायमान शब्द मुख्य नहीं, किन्तु गौण है; इसी से अपने मुख्य अर्थ (उत्पन्न होना ही) को त्याग के गौण अर्थ (यज्ञोपवीत धारण करने ही) इस अर्थ का बोध कराता है; क्योंकि कर्म करने की सामर्थ्य और घृत आदि सामग्री जिस के पास हो, उसी मनुष्य का कर्मों में अधिकार होता है; इस से अबोध बालक में सामर्थ्य ही नहीं कि वह अधिकारी हो और मुख्य अर्थ लेने से बड़ा दोष आता है कि जो अभी उत्पन्न नहीं हुए, उन की तो प्राप्ति ही नहीं है; जो उत्पन्न हो चुके हैं, उन में कर्म का ऋण दृष्ट ही है; तो उत्पन्न होते ही इस अर्थ से जायमान विशेषण ने किसी से भी व्यावृत्ति (पृथक्) नहीं की, इस से यह विशेषण व्यर्थ हो जाता है; किन्तु गौण अर्थ (यज्ञोपवीत का समय) ही लेना; यही बात वात्स्यायन जी ने भी अपने भाष्य में स्पष्ट करके लिखी है; कि जायमानः यह शब्द गौण है क्योंकि मुख्य अर्थ लेने से उत्पन्न हुए प्रति बालक का अग्निहोत्र आदि यज्ञ के कर्मों में अधिकार ही नहीं हो सकता; किन्तु गौण अर्थ यज्ञोपवीत के समय से ही यज्ञ आदि में अधिकारी जानना; यज्ञोपवीत धारण करने से ब्रह्मचर्य में

अधिकार होता है; गृहस्थ धारण (विवाहकरने) से अग्निहोत्र आदि यज्ञों में अधिकारहोताहै; वेद में भी कहा है, क्षौम (विवाहके पहरवस्त्र) धारण करके यज्ञ कर्म को करे; इसी रीति ऋण शब्द भी यहां गौण ही है, क्यों कि यहां किसीकादेनानहीं उतारना है; कि ऋण शब्द का मुख्य अर्थ लियाजावे, किंतु ऋण जैसे सिर से अवश्य उतारना योग्य है; इसीरीति विद्याभ्यास, (ब्रह्मचर्य) अग्निहोत्रआदि यज्ञ और पुत्र आदि संतति का उपजाना भी मनुष्य को अवश्य करना योग्य है; इन कर्मों के नकरने से ऋण लेकर ना देने के समान अपयश, पापलगता है; इसअर्थ के जनानेवास्ते गौण ऋण शब्द यहां कहा है; और मोक्ष के अर्थ तत्वविचारआदिमें प्रवृत्त होने का समय भी बहुत मिलता है; ब्रह्मचर्य में पूर्ण विद्याभ्यास करके गृहस्थ में अग्निहोत्रआदि यज्ञ आदि करतेकरते संतति उपजाके आयुके चतुर्थ भागमें वेदवाक्यों सेही सिद्ध होता है, कि जरा (बुढापे) से अग्निहोत्रआदि कर्मों के नकरनेका पाप नहीं होता; तो उस समय तत्वविचार, योगाभ्यास आदिकरनेका अच्छा समय मिलता है; और जरा शब्द से यहां अशक्ति (सामर्थ्यका नाहोना) नहीं लेना, जिस से श्रुति में कहा है, कि रोग आदि से शरीर में सामर्थ्य न रहे, तो समीप में स्थित होके शिष्य हवनकरे; इत्यादि वाक्यों से सामर्थ्य हीन पुरुषकोभीजिस किसी उपाय से कर्मकर्ना आवश्यक है, किंतु आयु के चौथे भाग में स्वतः ही सब कर्मों का अधि

कामनिवृत्त होजाता है; भाष्य में कहा है, कि कामना मन की जब तक निवृत्त नहीं होती तभी तक अधिकार है, कामना निवृत्त होजावे तो कभी कोई अधिकार नहीं है; अर्थात् मोक्षका ही वक्तव्य समान है ६० ॥

अधिकाराच्च विधानं विद्यान्तरवत् ६१ ॥

व्याकरण आदि अन्य विद्याओं की नाईं ब्रह्मचर्य आदि का भी अधिकार (यज्ञोपवीत धारण करने) से ही विधान किया है; इस से बालक की प्राप्ति ही नहीं है, ६१ ॥

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः ६२ ॥

यदि कोई यह आशंका करे, कि कामनाओं की निवृत्ति से काम्य (कामना के साधक) अश्वमेध आदि कर्मों की निवृत्ति होभी जावे; परंतु अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मों की निवृत्ति कैसे होगी, क्योंकि वेद में कहा है, जब तक जीवे तब तक अग्निहोत्र कर्म अवश्य करे; उत्तर यह है, अपने शरीर में अग्नियों के समारोपण (स्थापन) से अपवर्ग (मोक्ष) का निषेध करना योग्य नहीं है; जैसा वेद में कहा है, कि प्राजापत्य नामी यज्ञ करके उस में अपने संपूर्ण वेद के स्वत्व (अधिकार) का दान करके अपने शरीर में अग्नि स्थापन करके भिक्षा संन्यास आश्रम को ग्रहण करे; इसी से वेद में कहा है, कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार देव मार्ग हैं, ६२ ॥

पात्रचयान्तानुपपत्तेश्च फलाभावः क:

जो कोई यह आशंका करे, कि उक्त रीति से अग्नि-

होत्र आदि कर्म मोक्ष को न रोकें, तौभी इन (यज्ञआदि) कर्मों के फल (स्वर्गआदि) मोक्ष तक नहीं जाने देवें; इस का उत्तर यह है, कि ज्ञानी (संन्यासी) को स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति नहीं होती, जिस से संन्यासी के मरने पर पात्रचय कर्म नहीं होता; और जिन के मरने पर पात्रचय कर्म करते हैं, उन्हीं को अग्निहोत्र आदिकर्मों का फल (स्वर्गआदि) मिलता है। पात्रचय कर्म यह है, आग में हवन करने के पात्रों (बर्तनों) को मरे हुए अग्निहोत्री यजमान के अंगों में चय (स्थापन) करना; जैसा वेद में लिखा है, कि घी से भरा हुआ स्रुवा मुख में इत्यादि क्रम से सब पात्र उस (यजमान) के अंगों में चिन दिये जाते हैं; भिक्षु (संन्यासी) तो प्रथम ही प्राजापत्ययज्ञ में सब कर्मों को त्याग देता है, इस से उस का पात्रचय नहीं होता; इसी पात्रचय के ना होने से भिक्षु को यज्ञ आदि का फलभी नहीं मिलता; इस पर यह आशंका है, कि उक्त हेतु से अग्निहोत्रआदि नित्य कर्मों का फल चाभी हो, परंतु अग्निष्टोम, गंगास्नान, हिंसा आदि कर्मों के स्वर्ग नरक आदि फल ही मोक्षके प्रतिबंधक हो जावें; इस का उत्तर करने के अर्थ ही सूत्र में चकार पढ़ा है; इस से सिद्ध हुआ, कि तत्त्वज्ञान प्रारब्ध से इतर कर्मों का नाश करता है; प्रारब्ध कर्मों का तो भोग से ही नाश होता है; श्रुति में भी कहा है, कि ज्ञानवान् मनुष्य पापपुन्य को त्याग के शुद्ध होकर ईश्वर की तुल्यता

को प्राप्त होता है; और तत्वज्ञान (ईश्वरकाप्रत्यक्ष) होने से सब कर्म क्षीण होजाते हैं; स्मृति में भी कहा है, कि ज्ञान अग्नि से सबकर्म भस्म होजाते हैं; इन प्रमाणों से सिद्ध हुआ, कि कामना यदि ना हो, तौ ज्ञानी पुरुष संतति उपजाने से बिनाभी मुक्त होजाता है; वेद में कहा है, कि अंगोंके सहित वेदपढ़े विद्वान प्राचीन ब्राह्मण प्रजा (संतति) की इच्छा ही नहीं करते, कहते हैं, किप्रजा को हमक्या करेंगे; किंतुज्ञानी लोग पुत्र, धन, स्वर्गआदि लोककी सबकामनात्यागके भिक्षारी (संन्यासी) होकर तत्वविचार में अपनी आयुबिताते हैं; कोईयहअर्थसूत्रका करते हैं, मुमुक्षु को जब कोई कामनाहीनहीं है; तोवहकर्मों में प्रवृत्तभी होतो, तोफलकहां से होना था क ॥

सुषुप्तस्यस्वप्नादर्शनेक्लेशाभावादपवर्गः ६३

क्लेश (दुःख) भी नहीं मोक्ष के प्रतिबंधक हो सकते, इसबात को सिद्ध करते हैं; सुषुप्ति (गाढ़निद्रा) के समय जब स्वप्न भी कोई नहीं आता, तो जैसे कारण विषयों के साथ इंद्रियों का संबंध) नाहोने से दुःखकोई नहीं होता; इसीरीति अपवर्ग (मोक्ष) के समय राग (कामना) आदिकारणों के नाहोने से दुःख कोई नहीं होता; ६३ ॥

⁂

नप्रवृत्तिःप्रतिसन्धानायहीनक्लेशस्य ६४ ॥

और प्रवृत्ति (यत्न) भी मोक्ष की प्रतिबंधक नहीं होसक्ती, क्योंकि क्लेशों (रागआदि) के नाश होने पर क्रिया

हुआ यत्न मोक्ष का प्रतिबंधक नहीं होता; अर्थात् मोक्ष के प्रतिबंधक धर्म और अधर्म को उत्पन्न नहीं करता; ६४

न क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् ६५ ।।

इस पर आशंका यह है, कि मोक्ष के समय कोई दुःख नहीं होता, यह कथन सर्वथा असंगत है; क्योंकि सुख, दुःख तो अपने स्वभाव से ही होते रहते हैं, किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखते; कि जिस (कारण) के ना होने से मुक्ति के समय दुःख उत्पन्न होने की न्यूनता होवे; इस से सिद्ध हुआ, कि सदा ही सुख अथवा दुःख स्वभाव से (बिना किसी कारण के) ही प्रगट होते रहते हैं; पुनः जिस समय कोई दुःख ना उत्पन्न हो, ऐसे मोक्ष का मानना ही असंगत प्रतीत होता है ६५

प्रागुत्पत्तेरभावानित्यत्ववत्स्वाभाविकेप्य
नित्यत्वम् ६६ अणुश्यामताऽनित्यत्ववद्वा ६७

कोई एकदेशी दो सूत्रों से उत्तर करता है, कि पदार्थ की उत्पत्ति से प्रथम जैसे प्रागभाव स्वाभाविक (किसी कारण से बिनाही) होता है; पुनः अनित्य (पदार्थ के उत्पन्न होने पर नष्ट होजाता) है; अथवा परमाणु का नीलरूप जैसे स्वाभाविक (अनादि) भी पाक आदि से नष्ट होजाता है, इसीभांति स्वाभाविक (अनादि) भी दुःख अपवर्ग (मोक्ष) के समय जन्म आदि के नाश से नष्ट होजाता है; ६६+६७ ।। ❖

न सङ्कल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् ६८ ।।

अब पूर्वपक्षी और एकदेशी के मत का खंडन करके

सिद्धांत दिखाते हैं; विनाशी (नष्ट होनेवाले) भाव को अनित्य कहें, तो प्रागभाव की प्राप्ति ही नहीं है; परमाणु का नीलरूप अनादि है, इसका खंडन वात्स्यायन भाष्य में लिखा है; कि हेतु (प्रमाण) के ना होने से परमाणु का नीलरूप नित्य (उत्पत्तिसेहीन) मानना सर्वथा असंगत है; सिद्धांत यह है, राग आदि दोष संकल्प (मिथ्याज्ञान) के कार्य हैं; तो तत्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होजाने पर रागआदि दोषों का नाश होना योग्य ही है; जिस (दोषों के नाश) से मोक्ष सहज में ही हो जाता है ६८ ॥

⁂

इति न्यायसूत्रवृत्तिमें मोक्षकी परीक्षाका ५८ वां प्रकरणसमाप्तहुआ ॥

⁂

इति ४र्थ॰ अध्यायका १म॰ आह्निकसमाप्तहुआ॰ ॥

दोषनिमित्तानांतत्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः १ ॥

शास्त्र का मुख्य प्रयोजन मोक्ष है, परंतु इस (मोक्ष) का निरूपण, लक्षण, परीक्षा आदि किये हुए भी व्यर्थ हैं; क्योंकि मोक्ष का कारण तो कहा ही नहीं, यदि कहो कि दुःख जन्म इत्यादि (१ म. अ. के २ य.) सूत्र में कहा ही है, कारणों के नाश से क्रमपूर्वक जो दुःखों का नाश होता है, उसे मोक्ष कहते हैं; तो इस में भी मिथ्याज्ञान के नाश का कारण जो तत्वज्ञान कहा है; उस में यह स्पष्ट कर के नहीं कहा कि तत्व किसका जानना योग्य है; इस लिये तत्वज्ञान की परीक्षा करने के अर्थ यह आह्निक प्रवृत्त हुआ है; इस आह्निक में छे प्रकरण हैं, आदि में तत्वज्ञान की उत्पत्ति का प्रकरण है; और जिस जिस क्रम से आवेंगे, वहां उन के नाम लिखे जावेंगे; इस सूत्र में गौतमजी ने अपना सिद्धांत कहा है, कि दोषों (राग आदि) के निमित्तकारणों (शरीर आदि कों) के तत्वज्ञान (शरीर आदि आत्मा से भिन्न हैं ऐसे यथार्थज्ञान) से अहंकार (मैं शरीर हूं ऐसे मिथ्याज्ञान) की निवृत्ति होती है; क्योंकि शरीर को आत्मा जानने से मनुष्य मोह (भ्रम) को प्राप्त होके किसी से प्रेम और किसी पर क्रोध करता है; कोई लोग इस सूत्र का अर्थ यूं करते हैं, कि दोष नामी निमित्तों (राग आदि कों को) यथार्थरूप से (सब दुःखों के कारण ये ही हैं) जानकर अहंकार (सब कामनाओं) की निवृत्ति होजाती है; अर्थात् आत्मा आदि बारह प्रमेयों

का ही तत्वजानने योग्य है १ ॥ ⁂ ⁂

दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृताः २ ॥

वे कौन से विषय हैं, कि जिन के साथ प्रेम करने से मनुष्य संसार में बंधजाता है; इस विवेक के अर्थ उन विषयों को दिखाते हैं; कि संकल्प (येबड़ेउत्तम हैं ऐसेज्ञान) के विषय रूप आदि पदार्थ ही दोषों (रागआदि) के निमित्त (कारण) हैं; अर्थात् यह स्त्री बड़ी सुंदर है, ऐसा जानने से जीव राग (प्रेम) में बंधजाता है; और यह मेरा शत्रु है, ऐसा जान के जीव द्वेष (क्रोध) में बंधजाता है; इसलिये पहिले रूपआदि विषयों को मन से त्यागना योग्य है, पीछे से शरीर और आत्मा का विवेक (भेदप्रतीत) होता है २ ॥ ⁂

तन्निमित्तन्त्ववयव्यभिमानः ३ ॥

यदि कोई कहे, कि सुंदर रूप आदि को देख के ब्रह्माभी राग (प्रेम) से निवृत्त नहीं होसकता; जैसा गीता में अर्जुन ने श्रीकृष्णजी से कहा है, हे महाराज इंद्रियों को मथनकर्ता, पक्का बलवान् यह मन अतिचंचल है; इसका रोकना अतिकठिन है, इस से रागआदि दोषोंकी निवृत्ति का उपाय दिखाते हैं; युवतीआदि के शरीरोंको सुंदरमानना ही सपरिष्कार बुद्धिराग आदिदोषोंकोकारण है; इसबुद्धिकेत्यागसेहीरागआदिकी निवृत्ति होती है; वात्स्यायनभाष्यमेंभीलिखा है, इन शरीरों को सुंदरजानना सपरिष्कारबुद्धि सर्वथात्यागदेनी योग्य है; अ

शुभसंज्ञा (इनदेहोंकोमलसेभरेदुष्टजानना) सर्वथाग्रहणकरने के योग्य है; परिष्कारवुद्धि (अनुरंजनसंज्ञा) का उदाहरण खेलते खंजन पक्षी के समान नेत्रों, पके विंवफलकेसमान ओठों, स्थूलजंघाओं, कमलकीकलीकेसमानस्तनों, और पूर्णिमा के चंद्रमा से सुंदर मुख से शोभायमान यह स्त्री मुझे प्राप्त होकर कव आनंद देगी; अशुभसंज्ञा का उदाहरण यह है, कि यह स्त्री मांस, लोहू और पाक आदि से भरी चमड़े की वनी पात्री (वर्तन) है; इस (स्त्री) में जो जीव चित्तवृत्ति को लगाता है, वह ही जगत में सव से अधिक पिशाच है; इसीरीति सव शरीरों में अशुभसंज्ञावुद्धि ही करनी योग्य है, और शत्रुओं में भी त्यागदेने के योग्य शुभसंज्ञा वुद्धि यह है; कि यह दुष्टजीव मेरे सव अच्छे कामों में स्वतंत्र होके द्वेष (विरोध) करता है, मैं कुल्हाड़े से इसका गलाकाट के कव सुखी होऊंगा; उन्हीं (शत्रुओं) में ग्रहण करने के योग्य अशुभसंज्ञावुद्धि यह है; कि मांस और अस्थिओं (हड्डियों) से वना हुआ इस (शत्रु) का शरीर मेरा क्या अपराध (विगाड़) कर सकता है, और इस (शरीर) से अन्य कर्त्ता (जीवात्मा) को मैं किसीरीतिभी नहीं काट सकता; सिद्ध यह हुआ, कि जगत के सव पदार्थों में वैराग्य की कारण अशुभसंज्ञा वुद्धि ही करने योग्य है; औरवंधनकी कारण शुभसंज्ञा वुद्धि सर्वथा त्यागदेनेयोग्य है; ३ ॥ इतिन्यायसूत्रवृत्तिकेचौथे अध्याय दूसरे आह्निक में तत्वज्ञानकी उत्पत्ति का ५५

वांप्रकरण हिंदी भाषा में समाप्त हुआ ॥

विद्याविद्याद्वैविध्यात्संशयः ४ ॥

प्रसंगसमाप्ति से अवयवी की सिद्धि का प्रकरण चलाते हैं, वास्तव यह है, कि एक ही शरीर में अशुभसंज्ञा और शुभ संज्ञा बुद्धि होती हैं; पुनः उन में से एक (अशुभसंज्ञा) को ग्रहण करना, और दूसरी (शुभसंज्ञा) को त्यागदेना यह बात सर्वथा युक्ति से बाहर है; इस से प्रतीत होता है, कि एक अवयवी कोई नहीं है; किंतु परमाणुओं के पुंज (समूह) हैं, मोक्ष की इच्छा हो, तो मनुष्य को इन पुंजों की ही भावना करनी योग्य है; यह (पुंजोंकी) भावनाभी भ्रम से ही है, क्योंकि आगे चल के परमाणुओं का भी खंडन करदेना है; बौद्धों के इसमत (पुंजवाद) का खंडन करने के अर्थ यह प्रकरण चला है; यद्यपि दूसरेअध्याय में अवयवी की सिद्धि कर आये हैं, तो [illegible] ना वैभाषिकनामी बौद्धों की अति दृढ़ युक्तियों का खंडन इस प्रकरण में किया है; आदि में अवयवी के होने में यह संशय है, कि विद्या (यथार्थज्ञान), अविद्या (अयथार्थज्ञान) के द्वैविध्य (भेद) से ज्ञानत्व (साधारणधर्म) को लेकर अवयवी के ज्ञान में भ्रमत्व का संशय होने से अवयवी में संशय होता है; कि अवयवी है वा नहीं ॥

४ ॥

न संशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ५ ॥

उत्तर यह है, कि दूसरे अध्याय में कही युक्तिओं से भली भांति अवयवी की सिद्धि होने पर अवयवी में संदेह किसीरीति भी नहीं हो सकता ५ ॥

वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि न संशयः ६

अवयवी के न मानने से संशय भी नहीं होसकता, इसबात को प्रगट करते हैं; कि वृत्ति (जगत में होने) की अनुपपत्ति (असिद्धि) से स्पष्ट प्रतीत होता है, अवयवी का संशय भी नहीं हो सकता; क्यों कि संशय में दोनों विरुद्ध कोटिओं का स्मरण कारण होता है, जो पदार्थ (अवयवी) जगत में है ही नहीं, उसका स्मरण होता और स्मरण से विना उसका संशय होना भी असंगत है; ६ ॥

⁂

कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ७

जगत में अवयवी नहीं हो सकता, इसबात को सिद्ध करते हैं; कि प्रत्येक अवयव में संपूर्ण अवयवी रहता है, अथवा अवयवी का कोई भाग रहता है; अधिक परिमाण के होने से संपूर्ण अवयवी का एक अवयव में रहना असंगत है; अवयवी का कोई भाग रहता है, इस पर भी विकल्प है; कि वह भाग उसी भाग में रहता है, अथवा एक भाग (अवयव) दूसरे भाग (अवयव) में रहता है; अभेद में समवाय के न होने से अपने आप में रह ही नहीं सकता, अवयवों का परस्पर स-

मवाय ना होने से एक अवयव दूसरे अवयव में भी नहीं रह सकता; ७ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

तेषु चावृत्तेरवयव्यभावः ८ ॥

इस रीति अवयवों में संपूर्णरूप से और एकदेश से भी ना रह सकने से सिद्ध हुआ; कि अवयवी जगत में कोई नहीं है, क्योंकि आपने अवयवी अवृत्ति भी नहीं माना; कोई लोग इन्हें (८+९) भाष्यकापाठ कहते हैं; ८ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

पृथक्चावयवेभ्योऽवृत्तेः ९ ॥

इस पर आशंका यह है, कि नैयायिक यदि अवृत्ति अवयवी माने, तोभी नहीं मान सकते क्योंकि अवयवों से पृथक् भी अवयवी कहीं नहीं रहा; और पिछली युक्तिओं से सिद्ध है, अवयवों में भी अवयवी नहीं रहता; अवृत्ति (न रहनेवाले) इस न्याय में नित्य माने हैं, परंतु प्रत्यक्ष उत्पन्न और नष्ट होते पदार्थों को नित्यभी नहीं मान सकते; किंतु यह ही सिद्ध होता है, कि अवयवी नामका कोई पदार्थ जगत में नहीं है; कोई लोग इस सूत्र को यूं लगाते हैं कि संपूर्ण रूप से अथवा एकदेश से अवयवों में अवयवी नहीं रहता, किंतु स्वरूप से ही रहता है; इस पर पूर्वपक्षी का यह कथन है, कि अवयवों से पृथक् अवयवी कोई नहीं है; जिस से कहीं रह नहीं सकता, और अवृत्ति (न रहनेवाला) कोई कार्य नहीं होता; ९ ॥ ⁂ ⁂ ⁂

नचावयव्यवयवाः १० ॥

यदि कोई कहे, कि अवयवी का अवयवों के साथ अभेद (तादात्म्य) संबंध ही हो; इस का उत्तर यह है, कि तंतु पट है, मृत्तिका घट है, खंभा घर है, इत्यादि प्रतीतिओं के ना होने से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि अवयव और अवयवियों का अभेद (ऐक्य) मानना सर्वथा असंगत है; और अभेद मानने से आधाराधेयभाव की सिद्धि करनी भी अति कठिन होती है १

एकस्मिन्भेदाभावाद्भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः ११ ॥

सिद्धांत यह है, कि एकपदार्थ (अवयवी) में यह (संपूर्ण अवयवी अवयवों में रहता है, अथवा अवयवी का एकदेश) प्रश्न ही असंगत है; क्योंकि बहुत पदार्थों के पूर्ण समूह को कृत्स्न (संपूर्ण) और बहुतों में से प्रत्येक को एकदेश कहते हैं; इस से बहुतों के समूह और बहुतों में से प्रत्येक में होने के योग्य कृत्स्न (कृत्स्न एकदेश) शब्दों का प्रयोग एक अवयवी में करना असंगत है; ११ ॥

❖ ❖ ❖

अवयवान्तराभावेऽप्यवृत्तेरहेतुः १२ ॥

इस हेतु से भी सिद्ध होता है, कि अवयवी के होने में संदेह असंगत है; क्यों कि एक अवयव में समवाय संबंध से दूसरा अवयव रहे भी तो अपने (नैयायिक के) अर्थ (अवयवी) की सिद्धि नहीं हुई; किंतु अवयव ही सिद्ध हुआ; कोई यह अर्थ करते हैं, कि अव-

यवी के वर्तमान होने में कृत्स्न (संपूर्ण) और एक देश का विकल्प घटत्व आदि जातियों में भी होने लगेगा, अर्थात् घटत्व आदि जैसे समुदाय और एक देश की अपेक्षा त्याग के स्वरूप से ही रहते हैं; इसी रीति अवयवी भी स्वरूप से ही रहते हैं; १२ ॥ ❖ ॥

केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः १३ ॥

नद संशय इत्यादि ५ वें सूत्र से अवयवी (स्थूलपदार्थ) की सिद्धि से बिना जगत में किसी पदार्थ का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा, इस पीछे कही युक्ति का स्मरण कराया है; सूत्रकर्ता उस आशंका का खंडन करता है; अंधेरे में जैसे एक केश नहीं दीखता और केशों का समूह (जटा) दीख पड़ता है; इसी रीति एक परमाणु का प्रत्यक्ष न भी हो, तौ परमाणुओं के समूह (घट पट आदि) का प्रत्यक्ष होजावेगा; पुनः अवयवी के मानने का क्या प्रयोजन है १३ ॥ ❖ ॥

स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद्विषयग्रहणस्य तथाभावो नाविषये प्रवृत्तिः १४ ॥ ❖ ॥

उत्तर यह है, पटु (तीक्ष्ण) होने से इंद्रिय अपने विषयों को शीघ्र ग्रहण करते हैं; और इंद्रिय मंद हों तौ विलंब से विषयों को ग्रहण करते हैं; परन्तु अतितीक्ष्ण भी चक्षु कभी शब्द को नहीं ग्रहण कर सकता, इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि इंद्रियों की तीक्ष्णता अथवा मंदता

अपने अपने विषयों में ही होती है; इतर विषयों में कभी नहीं होती, और महत् परिमाणके न होने से परमाणु में प्रत्यक्ष की योग्यता ही नहीं है; इस से परमाणु किसी इंद्रिय का विषय नहीं होसकता, जब एक परमाणु चक्षु का विषय नहीं है, तो परमाणुओं का समूह चक्षु का विषय कहां से होगा; अर्थात् परमाणुओं के समूह ही मानें तो घट पट आदि किसी पदार्थ का भी प्रत्यक्ष न होवे; इस से अवयवी अवश्य मानना योग्य है १४

अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात् १५।

पूर्वपक्षी और दोष देता है, कि अवयवी की नाईं अवयवों में भी यह दोष तुल्य ही है; कि वे अवयव अपने अवयवों में संपूर्ण रूप से रहते हैं, अथवा एक देशसे परन्तु इन दोनोंमें से कोई पक्ष भी नहीं बन सकता; जबतक प्रलय (शून्य) न मानाजावे, अर्थात् जगत् के सब पदार्थ शून्य (अभाव) रूप ही हैं, केवल भ्रम से रूप रस आदि की प्रतीति होती है; अभाव रूप मानने पर भी यह दोष है, कि प्रलय से अनंतर समवायि कारण के ना होनेसे सृष्टि की उत्पत्ति ना होवे; अभाव रूपमानने से यह कथन भी संगत होगया, कि अवयवी की सिद्धि ना होने से किसी का भी ग्रहण (प्रत्यक्ष) नहीं होगा; क्योंकि जब वस्तु का अभावही होगया, तो प्रत्यक्ष कहां से होना था १५ ॥ ❀ ॥

न प्रलयोऽणुसद्भावात् १६ ॥ ❀ ॥

उत्तर यह है, कि आश्रय नाश आदि कोई भी परमाणु के

नाश की सामग्री ना मिलने से स्पष्ट प्रतीत होता है; परमाणु का नाश नहीं होता, किंतु परमाणु नित्य है; पुनः सब पदार्थों को शून्य (अभाव) रूप मानना, सर्वथा असंगत है; १६ ॥ ❖ ॥

परंवात्रुटेः १७ ।

परमाणु किसे कहते हैं, इसका उत्तर करते हैं; त्रुटि (त्र्यणुक) से जो पर (अतिसूक्ष्म) वह परमाणु है; अर्थात् त्र्यणुक के अवयव अथवा त्र्यणुक के अवयव (द्व्यणुक) के अवयव को परमाणु कहते हैं। १७ ॥ ❖ ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में अवयवी और अवयवों की सिद्धिका ५५ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥

आकाशव्यतिभेदात्तदनुपपत्तिः १८ ।

सब पदार्थ जब शून्य रूप माने जावें तो परमाणु की संभावना भी नहीं होसकती; इसका उत्तर करने के अर्थ यह निरवयव प्रकरण चला है; आदि में पूर्वपक्षी की आशंका इस सूत्र में कही है, विभु होने से आकाश जब परमाणु के अंदर और बाहर भी रहता है; तो इसी अंदर बाहर के विभाग से प्रतीत होता है, कि परमाणु सावयव (अनित्य) है। १८ ॥ ❖ ॥

आकाशासर्वगतत्वंवा १९ ।

यदि परमाणु के अंदर और बाहर आकाश ना माना जावे तो आकाश सर्वगत (विभु) ना होवे; १९ ॥ ❖ ॥

अन्तर्बहिश्चकार्यद्रव्यस्यकारणान्तरवचनादकार्येतदभावः २० ॥ ❖ ॥

उत्तर यह है, कि अंतर और बहिः शब्द से कार्य द्रव्य (अनित्यद्रव्य) के कारणांतरों (अवयवों) के कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि अवयवों से हीन नित्यद्रव्य (परमाणु) में अंतर और बहिः शब्द का प्रयोग करना सर्वथा असंगत है; २० ॥ ⁂ ॥

सर्वसंयोगशब्दविभवाच्चसर्वगतम् २१ ॥

आकाश में विभुत्व की हानि भी नहीं होगी, इस बात को सिद्ध करते हैं; सब स्थानों में शब्द की उत्पत्ति देखने से शब्द के कारण आकाश संयोग को सब मूर्त्तों में अनुमान प्रमाण से सिद्ध कर सकते हैं; अर्थात् सर्व मूर्त्तसंयोगित्व (सब मूर्त्तों के साथ संयुक्त होने) से आकाश आदि विभु कहाते हैं। २१ ॥ ⁂ ॥

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानिचाकाशधर्माः २२

आकाश यदि विभु (सब मूर्त्तों से संयुक्त) हो तो व्यूहन (फैंके हुए पदार्थ का टक्कर खाके पीछे हटना) और विष्टंभन (आगे जाने से रुक जाना) अवश्य होवे; इस आशंका का उत्तर करते हैं, कि आकाश का किसी के साथ व्यूहन (अभिघात) भी नहीं होता; और आकाश किसी को विष्टंभ (रोक) भी नहीं सकता; क्योंकि अभिघात और रोकना मूर्त्तों का स्वभाव है; आकाश आदि विभुओं में इन (अभिघात और रोकने) को संभावना भी नहीं होसकती यद्यपि ये २ सूत्र शून्यता वादी के मत में नहीं संगति पा सकते, तो भी नैयायिक के मत से कहे जानने। २२ ॥ ⁂ ॥

मूर्त्तिमतांच संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः २३।

एकदेशी (शून्यतावादी) और आशंका करता है; जिन जिन घट पट आदि द्रव्यों की मूर्त्ति (आकृति) है, वे सब सावयव होने से अनित्य ही देखने में आते हैं; इसी रीति परमाणु भी जिससे मूर्त्ति (गोल आकृति) रखते हैं, इसी से अनित्य और सावयव हैं; इस सूत्र में चकार पढ़ने से यह भी जनाया है, कि परमाणु जिस से मूर्त (न्यून परिमाणवाले) हैं, इसी से घट आदि मूर्त्तों की नाईं सावयव हैं; और परमाणु जिस से सावयव हैं, इसी से घट आदि की नाईं अनित्य हैं; अर्थात् परमाणु जब अनित्य हुए तो सब जगत् शून्यरूप ही मानना योग्य है। २३ ॥ * ॥

संयोगोपपत्तेश्च २४ ॥

एकदेशी अपने मत (शून्यता) की सिद्धि में और युक्ति देता है; जिस से परमाणु में संयोग रहता है, इसीसे घट आदि की नाईं परमाणु भी सावयव है; क्योंकि सब संयोग अव्याप्यवृत्ति होते हैं, और जिसका भाव (होना) अभाव (ना होना) एक आश्रय में रहे, उसे अव्याप्यवृत्ति कहते हैं, परन्तु विरुद्ध भाव और अभाव एक आश्रय में अवयवों के भेद से ही रह सकते हैं; अर्थात् अवयवों के भेद से ही संयोग और संयोगाभाव परमाणु में रहेंगे, तभी दो परमाणुओं का संयोग अव्याप्यवृत्ति होसकेगा, तो सिद्ध हुआ, कि परमाणु सावयव (अनित्य) हैं; इसपर नैयायिक यदि कहें

कि अवयवों के संयोग को अव्याप्यवृत्ति बनाने के अर्थ उनके भी अवयव अवयवों के अवयव उनके भी अवयव मानने से अनवस्था दोष लगेगा; शून्यतावादी का यह उत्तर है; कि इसी से परमाणु आकाश आदि के दुष्ट व्यसन को त्याग के केवल शून्यका मानना ही योग्य है २४ ॥ ⁂ ॥

अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः २५ ॥ ⁂ ॥

उत्तर यह है, कि परमाणु को सावयव मानने से अनवस्था दोष लगता है; यदि अनवस्था को भी मानलो तो यह दोष है, कि सुमेरु और सरसों तुल्य होजावें; परमाणु में संयोग और संयोगभाव तो उर्द्ध अधः आदि देशों के भेद से रहता है; पुनः परमाणु में अवयवों की कल्पना सर्वथा असंगत है; और शून्यता का साधक कोई अन्य प्रमाण यदि मानो, तो वह (प्रमाण) ही शून्य से पृथक हुआ; यदि प्रमाण से विना ही शून्यता मानो, तो पूर्णता के मानने में क्या दोष है २५ ॥ ⁂ ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में परमाणु को निरवयव सिद्ध करने का ५६ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ⁂ ॥ ⁂ ॥

बुद्ध्याविवेचनात्तुभावानांयाथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणेपटसद्भावानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः २६ ॥ ⁂ ॥

बाह्य (ज्ञान से भिन्न) पदार्थ ही जगत में कोई नहीं है, तो अवयवी की सिद्धि आप कहां से करते हो, इस मत का

का खंडन करने के अर्थ बाह्य (ज्ञान से भिन्न) अर्थ की सिद्धि का प्रकरण चला है; उसमें सब प्रमेय ज्ञानही हैं, अथवा ज्ञान से भिन्न हैं यह संशय है; आदिमें यह पूर्वपक्षी (ज्ञानवादी) का सूत्र है, बुद्धि के साथ भावों (पदार्थों) का विवेचन (अभेदलिखने) से याथात्म्य (ज्ञान से भेद) की उपलब्धि (सिद्धि) नहीं होसकती; क्योंकि "अयंघटः" यह घट का ज्ञान मुझे हुआ, इत्यादि प्रतीतियों से घट पट आदि पदार्थों का ज्ञान के साथ अभेद ही प्रतीत होता है; इस से सिद्ध हुआ, कि ज्ञान से भिन्न उक्त प्रतीतियों का विषय कोई नहीं; जैसे तंतु पृथक् २ करने से अन्य कोई पट पदार्थ प्रतीत नहीं होता, तंतु भी अपने अवयवों से पृथक् कोई नहीं, इसी रीति विचार के देखें तो उक्त प्रतीतियों से घट पट आदि सब ज्ञान पदार्थ ही हैं; घटत्व आदि भी ज्ञान के ही आकार (आवांतरभेद) हैं २६॥

व्याहतत्वादहेतुः २७॥

उत्तर यह है, उक्त हेतु से घट आदि पदार्थों को ज्ञान रूप सिद्ध करना व्यभिचारदोषसे सर्वथा अयुक्त है, उक्त प्रतीतियों से तंतु और पट को ऐक्य नहिं सिद्ध होसकता क्योंकि तंतु से पट होता है ऐसी ही प्रतीति होती हैं; और ऐसी प्रतीति कभी नही होती, कि तंतुपट है; और प्रावरण (आच्छादन) भी पट सेही होता है, तंतु से नहीं होता; और "अयंघट" इत्यादि प्रतीतियों से ज्ञान का बोध ही नहीं होता, तो ज्ञानके भेदका बोध

कहां से होता था; और अनुव्यवसाय (ज्ञान के ज्ञान) से भी ज्ञान में घट की विषयता प्रतीत होती है; ज्ञान की अथवा अभेद की विषयता कभी नहीं प्रतीत होती २७

तदाश्रयत्वादपृथक्ग्रहणम् २८॥

इस पर आशंका यह है, कि पट यदि तन्तुओं से भिन्न हो तो तन्तुओं से पृथक् पट अवश्य प्रतीत होवे; उत्तर यह है, पट का आश्रय तन्तु उत्पत्ति से लेकर नाशतक पट से विभक्त होके स्थित नहीं हो सकता, किन्तु पट का प्रत्यक्ष होने के समय तन्तुओं के साथ भी इंद्रिय संयोग आदि प्रत्यक्ष की सामग्री रहने से तन्तुओं का प्रत्यक्ष होने में कोई न्यूनता नहीं आती; परन्तु इकट्ठा पट और तन्तुओं का प्रत्यक्ष भी ऐसा होता है, कि तन्तुषु पटः (तन्तुओं में पट है) इसी प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है, कि तन्तु आधार और पट आधेय है; आधार और आधेय भिन्न २ होते ही हैं, इसलिये पट तन्तुओं से भिन्न है; केवल नित्य संबंधी होने से इकट्ठा प्रत्यक्ष होता है। २८ ॥ ❖ ॥

प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः २९।

इस पर आशंका यह है, पट का तन्तुओं के साथ भेद मानों, अथवा अभेद मानों, इन दोनों मतों में ज्ञान पदार्थ तो अवश्य मानना पड़ता है; तो उसी ज्ञान के मानने से ही निर्वाह होजावेगा, पुनः ज्ञान से भिन्न पदार्थों के मानने में क्या प्रमाण है; उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से घट पट आदि पदार्थों की

प्रतिपत्ति (प्रतीति) होती है; तौ प्रमाण से सिद्ध पदार्थों का गौरव दोष से खंडन करना सर्वथा असंगत है; यदि प्रमाण से सिद्ध पदार्थों का गौरव दोष से खंडन किया जावे, तौ बुद्धि पदार्थ के मानने में भी बहुत गौरव है, किंतु लाघव से सब जगत को शून्य रूप मानना ही योग्य है। २९ ॥ ः ॥

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ३०।

बाह्य (ज्ञान से भिन्न) अर्थ का अभाव भी नहीं सिद्ध होसकता; क्योंकि इस (अभाव) की सिद्धि यदि किसी प्रमाण से करो, तौ वह प्रमाण ही बाह्य अर्थ सिद्ध होजावेगा; और यदि प्रमाण से बिना ही उक्त अभाव की सिद्धि करो, तौ अप्रमाणिक पदार्थ (बाह्य अर्थ के अभाव) का मानना सर्वथा असंगत है; और घट आदि पदार्थों का ज्ञान यदि किसी प्रमाण से हुआ है, तौ उसी प्रमाण से घट आदि बाह्य पदार्थ भी सिद्ध होजावेंगे; यदि घट का ज्ञान किसी प्रमाण से भी नहीं होता, तौ प्रमाण से बिना घट आदि पदार्थों को ज्ञान स्वरूप मानना भी सर्वथा युक्ति से विरुद्ध है; ३० ॥

स्वप्नविषयाभिमानवदयंप्रमाणप्रमेयाभिमानः ३१। मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा ३२ ॥

प्रमाण प्रमेय की कल्पना भी यथार्थ नहीं है, किंतु कारण सामग्री की अपेक्षा को त्याग केही केवल संस्कार से स्वप्न के पदार्थों की नाईं अथवा इंद्रजाल के पदार्थों

की नाईं विज्ञान ही प्रगट होते प्रतीत पड़ते हैं; इस अभिप्राय को लेकर दो सूत्रों में आशंका की गई है, कि स्वप्न के पदार्थ, माया के बने गंधर्व नगर, और मृगतृष्णा इन पदार्थों की नाईं प्रमाण प्रमेय आदि पदार्थ अयथार्थ ही हैं। ३१। ३२ ॥

हेत्वभावादसिद्धिः ३३ ॥

उत्तर यह है, हेतु (प्रमाण) के अभाव (न होने) से बाह्य अर्थ का अभाव सिद्ध नहीं होसकता; अथवा हेतु (चक्षु आदि प्रमाणों) के न मानने पर ज्ञान भी नहीं सिद्ध होसकते; वासना (संस्कार) से भी ज्ञान की सिद्धि नहीं कह सकते, क्योंकि वासना नामी बाह्य पदार्थ ही सिद्ध होजावेगा; और जिसके मत में संस्कार अनेक हैं, उसके मत में तत्व भी क्षणभेद से अनेक होजावेंगे; तो गौरव दोष आवेगा। ३३ ॥

स्मृतिसङ्कल्पवच्चस्वप्नविषयाभिमानः ३४

इस पर यदि एकपक्षी (ज्ञानवादी) कहे, कि विना किसी विषय और कारण के स्वप्न के ज्ञान जैसे उत्पन्न होते हैं; इसीरीति अन्य भी सब ज्ञान उत्पन्न होंगे, इसका उत्तर सिद्धांती ने यह किया है; कि जिस पदार्थ का अनुभव हो चुका है, उसी का स्मरण उद्बोधक का संबंध होने पर संस्कार से होता है; इसीरीति स्वप्न में भी अनुभूत पदार्थों का ही ज्ञान होता है; पुनः विषय से विना स्मरण अथवा स्वप्न का मानना सर्वथा असंगत है; इस पर यह आशंका है, कि स्वप्न में मनुष्य

अपने आपको भी खोदेता है, अपना सिर कटा हुआ भी देखता है; परन्तु इन बातों का अनुभव तो प्रथम कभी नहीं हुआ, उत्तर यह है कि अपना, खोने का, अपने सिर का, और काटने का अनुभव तो कईबेर होचुका है; केवल इन पदार्थों का परस्पर संबंध भ्रम से प्रतीत होता है; और स्मृतिका कारण संस्कार और विशिष्ट बुद्धि का कारण विशेषण ज्ञान मानाहै इसलिये कारण से बिना स्मृति अथवा स्वप्नका कथन भी असंगत है; किन्तु किसी दोष से अथवा अदृष्ट से अनुभूत पदार्थों का ही परस्पर संबंध स्वप्नमें भ्रम से प्रतीत होता है। ३४ ॥ * ॥

मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्त्वज्ञानात्स्वप्न
विषयाभिमानप्रणाशवत्प्रतिबोधे ३५

यदि भ्रम का भी यथार्थ विषय मानागया, तो उस (भ्रम) की निवृत्ति कैसे होगी; इसका उत्तर यह है प्रतिबोध (जाग्रत अवस्था) में स्वप्न के विषयों का ज्ञान जैसे निवृत्त होजाता है; इसीरीति तत्त्व (यथार्थ) ज्ञान से मिथ्या (अयथार्थ मृगतृष्णा आदिके) ज्ञान का नाश होजाता है; यथार्थ ज्ञान से भी यद्यपि दर्पण में प्रतिबिंब की निवृत्ति नहीं होती, तो भी उसमें भ्रमत्व का ज्ञान होही जाता है, कि दर्पण में दीखता बिंबमिथ्या है। ३५ ॥ * ॥

बुद्धेश्चैवंनिमित्तसद्भावोपलम्भात्। ३६।

माध्यमिक (बौद्ध) तो बाह्य (ज्ञानसेभिन्न) पदार्थोंका

खंडन करके ज्ञान (बुद्धि) को भी शून्य (अभाव) रूप ही मानता है; इस (बौद्धके) मत का खंडन करने के अर्थ यह सूत्र कहा है, जैसे बाह्य पदार्थ प्रमाण से सिद्ध और अपने अपने कारण के द्वारा उत्पन्न होने से खंडित नहीं होसकते, इसीरीति बुद्धि भी प्रमाण से सिद्ध और अपने कारण के द्वारा उत्पन्न होने से खंडित नहीं होसकती; क्योंकि असत् (अभाव) कभी उपादान कारण से नहीं उत्पन्न होता, और यदि बुद्धि की उत्पत्ति भी उपादान कारण से विना ही मानी जावे, तौ यह नियम न रहे, कि बुद्धि कभी उत्पन्न हो, और कभी न हो; किन्तु सदा ही बुद्धि उत्पन्न होती रहे, अथवा कभी न उत्पन्न होवे; कोई (आचार्य) इस सूत्र को यूं लगाते हैं, और कहते हैं कि भ्रम का भी यदि कोई विषय माना जावे, तौ भ्रम को भी यथार्थ ज्ञान ही कहो; उत्तर यह है कि रज्जु और सर्प दोनों सत्य भी हैं, तौ भी रज्जु में सर्प का अभेद अथवा संबंध न रहने से विशेष्य में विशेषण प्रमात्व का निमित्त नहीं रहा; इससे रज्जु में सर्पत्व का ज्ञान भ्रम ही है; इस सूत्र में उपलंभ पद व्यर्थ जानना। ३५

तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्यो
पपत्तिः । २८ ॥

भ्रमका दृष्टान्त देके सब बुद्धियों का विषय अभाव ही मानों, अथवा कोई विषय न मानों, तौ यह भी असंगत है, क्योंकि "रज्जौ सर्पः" इस भ्रम में भी विशेष्य (रज्जु) को यथार्थ और विशेषण (सर्पत्व) को अ

यथार्थ ज्ञान भी मानने ही हो; पुनः इसी दृष्टान्त से प्रमाण के सब विषय अयथार्थ मानने सर्वथा असंगत हैं; कोई यूं कहते हैं, जिस ज्ञान के विशेष्य में विशेषण रहे वह प्रमा और जिसके विशेष्य में विशेषण न रहे, वह भ्रम है; इस रीति विषय के भेद से कोई विरोध नहीं आता। ३७ ॥ ❀ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में ज्ञान से भिन्न पदार्थों की सिद्धिका ५ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❀ ॥ ❀ ॥

समाधिविशेषाभ्यासात्। ३८ ॥

यदि कोई आशंका करे, कि शास्त्र से उत्पन्न तत्वज्ञान दो क्षणों तक ही रहता है; तो तत्वज्ञान के नाश से पीछे तीसरे क्षण में पुनः मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होजावेगा; और ऐसा कोई तत्व ज्ञान नहीं है, जो मिथ्या ज्ञान के साथही अति दृढ सनातन संस्कार का भी नाश कर देवे; इसलिये तत्वज्ञान की वृद्धि का प्रकरण चला है, तत्वज्ञान की वृद्धि (वासना) से मिथ्या ज्ञान का बीज (संस्कार) के साथ ही नाश होजाता है; आदि में तत्वज्ञान की वृद्धि (संस्कार) का हेतु (कारण) कहा है; समाधि विशेष (अन्य विषयों से निवृत्त करके चित्त को वांछित विषय परमात्मा में स्थिर करने) के अभ्यास (वारंवार प्रवृत्ति) से तत्वज्ञान की वृद्धि (वासना) उत्पन्न होती है; जिसे निदिध्यासन भी कहते हैं, इस (तत्वज्ञान की वासना) से संस्कार सहित मिथ्या ज्ञान का नाश होजाता है; जैसा कि

योगसूत्र में भी कहा है, कि तत्त्वज्ञान का संस्कार अन्यसंस्कारों का नाश कर देता है, अथवा अन्य संस्कारों को निष्फल कर देता है। ३८ ॥

नार्थविशेषप्राबल्यात्। ३९॥

क्षुदादिभिःप्रवर्त्तनाच्च। ४०॥

पुनः दो सूत्रों से पूर्वपक्षी ने आशंका की है, अर्थविशेष (स्त्रीपुत्र आदि से प्रेम) के प्राबल्य (चिरकाल की प्रवृत्ति) से और क्षुधा, तृषा, भय आदि के प्रतिबंध से मनुष्य तत्त्वज्ञान में प्रवृत्त ही नहीं होसकेगा; किन्तु इन (क्षुधा आदि) के शांत करने में ही जन्मभर बंधा रहने से तत्त्वज्ञान के अर्थ शास्त्र आदि के विचार और समाधि में प्रवृत्त होनेका अवसर ही नहीं मिलता; किन्तु तत्त्वज्ञान से मोक्ष की कल्पना मनोराज्य की नाईं केवल भ्रम है। ३९। ४० ॥

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः। ४१॥

उत्तर यह है पूर्व (पिछले जन्म में) कृत (किये) फल (अभ्यास से उत्पन्न संस्कार) के अनुबंध (संबंध) से समाधि की उत्पत्ति (सिद्धि) होती है, इसीसे अनेक जन्मों की सिद्धि से पुरुष परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होता है, यह गीता का कथन भी संगत होजाता है; वृत्तिकार (विश्वनाथ पंचानन) इस सूत्र को यूं लगाते हैं, पूर्वकृत (पिछले जन्म में किये ईश्वराराधन) के फल (पुण्य विशेष) के संबंध से समाधि की सिद्धि होती है; जैसा कि योगसूत्र में भी लिखा है, कि ईश्वर में चित्त की

स्थिति से समाधि की सिद्धि होती है; योगसूत्र में यह भी लिखा है, कि ईश्वर में चित्त की स्थिति से आप ही चित्त विषयों से निवृत्त होजाता है; और विघ्न सब भी निवृत्त होजाते हैं । ५१ ॥ * ॥

अरण्यगुहापुलिनादिषुयोगा
भ्यासोपदेशः । ५२ ॥ * ॥

योगाभ्यास करने के योग्य स्थान सूत्रकार ने दिखाये हैं; अरण्य (निर्जनवन) गुहा (पर्वतकी कंदरा) पुलिन (नदीकातीर) इत्यादि चित्त की स्थिति के हेतु एकांतस्थानों में समाधि का अभ्यास करना योग्य है, कोई लोग इसे भाष्य ही कहते हैं । ५२ ॥

अपवर्गेप्येवंप्रसङ्गः । ५३ ॥

इसपर नास्तिक की यह आशंका है, कि इसी रीति अभ्यास की प्रबलता से मोक्ष से अनंतर भी ईश्वर आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष होनेलगे; । ५३ ॥

ननिमित्तावश्यंभावित्वात् । ५४ ॥

उत्तर यह है; कि ज्ञान के अवश्यंभावि (कारण) निमित्त (शरीर इंद्रिय आदि) के ना होने से मोक्ष के समय कोई भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होसकता; अर्थात् शरीर आदि कारण सामग्री के नहोने से मोक्ष दशा में ज्ञान आदि की उत्पत्ति कभी नहीं होसकती । ५४ ॥

तदभावश्चापवर्गे । ५५ ॥

ज्ञानके कारण धर्म और अधर्म के ना होने से मोक्षके समय शरीर नहीं होसकता, और शरीरकेबिना ज्ञानन;

हीं होसकता; । ४५ ॥

तदर्थंयमनियमाभ्यामात्मसंस्कारोयोगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः। ४६॥

यदि कोई आशंका करे, कि केवल समाधि से ही विघ्नों का नाश और मोक्ष की प्राप्ति होती है; अथवा किसी अन्य सामग्री की अपेक्षा भी पड़ती है; इस का उत्तर कहते हैं, अथवा समाधि की कारण सामग्री दिखाते हैं; समाधि अथवा मोक्ष के अर्थ योगशास्त्र में कहे यम, नियम और (ईश्वर का प्रत्यक्ष कराने के हेतु) उपायों से आत्मा (अंतःकरण) का संस्कार (शुद्धि) करना योग्य है; पातंजल सूत्र में यम आदि कहे हैं, अहिंसा (जीवहिंसाका त्याग) सत्य (झूठकात्याग), अस्तेय (चोरीकात्याग), ब्रह्मचर्य्य (मैथुनकात्याग), और अपरिग्रह (गृहस्थ आदि भोग साधनोंकात्याग) ये पांच यम हैं; शौच (शरीर और अंतःकरण की शुद्धि), संतोष (जो कुछ मिले उसी पर धैर्य), तप (शास्त्रमें कहे चांद्रायणआदि व्रत) स्वाध्याय (प्रणव आदि मंत्रोंका जप) और ईश्वरप्रणिधान (कामना सब त्याग के सब कर्मों का ईश्वर में अर्पण) ये पांच नियम हैं; कोई आचार्य निषिद्ध कर्मों के त्याग को यम और वेद में कहे धर्मों के ग्रहण को नियम कहते हैं; आत्मा (अंतःकरण) का संस्कार मोक्ष प्राप्ति की योग्यता है, जैसा कि योगसूत्र में कहा है, योग के अंगों (यम नियम आदि) को अनुष्ठान (ग्रहण) करने से अंतःकरण की अशुद्धि (अज्ञान) नाश

होजाने से मोक्ष के कारण तत्त्वज्ञानतक ज्ञानका प्रकाश होता है, अविद्या (अज्ञान) के नाश से प्रथम वह (ज्ञानका) प्रकाश कभी नहीं होसकता। पातंजलसूत्र में समाधि के अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये आठ कहे हैं; यम और नियम तो विस्तार करके पीछे दिखा दिये हैं, पद्मासन, कुशासन आदि आसन भी योगशास्त्र में लिखे हैं; आसन के स्थिर होने पर प्राणवायु को शरीर के अंदर जाने और बाहर आनेसे रोकना प्राणायाम पातंजल में कहा है; घ्राण आदि बाहर की इंद्रियों को गंध आदि विषयों से निवृत्त करना प्रत्याहार कहा है; बाह्य विषयों से निवृत्त करके नाभिचक्र आदि देशों (स्थानों) में चित्त को स्थिर करना धारणा कही है; इसी धारणा के निरंतर प्रवाह को ध्यान कहते हैं; उसी ध्यान में जब केवल अर्थ (परमात्मा) ही प्रतीत हो, और अर्थ के धर्म अथवा ज्ञान का स्वरूप ना प्रतीत होवे, तो उसे समाधि कहते हैं, इन आठ अंगों में से धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन योग के मुख्य (साक्षात् सहायक) अंग हैं, ये सब पदार्थ विस्तार से पातंजल शास्त्र में लिखे हैं। ४६॥

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्चसह
सम्वादः। ४७ ॥

इसपर आशंका यह है, समाधि से जब मोक्ष की प्राप्ति कही, तो न्यायशास्त्र का पढ़ना व्यर्थ हुआ;

उत्तर यह है मोक्ष की प्राप्ति के अर्थ तत्वज्ञान के कारण न्याय शास्त्र का अध्ययन और मनन करके संस्कार को दृढ़ करना; और अपने अनुभव को दृढ़ करने के अर्थ वाद (तत्व निर्णय की कारण) कथा की रीति से पातंजल पढ़े विद्वानों के साथ विचार करना; योग के अंगोंका जानना इसमें आवश्यक नहीं प्रतीत होता, और न्याय में कहे ध्येय (ध्यान के योग्य) परमात्मा के स्वरूप से योग में स्वरूप का बहुत अंतर है; किन्तु परस्पर अपेक्षा मात्र होने से कार्य कोई नहीं होसकता। ४७ ॥ २ ॥

तंशिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्ट
श्रेयोऽर्थिभिरनसूयिभिरभ्युपेयात्। ४८

संवाद (विचार) की रीति दिखाते हैं; निंदा, स्तुति, और जीतने की इच्छा से रहित, मोक्ष की कामनासे युक्त, तत्वज्ञान में निपुण, गुरु, शिष्य और सपाठियों से मिलकर विद्वानों के साथ संवाद (विचार) करना योग्य है;। ४८ ॥ २ ॥

प्रतिपक्षहीनमपिवाप्रयोजनार्थ
मर्थित्वे। ४९ ॥

और केवल तत्व निश्चय की कामना से प्रतिपक्ष (परस्पर विरुद्धपक्ष) का हठ जिस रीति ना हो, ऐसे तत्व के निश्चय तक विचार करना योग्य है; वात्स्यायन जी ने भी अपने भाष्य में लिखा है, कि अपने पक्ष का हठ त्याग के पुरुष अपने दर्शन (ज्ञान)

का शोधन करे; क्योंकि जय पराजय की इच्छा को त्याग के केवल तत्त्वनिर्णय की कामना से जब विचार हुआ, तो पक्षपात की सम्भावना ही नहीं हो सकती; जिससे जीतने की इच्छा ही पक्षपात को उठाती है । ४९

इति न्यायसूत्रवृत्ति में तत्त्वज्ञान की वृद्धि (भावना नामी संस्कार की उत्पत्ति) का ५८ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❀ ॥

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थंजल्पवितण्डेबीजप्ररोहसंरक्षणार्थंकण्टकशाखावरणवत् । ५० ॥ ❀ ॥

विद्वानों में वेद के संवाद के द्वारा पदार्थों का निश्चय करना, इस कथन से वेद-विरुद्ध मतों के अभ्यासी नास्तिक आदि से संवाद का भ्रम न होवे; इसलिये तत्त्वज्ञान की रक्षा का प्रकरण चला है; तत्त्वनिर्णय की रक्षा (वादी के दूषणों का उद्धार करके अप्रमान की शंका दूर करने) के अर्थ जल्प और वितण्डा रूप कहते हैं; जैसे बोये हुए बीजों के प्ररोहों (अंकुरों) की रक्षा के अर्थ खेत को कांटों की शाखाओं से आवरण कर (ढांप) देते हैं; । ५० ॥ ❀ ॥

ताभ्यांविगृह्यकथनम् । ५१ ॥

इन (जल्प-और वितण्डा) से क्या सिद्ध होगा इसलिये कहा है; वेद विरुद्ध मतों के अभ्यास से अतिमंद ज्ञान में निपुण नास्तिक आदि यदि अपने (न्याय के) मत पर आक्षेप (आशंका) करें; तो जल्प और

वितंडा के क्रम से नास्तिक के आक्षेपों का खंडन करना; यदि कोई वैदिक विद्वान आक्षेप करे; तो वाद की रीति से भी उद्धार करने का कोई दोष नहीं है; सिद्धांत यह जानना, कि ज्ञानी पुरुष को नास्तिक अथवा आस्तिक से विवाद करने की और शास्त्र का पालन (वादियों से रक्षा) करने की कुछ अपेक्षा नहीं है; क्योंकि इन की रक्षा से विना शास्त्र का नाश नहीं हो सकता, किन्तु यह तात्पर्य है, कि ज्ञानी पुरुष शास्त्र का अभ्यास अवश्य करे; क ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में तत्व ज्ञान की रक्षा का ५९ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में ४ थे अध्याय का २ य आह्निक समाप्त हुआ ॥ ∴ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में ४ थे अध्याय समाप्त हुआ

५ वां अध्याय

अथ अवतरणिका

नत्वा शङ्करचरणं
शरणं दीनस्य दुर्गमतरणम्।
सम्प्रति निरूपयामः!
पञ्चममध्यायमतिगहनम्। १

दुस्तर संसार समुद्र में तरने के साधन, दीन जनों के शरण, शंकर (महादेव) के चरण पर सीस नवा के अब अतिकठिन पांचवें अध्याय का निरूपण करते हैं; । १ ॥ जाति और निग्रहस्थान का सामान्य निरूपण, लक्षण दिखा के पीछे सूत्रकार ने कहा है; इन (जाति और निग्रहस्थानों) के आवांतर भेद बहुत हैं, परन्तु शिष्यों की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) के अनुसार प्रमाण आदि पदार्थों की परीक्षा के प्रतिबंध (रोकने) से ये भेद दिखाये नहीं गये; अब उनके दिखाने का अवसर आने से जातियों की परीक्षा, जाति और निग्रहस्थानों के विशेष लक्षण इस ५ वें अध्याय का प्रयोजन है; जातियों की परीक्षा और जातियों के विशेष लक्षण १ म आह्निक का प्रयोजन है; इस आह्निक में सतारह प्रकरण हैं, आदि में सत्प्रतिपक्ष देशनाभासा (मिथ्या विरुद्ध पक्ष के प्रयोग) का प्रकरण है; और प्रकरण जहां जहां आवेंगे, उनके नाम वहां ही दिखाये जावेंगे; अब जातियों के विशेष लक्षण करने के अर्थ जातियों के विशेष (आवांतर) भेद

दिखाये हैं। यह पांचवें अध्याय की अवतरणिका है॥

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्य्यसमाः। १॥

इस सूत्र में साधर्म्य से लेकर कार्य तक पदों का द्वन्द्व समास करके द्वन्द्व के अन्त में प्राप्त समा शब्द के साथ प्रत्येक पद का अन्वय करने से साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा, उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा, साध्यसमा, प्राप्तिसमा, अप्राप्तिसमा, प्रसंगसमा, प्रतिदृष्टान्तसमा, अनुत्पत्तिसमा, संशयसमा, प्रकरणसमा, हेतुसमा, अर्थापत्तिसमा, अविशेषसमा, उपपत्तिसमा, उपलब्धिसमा, अनुपलब्धिसमा, नित्यसमा, अनित्यसमा, और कार्यसमा, ये चौबीस प्रकार की जाति कही है; भाष्य और वार्तिककार ने इस सूत्र में समा शब्द स्त्रीलिंग ही माना है, आगे के अन्य सूत्रों में समौ इत्यादि प्रयोग देखने से पुलिंग समशब्द के होने में किसी का कुछ विवाद नहीं हो सकता; इस (समशब्द) के साथ यद्यपि विशेष्य जाति शब्द का अन्वय नहीं होसकता, तौभी पुलिंग प्रतिषेध शब्दको विशेष्यमानके समशब्द के साथ अन्वय होजावेगा, यह उत्तर भाष्य और वार्तिक में लिखा है; वृत्तिकार का यह उत्तर है, कि नहिकल्पाज्जाति निग्रह

स्थान बद्धने इस सूत्र की संमति से विकल्प को विशेष्य मान के साधर्म्यसम आदि चौबीस जाति के विकल्प (विशेषभेद) हैं; इसीरीति अन्य सूत्रों में भी निर्वेद करना, और यदि जाति को विशेष्य मानें तौ साधर्म्यसमा भी कह सकते हैं; यद्यपि सद्धेतु में व्याप्ति अधिक होती है, तौ भी साधर्म्य (साधारणधर्म) दोनें में एकसा है, ऐसी तुल्यता जताने के अर्थ सम शब्द दिया है । १ ॥

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्म
विपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ २।

साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम का लक्षण इस सूत्र में किया है, साधर्म्य (अन्वयव्याप्ति) से अथवा वैधर्म्य (व्यतिरेकव्याप्ति) से जब वादी ने साध्य का उपसंहार (साधन) किया, तब व्याप्ति की अपेक्षा त्याग के केवल साधर्म्य (साधारणधर्म) अथवा वैधर्म्य (विरुद्धधर्म) से साध्य के विपर्यय (अभाव) की उपपत्ति (सिद्धि) से प्रतिवादी के देने में साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम नामी जाति दोष लगते हैं; अर्थात् व्याप्ति की अपेक्षा त्याग के केवल साधर्म्य से साध्याभाव की आपत्ति देनी, साधर्म्यसमा और व्याप्ति की अपेक्षा त्याग के केवल वैधर्म्य से साध्याभाव की आपत्ति देनी, वैधर्म्यसमा जाति कहाती है; साधर्म्यसमा का उदाहरण यह है, किसीने कहा घट आदि कार्यों की नाईं शब्द भी क्रिया से कार्य है, इससे अनित्य है, इस

पर प्रतिवादी ने दोष दिया, अनित्य घट के साधर्म्य (साधारणधर्म) कार्यत्व से यदि शब्द में अनित्य की सिद्धि करो; तो नित्य आकाश के साधर्म्य (साधारणधर्म) अमूर्त्तत्व (न्यूनपरिमाण के अभाव) से शब्द में नित्यत्व ही क्यों ना सिद्ध होजावे; अथवा कुछ विशेष निवेश करो, वैधर्म्य-सम का उदाहरण यह है, किसी ने कहा आकाश आदि नित्य पदार्थों का वैधर्म्य (विरुद्धधर्म) कार्यत्व शब्द में रहने से अनित्य होता है; कि शब्द आकाश आदि नित्यों से विरुद्ध (अनित्य) है, इस पर प्रतिवादी का यह कथन है कि नित्य आकाश के वैधर्म्य (कार्यत्व) से यदि शब्द अनित्य माना जावे; तो अनित्य घट के वैधर्म्य (अमूर्त्तत्व) से शब्द नित्य ही क्यों ना माना जावे; नहीं तो कुछ विशेष निवेश करो। इस में प्रतिवादी का यह तात्पर्य है, कि केवल साधर्म्य (साधारणधर्म) अथवा वैधर्म्य (विरुद्धधर्म) से ही पदार्थ की सिद्धि होती है; इन (साधर्म्यसमा और वैधर्म्यसमा) दोनों को सत्प्रतिपक्ष देशनाभास (मिथ्या विरुद्ध पक्ष का प्रयोग) भी कहते हैं; और वार्त्तिककार इन दोनों को अनैकान्तिक देशनाभास (अयथार्थ व्यभिचार का प्रयोग) कहता है; इनों ने यौगिक अर्थ से अनैकान्तिक पद का अर्थ सत्प्रतिपक्ष ही माना है, क्योंकि ये न तो नियम से साध्य की सिद्धि कर सकेंगे और न साध्याभाव की सिद्धि कर सकें। २।

गोत्वाद्गोसिद्धिवत्तत्सिद्धिः । ३॥

अब इन दोनों का समाधान (उत्तर) उत्तर बनाने में बीज दिखाते हैं; गोत्व जाति जिसमें रहे उसमें जैसे गो शब्द का प्रयोग होता है, इसीरीति कार्यत्व हेतु से शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि होती है, यह संप्रदाय वेत्ताओं का सिद्धांत है, सूत्रकार का यह आशय है, गोत्व (गो से इतर में जो न रहे और गो में जो रहे, ऐसे सास्ना आदि धर्म) से तादात्म्य (अभेद संबंध) से गो की अथवा समवाय संबंध से गोत्व जाति की सिद्धि जैसे होती है; इसी रीति कार्यत्व हेतु से अनित्यत्व की सिद्धि होती है; अर्थात् व्याप्ति पक्षधर्मता सहित हेतु से ही साध्य की सिद्धि होती है, और व्याप्ति पक्षधर्मता रहित हेतु (साधर्म्य) से साध्य की सिद्धि अथवा इतर (यथार्थ) पक्ष का खंडन भी नहीं होसकता; नहीं तो दोष देनें में असमर्थ के साधर्म्य (प्रमेयत्व) से समाधान कथन भी दोष न देसके यह ही विशेष निवेश है। ३॥

इति न्यायसूत्र वृत्ति में सत्प्रतिपक्ष प्रयोगाभास का ९० वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः । ४ ॥

क्रम से यान उत्कर्षसम, अपकर्षसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम और साध्यसम, इन छे जातियों का वर्णन इस प्रकरण में करते हैं; उत्कर्ष (आवि

द्यमान धर्म के आरोप) के साथ सम (साध्यवृद्धि की तुल्यता) को उत्कर्षसम और अपकर्ष (वर्त्तमान धर्म की निवृत्ति) के साथ सम को अपकर्षसम कहते हैं; वर्ण्यत्व (साध्यसंदेह) के साथ सम को वर्ण्यसम और अवर्ण्य (साध्यसंदेहाभाव) के साथ सम को अवर्ण्यसम कहते हैं; विकल्प (व्यभिचार और व्याप्ति) की समता से विकल्पसम और साध्य (प्रतिज्ञा आदि पांच अवयवों से सिद्ध करने के योग्य) के साथ हेतु आदि की समता से साध्यसम होता है; साध्य (पक्ष) से आदि की पांच जातियां प्रगट होती हैं; साध्य और हेतु दोनों में पांच अवयवों से सिद्ध करने की योग्यता हो, तो छठी जाति प्रगट होती है; अर्थात् व्याप्ति की अपेक्षा त्याग के पक्ष और दृष्टांतों में से किसी एक में साध्य के अथवा हेतु के होने से अविद्यमान धर्म की आपत्ति देनी, उत्कर्षसम जाति होती है; जैसे किसी ने कहा, घट आदि की नाईं कार्य होने से शब्द अनित्य है; इस पर जातिवादी ने कहा, कि तुमारे साध्य (अनित्यत्व) और हेतु (कार्यत्व) दोनों ही रूप के साथ एक अधिकरण (घट) में रहते हैं; इसलिये सहवासी अनित्यत्व और कार्यत्व के रहने से शब्द में रूप भी अवश्य रहे; वक्ता की इच्छा (अनित्यत्व सिद्ध करने की इच्छा) से विरुद्ध (रूप) की सिद्धि करने से यह विशेष विरुद्ध हेतु है; इससे उत्कर्षसम जाति को विरुद्ध हेत्वाभास (मिथ्या विरुद्ध हेतु का प्रयोग) कहते हैं; इसीरीति

यह भी उत्कर्षसमा का उदाहरण है, कि शब्द का साधर्म्य (साधारणधर्म) कार्यत्व घट में भी रहने से शब्द की नाईं घट का भी श्रोत्र इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होवे; सिद्धांत यह है कि श्रोत्र से घट के प्रत्यक्ष की आपत्ति देनी, अर्थान्तर नामी निग्रहस्थान में आजावेगी; इस से उत्कर्षसमा के लक्षण में दृष्टांतपद और साध्यपद नहीं देना; अपकर्षसमा में जो साध्य सहचारी धर्म के विकल्प (न होने) से साध्य अथवा हेतु के अभाव की आपत्ति दीजाती है; व्याप्ति की अपेक्षा त्याग के किसी एक सहचारी धर्म के न होने से पक्ष में अथवा दृष्टांत में साध्य और हेतु इन दोनों में से किसी एक के अभाव की आपत्ति देनी अपकर्षसमा कहाती है; जैसे किसी ने कहा घट आदि अनित्य कार्यों की नाईं शब्द भी कार्य होने से अनित्य है; इस पर जातिवादी ने कहा; यदि अनित्य घट के साधर्म्य कार्यत्व से शब्द अनित्य माना जावे; तो कार्यत्व और अनित्यत्व के सहचारी घट के साधर्म्य रूप की आहृति (न रहने) से शब्द में कार्यत्व और अनित्यत्व भी न रहे; आदि में स्वरूपासिद्धि देशना (मिथ्यास्वरूपासिद्धि) और अंत में बाध देशना (मिथ्याबाध) का प्रयोग जानना; इसीरीति शब्द में कार्यत्व के सहचारी श्रावणत्व (श्रोत्रजन्य प्रत्यक्ष की विषयता) का अभाव रहने से, संयोग में अनित्यत्व और कार्यत्व के सहचारी गुणत्व का अभाव रहने से घट में अनित्यत्व और कार्यत्व का अभाव भी अवश्य रहे; दृष्टां-

न में साध्य और हेतु के अभाव की आपत्ति देने से बाधाभास अथवा असिद्धाभास यह भी जानना; और जो कोई अपकर्षसमा का यह उदाहरण देते हैं, कि जिससे शब्द में रूप नहीं है, इसीसे घट में रूप ना रहे; परंतु इसमें रूपाभाव की आपत्ति देनी अर्थान्तर नामी निग्रहस्थान में आजाने से यह उदाहरण योग्य नहीं है; और जो कोई वैधर्म्यसमा को भी अपकर्षसमा में मिलाते हैं, वह भी असंगत जानना; क्योंकि वैधर्म्यसमा में तो विरुद्ध धर्म के द्वारा साध्याभाव की आपत्ति देते हैं, और अपकर्षसमा में सहचरित धर्म के अभाव से साध्याभाव की अथवा हेत्वभाव की आपत्ति देते हैं; इस दूषकताबीज के भेद से भेद जानना, वर्ण्यसमा में साध्य (जिसमें साध्य का निश्चय ना हो, अथवा जिसमें साध्य का संदेह हो ऐसे पक्ष) के धर्म (साध्य संदेह युक्त पक्ष में वर्तमान हेतु) के विकल्प (होने) से दृष्टांत में भी साध्य के संदेह की आपत्ति देते हैं; अर्थात् पक्षमें वर्तमान हेतु ही गमक (अनुमिति का कारण) होता है, परन्तु पक्ष में साध्य का संदेह होता है; और पक्ष (साध्यसंदेहयुक्त) में वर्तमान हेतु तुम्हें दृष्टांत में भी अवश्य मानना पड़ेगा; अर्थात् हेतु के आश्रय पक्षकी नाईं हेतु के आश्रय दृष्टांत में भी साध्य का संदेह होने से दृष्टांत भी एक पक्ष ही होजावेगा; सपक्ष (निश्चित साध्यवान्) कोई ना मिलने से सपक्ष वृत्ति का निश्चय ना होने पर यह हेतु असाधारण होजावेगा, इस

(वर्ण्यसमा) को असाधारण हेत्वाभास (मिथ्या असाधारण का प्रयोग) कहते हैं; और यदि पक्षवृत्ति हेतु दृष्टांत में ना माना जावे, तौ दृष्टांत (सपक्ष) में हेतु का अभाव रहने से स्वरूपासिद्धि दोष लगेगा, यह जातिवादी का अभिप्राय जानना; अवर्ण्यसमा में तो निश्चय से साध्य के आश्रय दृष्टांत में वर्त्तमान हेतु के रहने से पक्ष में भी साध्य के निश्चय की आपत्ति दी जाती है; इस में जातिवादी का यह अभिप्राय है, कि जैसा हेतु दृष्टांत में है, वैसा ही हेतु यदि पक्ष में रहै, तौ अनुमिति का कारण होता है; इस से दृष्टांत में जब साध्य निश्चय के साथ हेतु वर्त्तमान है, तौ पक्ष में भी हेतु के साथ साध्य का निश्चय अवश्य होना योग्य है; और हेतु यदि पक्ष में ना माना जावे, तौ पक्ष में हेतु का अभाव रहने से स्वरूपासिद्धि दोष लगेगा; इस से वह (साध्य के निश्चय का सहचारी) हेतु पक्ष में अवश्य मानना पड़ेगा; इसलिये पक्ष (साध्यसंदेह का स्थान) कोई ना मिलने से पक्षासिद्धि दोष लगेगा; अर्थात् अवर्ण्यसमा को असिद्ध हेत्वाभास (मिथ्या आश्रयासिद्धि का प्रयोग) कहते हैं; विकल्पसमा में तो पक्ष और दृष्टांत में वर्त्तमान धर्म का विकल्प (व्यभिचार) दे के अथवा किसी अन्य धर्म का व्यभिचार दे के दोष देते हैं, व्यभिचार भी हेतु का किसी अन्यधर्म के साथ, अथवा किसी अन्यधर्म का साध्य के साथ, अथवा किसी एक धर्म का अन्यधर्म के साथ लेते हैं;

अर्थात् किसी एक धर्म का कहीं व्यभिचार देख के सब धर्मों को एक भांति के मानने से हेतु में साध्य के व्यभिचार की आपत्ति देनी विकल्पसमा जाति होती है; जैसे किसी ने कहा, अनित्य कार्य घट आदि की नाईं शब्द भी कार्य होने से अनित्य है, इसपर जाति वादी ने कहा; कि कार्यत्व हेतु गुरुत्व का व्यभिचारी (गुरुत्व शून्य वायु आदि में वर्त्तमान) है; गुरुत्व भी अनित्यत्व का व्यभिचारी (नित्य पार्थिव परमाणु आदि में वर्त्तमान) है; और अनित्यत्व भी मूर्तत्व का व्यभिचारी (मूर्तत्व से शून्य रूप आदि में वर्त्तमान) है; परन्तु कार्यत्व गुरुत्व आदि धर्म सब एक से ही होते हैं; इसलिये अनित्यत्व के व्यभिचारी गुरुत्व का व्यभिचारी होने से कार्यत्व हेतु अनित्यत्व साध्य का व्यभिचारी भी अवश्य है; इस व्यभिचार देशनाभासा (मिथ्या व्यभिचार के प्रयोग) को विकल्पसमा जाति कहते हैं; पक्ष दृष्टान्त आदिकों में साध्य के साध्य (सिद्ध करने की योग्यता) की आपत्ति देनी साध्यसमा जाति कहाती है, इसमें जातिवादी का यह अभिप्राय है, कि प्रतिज्ञा आदि पंच अवयवों से सिद्ध करने के योग्य पदार्थ ही अनुमिति के विषय होते हैं, इसलिये पक्ष भी अनुमिति का विषय होने से अवश्य अवयवों से सिद्ध करने के योग्य है; क्योंकि पक्ष का निश्चय यदि पहिले ही माना जावे, तो पांच अवयवों से सिद्ध करने के योग्य ना होने से पक्ष अनुमिति का विषय ना होवे; और यदि पक्ष का निश्चय पहिले नहीं है, तो पक्ष (आश्रय) की

ज्ञान ना होने से आश्रयासिद्धि दोष लगेगा; इसी से साध्यसमा को आश्रयासिद्धि हेत्वाभास (मिथ्याआश्रयासिद्धि का प्रयोग) कहते हैं; इस सूत्र का तात्पर्य यह है, उभय (पक्ष और दृष्टांत दोनों) के हेतु आदि धर्मों से साध्य (इन के अधीन अनुमिति से ग्रहण करने के योग्य होने से पक्ष आदि में साध्य की तुल्यता देते हैं; क्योंकि लिंगप्रधान मत में लिंग (हेतु) भी अनुमिति का विषय होता है; इसीतें हेतु भी जब साध्य के तुल्य हुआ, तो हेतु का आश्रय दृष्टांत भी साध्य के तुल्य होजावेगा; । ४ ॥

किञ्चित्साधर्म्याउपसंहारसिद्धेर्वैध
र्म्यादप्रतिषेधः । ५ ॥

इन (जातियों) के अशुद्ध होने में युक्ति दिखाते हैं, किसी एक साधर्म्य (व्याप्तिपक्षधर्मता सहित धर्म) से उपसंहार (साध्य) की सिद्धि होगई; तो वैधर्म्य (व्याप्तिरहितधर्म) से तुमारा किया प्रतिषेध (खंडन) नहीं होसकता; नहीं तो असाधक पदार्थों के साधर्म्य (प्रमेयत्व आदि) से तुमारा कहा दूषण भी अपने पक्ष की सिद्धि ना कर सके; उसमें यह क्रम है, अनित्यत्व के व्याप्य कार्यत्व से शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि करते हैं; और कार्यत्व हेतु रूप का व्याप्य नहीं है, कि शब्द में कार्यत्व हेतु से रूप की आपत्ति होवै; इसीतें अनित्यत्व रूप का व्याप्य नहीं है. कि शब्द में व्यापक (रूप) के अभाव (न होने) से व्याप्य (अनित्यत्व) के अभाव (नित्यत्व) की आपत्ति होवै ;

इसीरीति वर्ण्यसमा में भी किसी एक साधर्म्य (व्याप्तिविशिष्टहेतु) से साध्य की सिद्धि कही है, और वैसे (व्याप्तिविशिष्ट) हेतु के रहने से दृष्टांत कहा जाता है; ऐसा नहीं है, कि पक्ष में हेतु जितने विशेषण रखता है, उन सबों को साथ लेके दृष्टांत में हेतु रहे, तो दृष्टांत कहैं; नहीं तो तुम भी जो दूषणीय (पक्ष) को दृष्टांत देके अपने मत (दृष्टांत में साध्य निश्चय के अभाव) की सिद्धि करते हो, वह भी न होवे; इसीरीति अवर्ण्यसमा में भी दृष्टांत में देखे व्याप्तिविशिष्ट हेतु को पक्ष में देख के साध्य की अनुमिति की जाती है; इस बात की आवश्यता नहीं है, कि दृष्टांत में हेतु जितने विशेषण रखता हो, उन सब को साथ लेकर पक्ष में रहे; और विकल्पसमा में भी प्रकृत (प्रसंग से प्राप्त) साध्य के व्याप्य प्रकृत (प्रसंगप्राप्त) हेतु से साध्य की सिद्धि करने पर किसी एक (प्रसंग से विना प्राप्त) धर्म को लेकर तुमारा किया प्रतिषेध (खंडन) नहीं होसकता; अर्थात् किसी एक धर्म में व्यभिचार देके प्रकृत हेतु का खंडन करना सर्वथा असंगत है; क्योंकि जिस धर्म में व्यभिचार दोष लगेगा, वही धर्म दुष्ट होगा, और उस एक धर्म के व्यभिचार से सब धर्म दुष्ट नहीं होसकते; इसीभांति साध्यसमा में भी व्याप्तिविशिष्ट हेतु से पक्ष में साध्य की सिद्धि करते हैं; और पक्ष दृष्टांत आदि की सिद्धि नहीं करते हैं, यदि साध्य की नाईं पक्ष दृष्टांत आदि की भी सिद्धि की जावे, तो कोई पदार्थ भी अनुमान से सिद्ध नहीं होसकेगा;

अर्थात् हमारा कहा दूषण भी नहीं सिद्ध हो सकेगा, ।५

साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः । ६ ॥

वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा और साध्यसमा में और समाधान दिखाया है; साध्य के अतिदेश (निश्चय) से ही दृष्टांतता की सिद्धि होती है, पक्ष के संपूर्ण धर्म दृष्टांत में नहीं रह सकते, यदि पक्ष के सब धर्म दृष्टांत में रहें, तो पक्ष और दृष्टांत एकही होजावें, भिन्न भिन्न ना हों, इससे पक्ष में साध्य की समता का भी खंडन होगया; क्योंकि साध्य के अतिदेश (साधन) से दृष्टांतता (पक्षरूपता) की सिद्धि होती है; साध्य की नाईं पक्ष की सिद्धि नहीं करते हैं, यदि पक्ष आदि की भी सिद्धि करने लगें, तो कोई पदार्थ भी अनुमान के द्वारा सिद्ध नहीं होसकेगा, अर्थात् सब अनुमानों का खंडन होजाने से हमारा दिया दूषण भी नहीं सिद्ध होसकेगा; । ६ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में छः जातियों के वर्णन का ६१वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥

प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्याऽवि
शिष्टत्वादप्राप्त्याऽसाधकत्वाच्च प्राप्त्य
प्राप्तिसमौ । ७ ॥

क्रम से प्राप्तिसम और अप्राप्तिसम का लक्षण करते हैं; साध्य को प्राप्त (साध्य के अधिकरण में वर्त्तमान) होके हेतु साध्य की सिद्धि (अनुमिति) को करता है, अथवा साध्य को प्राप्त होने से विना ही हेतु

अनुमिति को उत्पन्न करता है; पहिले पक्ष (एक आश्रयमें इकट्ठे रहकर अनुमिति उपजावें) में दोष यह है, कि साध्य और हेतु एक आश्रय में जब इकट्ठे रहे, तो हेतु से साध्य की अनुमिति मानते हो, साध्य से हेतु की अनुमिति क्यों ना होजावे; क्योंकि पक्ष में रहना दोनों का तुल्य ही है। दूसरे (अप्राप्ति) पक्ष में यह दोष है, अप्राप्त (असंबद्ध) पदार्थ साधक नहीं होसकता, क्योंकि अप्राप्त हेतु यदि साधक माना जावे, तो साध्य की नाईं साध्याभाव के साथ भी हेतु की प्राप्ति (संबंध) के न होने से साध्यकी अनुमिति का क्या नियम है, किन्तु साध्याभाव की अनुमिति को ही उत्पन्न करे; यहां साधक शब्द से ज्ञापक (वस्तुके ज्ञानका कारण) और कारक (वस्तुकी उत्पत्तिका कारण) दोनों लिये जाते हैं; इसी रीति कार्य कारणों में भी दोष जानना, अर्थात् कार्य के अधिकरण में वर्तमान होके कारण यदि कार्य को उत्पन्न करे, तो एक आश्रय में इकट्ठे रहने से यह नियम ना रहे, कि कौन कारण और कौन कार्य है; कोई यह भी दोष देते हैं, कि एक आश्रय में इकट्ठे वर्तमान पदार्थों का कार्य कारण भाव नहीं होसकता, किन्तु लोन और पानी की नाईं एक रूपता होजावेगी; सिद्धान्त यह प्रतीत हुआ, कि प्राप्ति (इकट्ठे रहने) से कार्य, कारण और ज्ञाप्य, ज्ञापक की तुल्यता की आपत्ति देकर दोष (विरोध) देना, प्राप्तिसमा जाति होती है, और अप्राप्ति (इकट्ठे न रहने) से साध्य की नाईं साध्या-

भाव की असंगति हो, अथवा दंड चक्र आदि सामग्री से घट की नाईं पट आदि भी उत्पन्न हो; क्योंकि उक्त सामग्री का जैसे घट से संबंध नहीं वैसेही पट आदि से भी संबंध नहीं है, इन आपत्तियों को अप्राप्तिसमा जाति (मिथ्या विरुद्ध तर्क का प्रयोग) कहते हैं। ७ ॥

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्पीडने चाभि
चाराद प्रतिषेधः । ८ ॥

इन (प्राप्तिसमा और अप्राप्तिसमा) के असत् (दुष्ट) उत्तर होने में बीज (मूलयुक्ति) दिखाते हैं; कि दंड आदि कारण सामग्री से घट आदि कार्यों की निष्पत्ति (उत्पत्ति) देखने (सब लोगों में प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध होने) से और श्येन आदि यज्ञों से शत्रु का पीड़न भी प्रत्यक्ष दीख पड़ने से सिद्ध होता है, कि तुमारा कहा प्रतिषेध (खंडन) किसी रीति भी नहीं हो सकता; क्योंकि घट आदि कार्यों की उत्पत्ति से प्रथम दंड आदि कारण घट आदि कार्यों से संबंध नहीं रखते, किन्तु उन (घट आदि कार्यों) के उपादान कारणों (कपालमृत्तिका आदि) के साथ संबंध रखते हैं; इसी से ही कपाल आदि (उपादान कारणों) में घट आदि कार्य समवाय संबंध से उत्पन्न होते हैं, और श्येन आदि यज्ञ भी उद्देश्यता संबंध से शत्रु में रहते हैं, इसलिये उन (शत्रुओं) में समवाय संबंध से पीड़ा (दुःख) उत्पन्न होती है; अर्थात् वेद में और लोगों में प्रमाणों के द्वारा सिद्ध कार्य कारण भाव का विचारी किसी दृढ़ युक्ति के साथ खंडन करें, अथवा स्वीकार

ना करें, तो तुमारा कहा खंडन भी किसीरीति नहीं सिद्ध हो सकेगा; सिद्धांत यह है, कारण के आश्रय में कार्य उत्पन्न होता है, और कार्य कारण के परस्पर संबंध का कोई नियम नहीं है; । ८ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में प्राप्तिसम और अप्राप्तिसम नामी दो जातियों के वर्णन का ६१ वां प्रकरण समाप्त हुआ।

दृष्टान्तस्यकारणानदेशात्प्रत्यवस्थानाच्चप्रतिदृष्टान्तेनप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ । ९ ॥

क्रम से प्राप्त प्रसंगसमा और प्रतिदृष्टांतसमा जाति का लक्षण करते हैं; दृष्टांत (दृष्टांत में साध्यसिद्धि) के कारण (प्रमाण) के अनपदेश (नकथन) से दोष देना प्रसंगसमा जाति होती है; यद्यपि इसे जाति (दुष्ट) उत्तर कहना योग्य नहीं है, क्योंकि दृष्टांत में साध्य के साधक प्रमाण का विरह (अभाव) होने से दोष यथार्थ ही लगता है; तौ भी दृष्टांत में प्रमाण कहना, पुनः उस प्रमाण में भी प्रमाण कहने की अपेक्षा पड़ती है; इत्यादि अनवस्था से दोष देने का तात्पर्य है; जैसा कि आचार्यों (ग्रंथकारों) ने भी कहा है, अनवस्थाभास (मिथ्या अनवस्था) के प्रसंग (प्रयोग) को प्रसंगसमा जाति कहते हैं; इस मत में एक हेतु का साधक अन्य हेतु उन का साधक अन्य हेतु इत्यादि अनवस्था को भी प्रसंगसमा जाति कहते हैं; और पहिले मत में हेतु की अनवस्था को वर्तमान आकृतिगण के अंतरगत मान

ते हैं; इस प्रसंगसमा को अनवस्था देशनाभास (मिथ्या अनवस्था का प्रयोग) कहते हैं; प्रतिदृष्टांत (विरुद्ध दृष्टांत) से दोष देना प्रतिदृष्टांतसमा जाति होती है; अर्थात् व्याप्ति आदि की अपेक्षा त्याग के केवल विरुद्ध दृष्टांत से दोष देने का तात्पर्य है; इससे साधर्म्यसमा का कारण होगया, यदि घट के दृष्टांत से शब्द अनित्य कहो, तो आकाश के दृष्टांत से शब्द नित्य ही क्यों ना होवे; इस रीति बाध अथवा अनुमिति के प्रतिबंध की आपत्ति दी है, हेतु तो अनुमिति का अंग ही नहीं है, केवल दृष्टांत केवल से अनुमिति का अभिमान है; बाध अथवा अनुमिति का प्रतिबंध इन दोनों का मिथ्या प्रयोग इस जाति में होता है । ९ ॥

प्रदीपादान प्रसङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनि
वृत्तिः । १० ॥

प्रसंगसमा में उत्तर (खण्डन का बीज) यह है, कि निदर्शन (वादी और प्रतिवादी इन दोनों का संमत) स्थान होने से साध्य का निश्चय करने के अर्थ दृष्टांत की अपेक्षा पड़ती है; और दृष्टांत में दृष्टांत उसमें अन्य दृष्टांत इत्यादि अनवस्थित (स्थितिरहित) परंपरा (धारा) का मानना, सब रीति लोकव्यवहार और युक्ति से विरुद्ध है, नहीं तो घट आदि के प्रत्यक्ष का कारण दीप, दीप के प्रत्यक्ष का कारण कोई अन्य इत्यादि अनवस्थित परंपरा (धारा) भी मानो; अर्थात् इसी रीति हेतुओं की परंपरा से हमारा (दोषका साधक

हेतु भी ना सिद्ध होसके; । १० ॥

प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वेचनाहेतुर्दृष्टान्तः ११

प्रतिदृष्टांतसमा का उत्तर यह है, इसमें उत्तर का यह क्रम है, कि मेरे पक्ष का खंडन करने के अर्थ अथवा मेरे पक्ष से विरुद्ध पक्ष की सिद्धि के अर्थ तुम प्रतिपक्ष (विरुद्धपक्ष) को ग्रहण करते हो; आदि के अर्थ में प्रतिदृष्टांत (विरुद्ध दृष्टांत) यदि आपने पक्ष की सिद्धि करता हो, तौ हमारा पक्ष अपने आपमें बलवान् और तुम्हारा पक्ष अपने स्थान में बलवान् होने से खंडन किसी पक्ष का भी नहीं होसकता, अर्थात् बाधदोष (मेरे पक्ष का खंडन) नहीं होसकता; दूसरे अर्थ में भी प्रति दृष्टांत (विरुद्ध दृष्टांत) से अपने (विरुद्ध) पक्ष की सिद्धि करने पर भी व्याप्तिविशिष्ट हेतु के संबंध से मेरा हेतु ही बलवान् होगा; वास्तव यह है कि हेतु के संबंध से बिना केवल दृष्टांत से सत्प्रतिपक्ष की संभावना भी नहीं होसकती, क्योंकि साध्याभाव व्याप्य का ज्ञान नहीं हुआ; यदि साध्याभाव का व्याप्य हेतु लिया जावे, तौ जाति नहीं किन्तु यथार्थ सत्प्रतिपक्ष जानना । ११ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में प्रसंगसम और प्रतिदृष्टांतसम जाति का ६६ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

प्रागुत्पत्तेःकारणाभावादनुत्पत्तिसमः १२

क्रम से प्राप्त अनुत्पत्तिसमका लक्षण करते हैं, साधन (साध्यसिद्धि) के अंगों (पक्ष हेतु आदि) की उत्पत्ति

से पहिले कारण (हेतु आदि) का अभाव होनेसे दोष देना अनुत्पत्तिसमाजाति होती है; अर्थात् सिद्धि के अंग पक्ष हेतु दृष्टान्तों की उत्पत्ति से पहिले इन (पक्ष आदिकों) में हेतु का अभाव है; इसरीति अनुत्पत्ति के द्वारा दोष देने को अनुत्पत्तिसमाजाति कहते हैं; जैसे किसीने कहा, कि पट की नाईं घट में भी गंध होने से रूप अवश्य है; इस पर जाति वादी का यह आक्षेप है, घट की और गंध की उत्पत्ति से पहिले हेतु (गंध) का अभाव होने से स्वरूपासिद्धि दोष लगता है; गंध की उत्पत्ति से पहिले पट में हेतु (गंध) का अभाव होने से दृष्टान्तासिद्धि भी आती है; इसी रीति उत्पत्तिक्षण में घट (पक्ष) में रूप (साध्य) का अभाव रहने से बाध भी जानना; क्योंकि इस (बाध) में भी अनुत्पत्ति के द्वारा ही दोष दिया है; जिससे उत्पत्ति के पहिले हेतु आदि के अभाव से प्रत्यवस्थान (दोषदेने) को ही अनुत्पत्तिसमा जाति कहते हैं; उत्पत्ति कालिक घट में गंध की सिद्धि करने पर जो बाध दोष आता है, यद्यपि उसमें भी अनुत्पत्ति से ही दोष दिया जाता है; तौ भी वह जाति (उत्तर) नहीं है, इसलिये अनुत्पत्तिसमा के लक्षण में जाति पद का निवेश करने से अतिव्याप्ति का वारण होजाता है; इस (अनुत्पत्तिसमा) को असिद्धादि हेत्वाभास (मिथ्या असिद्धि आदि का प्रयोग) कहते हैं । १२ ॥

तथाभावादुत्पन्नस्यकारणोपपत्तेर्न विप्रतिषेधः । १३ ॥

इस (अनुत्पत्तिसमजाति) का उत्तर यह है, उत्पत्ति से अनंतर पदार्थों की घट आदि संज्ञा होती हैं; जिन (संज्ञाओं) से कार्य कारण भाव की कल्पना की जाती है, पुनः कारण का विप्रतिषेध (खंडन) आप कैसे करते हो; अर्थात् पक्ष में हेतु के अभाव को स्वरूपा सिद्धि कहते हैं, परन्तु उत्पत्ति से प्रथम आश्रय (पक्ष) के ना होने से पक्ष में हेतु का अभाव हो ही नहीं सकता; और पक्ष की अपेक्षा त्याग के केवल हेतु के अभाव को भी स्वरूपासिद्धि नहीं कह सकते; क्योंकि तुम्हारे हेतु का भी अभाव कहीं प्रसिद्ध होने से तुम्हारे अनुमान में भी स्वरूपा सिद्धि दोष लगेगा; इसी से दृष्टांत सिद्धि का भी उत्तर कर दिया, कि कभी एक बेर हेतु के होने से ही दृष्टांत कहाता है; सर्वदा हेतु का होना दृष्टांत में अपेक्षित नहीं है; इसी रीति कभी एक बेर पक्ष में रहने से ही साध्य का व्याप्य (साध्य से बिना जो कहीं ना रहे) धर्म हेतु कहाता है; सर्वदा पक्ष में रहने की आवश्यकता कोई नहीं है; केवल इतनी आवश्यकता है, कि हेतु वह ही है, जो साध्य से अन्य देश में कभी ना रहे; पक्ष के साथ हेतु के सदा रहने का नियम कोई नहीं है ;। १३ ॥

इति न्याय सूत्रवृत्ति में अनुत्पत्ति समजाति के वर्णन का ६४ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❁ ॥

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वेसमाने नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयसमः। १४।

क्रमसे अब संशयसम का लक्षण करते हैं, नित्य और अनित्य का साधर्म्य (साधारण धर्म) संशय का कारण दिखाया है; लक्षण यह सिद्ध हुआ, कि साधारण धर्मज्ञान आदि संशय के कारणों में से किसी एक कारण की सामर्थ्य से संशय मात्र के दोष देने को संशयसमा जाति कहते हैं; और सूत्र के शेष पद उदाहरण को दिखाते हैं, जैसे किसीने कहा, घट आदि अनित्य कार्यों की नाईं कार्य होने से शब्द भी अनित्य है; इसपर जातिवादी की यह आशंका है, सामान्य (गोत्व आदि) में और दृष्टांत (घट) में ऐंद्रियकत्व (इंद्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष की योग्यता) तुल्य है, तो कार्यत्व हेतुकी सामर्थ्य से शब्द में अनित्यत्व का निश्चय ही होने का क्या नियम है; किंतु नित्य (गोत्वआदि) और अनित्य (घटआदि) में वर्त्तमान ऐंद्रियकत्व की सामर्थ्य से अनित्यत्व का संदेह ही क्यों ना होजावे; इसी रीति असाधारण धर्म (परमाणु आदि नित्य और घटआदि अनित्यों में अवृत्ति) शब्दत्व के संबंध से भी शब्द में अनित्यत्व के संदेह की आपत्ति जाननी; अर्थात् हेतु के ज्ञान में अप्रामाण्य (भ्रमत्व) के संदेह से साध्य का संशय ही हो निश्चय ना होवे; इसी से संशयसमा को सत्प्रतिपक्ष देशनाभासा (मिथ्याविरुद्धपक्ष का प्रयोग) कहते हैं; ॥ १४ ॥

साधर्म्यात्संशयेन संशयो वैधर्म्यादुभय
थावासंशयोऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गोनित्य
त्वानभ्युपगमाच्चसामान्यस्याप्रतिषेधः १७।

इसका उत्तर यह है, साधर्म्य (साधारणधर्म का ज्ञान) यदि संशय का कारण माना जावे, तौ वैधर्म्य (विरुद्धधर्म के ज्ञान) से संशय कभी ना होवे; क्योंकि कार्यत्व नामी विशेष धर्म के ज्ञान के होने पर भी यदि संशय माना जावे, तौ अत्यंत संशय का प्रसंग (प्राप्ति) लगेगी, अर्थात् संशय का नाशक भी नहीं होगा, परन्तु नित्य संशय का अभ्युपगम (स्वीकार) किसी ग्रंथकार ने भी नहीं किया है; तात्पर्य यह है, कि साधारणधर्म के ज्ञान को नित्यसंशय का कारण किसी रीति भी नहीं मान सकते; जिससे नित्य पदार्थ का कारण मानना सर्वथा असंगत है; जो कभी संशय नित्य हो, तौ तुमारा हेतु भी दूसरे पक्ष का प्रतिषेध (खंडन) ना कर सके; कोई लोग इस सूत्र को इसरीति लगाते हैं, कि साधारण धर्म का ज्ञान यदि संशय का कारण मानाजावे, तौ आकाश आदि नित्यों और घट आदि अनित्यों में वर्त्तमान साधारण धर्म प्रमेयत्व के ज्ञान से गोत्व आदि सामान्यों (जातियों) में भी नित्यत्व की सिद्धि ना हो, किंतु नित्यत्व की सिद्धि ना हो, किंतु नित्यत्व का संशय ही सबस्थान में होजावे; १७।

इति न्यायसूत्रवृत्ति में संशयसमजाति के निरूपण का ८५ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥ ॥

उभयसाधर्म्यात्प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ॥ १९ ॥

क्रमसे प्राप्त प्रकरणसम का लक्षण करते हैं, उभयसाधर्म्य (अन्वयसहचार और व्यतिरेकसहचार) से प्रक्रिया (साध्य अथवा साध्याभाव) की सिद्धि होजाने से प्रकरणसम होता है; अर्थात् व्याप्ति आदि सामर्थ्य की अधिकता से आरोपित (अयथार्थ) प्रमाण के द्वारा बाध दोष की आपत्ति देनी प्रकरणसमजाति होती है, जैसे किसी ने कहा, कि अनित्य कार्य घट आदि की नाईं शब्द भी कार्य होने से अनित्य है; इस पर जातिवादी ने कहा, कि श्रोत्र के द्वारा प्रत्यक्ष होने से शब्द नित्य है, यह बाध दोष तुम्हारे अनुमान में आता है; प्रकरणसमा को बाध देशनाभासा (मिथ्याबाध का प्रयोग) कहते हैं ॥ १९ ॥

प्रतिपक्षात्प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः ॥ २० ॥

इसका उत्तर यह है, प्रतिपक्ष (विपरीत साध्य नित्यत्व के साधक) श्रावणत्व से प्रकरण (विरुद्धपक्ष) की सिद्धि मान के जो तुम मेरे पक्ष (शब्द में अनित्यत्व) का खंडन करते हो, वह सर्वथा अयुक्त है; क्योंकि प्रतिपक्ष (तुम्हारे पक्ष से विरुद्ध मेरा पक्ष) व्याप्ति आदि की अधिक सामर्थ्य पाकर पहिले ही सिद्ध होचुका है; अर्थात् पहिले श्रावणत्व से नित्यत्व की सिद्धि करके जो बाध तुम देते हो, वह नहीं

लग सकता; क्योंकि पहिले सिद्ध किया पदार्थ बलवान् नहीं होता है, अथवा कभी कार्यत्व से अनित्यत्व ही पहिले सिद्ध किया हो, तो हमारे पक्षकाही खंडन होजावे; । १७ ॥

इति न्याय सूत्र वृत्ति में प्रकरण समजाति के निरूपण का ६६ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः। १८॥

क्रमसे प्राप्त हेतुसम का लक्षण करते हैं, कार्य का वर्त्तमान काल, उत्पत्ति से पूर्व (भूत) काल, और कार्य के नाश से अनंतर (भविष्य) काल इन तीन कालोंमें से एक में भी कारणता नहीं आसकती; क्योंकि घटआदि कार्यों के पूर्व (पहिले) वर्त्तमान होके दंड आदि कारण नहीं होसकते, उस (उत्पत्ति से पहिले) समय जब घट आदि कार्य ही नहीं हैं, तो किस के कारण दंड आदि होंगे; इसीरीति घट आदि कार्यों के उत्तर (नाशसे अनंतर) काल में वर्त्तमान होके भी दंड आदि कारण नहीं होसकते; क्योंकि नाश से अनंतर घट आदि कार्य ही जब नहीं हैं, तो किसके कारण दंड आदि होंगे; और वर्त्तमान काल में यह दोषहै, कार्य और कारण दोनों पशु के सींगों की नाईं जब तुल्यकाल में वर्त्तमान हुए, तो यह नियम नहीं होसकता, कि कौन किसका कारण हो; इसरीति तीनों कालों में संबंध के खंडन से हेतु के खंडन को अहेतु समाजाति कहते हैं; यहां हेतु का अर्थ कारण और बोधक दोनों जानने; इस (अहे-

तुसम) को प्रतिकूल तर्क देशनाभास (मिथ्याविरुद्ध तर्क का प्रयोग) कहते हैं; । १८ ॥

नहेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः १९

उत्तर यह है, हेतु से साध्य की सिद्धि तुमने मानी है, तो त्रैकाल्य (संबंध) के खंडन से हेतु का खंडन सर्वथा असंगत है; । १९ ॥

प्रतिषेधानुपपत्तेः प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः । २० ॥

केवल पूर्ववृत्ति होने से ही कारण होते हैं, नहीं तो तुमारे हेतु (संबंध के खंडन) से हमारा साध्य (हेतु का खंडन) भी ना सिद्ध होवे, इससे कहा है, कार्य कारण भाव का खंडन करो, तो प्रतिषेध (खंडन) की सिद्धि ना होनेसे प्रतिषेद्धव्य (हेतु) का खंडन कभी नहीं होगा । २० ॥

इति न्याय सूत्रवृत्ति में अहेतु सम जाति के निरूपण का १७ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ * ॥

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्ति समः । २१ ॥

क्रम से प्राप्त अर्थापत्तिसम का लक्षण करते हैं, प्रतिपक्ष (विरुद्धपक्ष) की सिद्धि के अर्थ अर्थापत्ति के आभास (भ्रम) से दोष देना, अर्थापत्तिसम होता है; तात्पर्य यह है, कहे हुए पदार्थ से अनुक्त (विन कहे) पदार्थ का आक्षेप करना, अर्थापत्ति कहाता है; जैसे किसीने कहा, कि शब्द अनित्य है, तो अर्थ

से सिद्ध हुआ, कि शब्द से भिन्न घट आदि सब पदार्थ नित्य हैं, इसलिये दृष्टांत (घट आदि) में साध्य (अनित्यत्व) के ना रहने से दृष्टांतासिद्धि और विरोध दोष लगता है; इसी रीति कार्यत्व हेतु से अनित्यत्व की सिद्धि को जो अर्थ से सिद्ध हुआ, कि किसी अन्य हेतु से नित्यत्व की सिद्धि करके बाध और सत्प्रतिपक्ष दोष भी आते हैं; और अनुमान प्रमाण से शब्द में अनित्यत्व सिद्ध किया, तो यह बात अर्थ से प्रतीत हुई, कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से नित्यत्व सिद्ध करने से भी बाध दोष आता है; एक पदार्थ के विशेष विधान से शेष पदार्थों का निषेध मान के जाति वादी प्रवृत्त हुआ है; सर्व दोष हेत्वाभास (मिथ्या सब दोषों का प्रयोग) इसे कहते हैं; ॥ २२ ॥

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्ति
रनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः २३।

उत्तर यह है, कहे हुए पदार्थ से किसी एक बिन कहे पदार्थ का आक्षेप करो, तो बिन कही हमारे पक्ष की हानि का भी आक्षेप होजावे; और यदि कहे पदार्थ के साधक बिनकहे पदार्थ का आक्षेप मानो, तो हमारी अर्थापत्ति किसी पक्ष को भी ना सिद्ध करने से व्यर्थ है; क्योंकि अनित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, एक पदार्थ के विशेष विधान से शेषों का निषेध भी तात्पर्य के अधीन कहीं होता है, सब स्थान में नहीं होता; क्योंकि घट नील है ऐसा कहने से

यह नहीं सिद्ध होसकता, कि जगत में अन्य कोई भी नील नहीं है। २२ ॥

इति न्यायसूत्र वृत्ति में अर्थापत्तिसमजाति के निरूपण का ६८ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❀ ॥

एकधर्म्मोपपत्तेरविशेषे सर्व्वाविशेष
प्रसङ्गात्सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः। २३

क्रम से प्राप्त अविशेषसम का लक्षण करते हैं, एक धर्म (कार्यत्व) को शब्द और घट में मानने से यदि घट की नाईं शब्द को अनित्य मानों, तो सत्तों (पदार्थों) के भावों (प्रमेयत्व सत्ता आदि धर्मों) के रहने से सब पदार्थ एक सेही होजावें; एक से होने से यदि सब का अभेद मानों तो पक्ष, विपक्ष आदि भेद (विभाग) ना होवें; और यदि सब में एक जाति मानें, तो अवांतर (छोटी) जातियों का निषेध होजावे; सब पदार्थों को अनित्य मानें, तो जाति आदि नित्यपदार्थों का खंडन होजावे; अर्थात किसी एक पदार्थ में वर्तमान वाच्यत्व आदि साधारण धर्म के संबंध से सब पदार्थों में अभेद की अथवा सादृश्य की आपत्ति देना अविशेषसमाजाति होती है; इसे प्रतिकूल तर्क देशनाभासा (मिथ्या विरुद्ध तर्क का प्रयोग) कहते हैं। २३॥

क्वचिद्धर्म्मानुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः
प्रतिषेधाभावः। २४ ॥

उत्तर यह है, किसी धर्म (कार्यत्व) में हेतु का धर्म (अनित्यआदि) रहता है, और किसी धर्म (प्रमेयत्वआ

हि) में उक्त धर्म (व्याप्तिआदि) नहीं रहता; इसलिये व्याप्ति सहित कार्यत्व हेतु का व्याप्ति हीन प्रमेयत्व आदि से निषेध करना सर्वथा असंगत है; किन्तु व्याप्ति और पक्ष धर्मता की सामर्थ्य से कार्यत्व हेतु ही अनित्यत्व की सिद्धि शब्द में करेगा; । २४ ॥

इति न्यायसूत्र वृत्ति में अविशेष समजाति के निरूपण का ८९ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ८९ ॥

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः । २५ ॥

क्रम से प्राप्त उपपत्तिसम का लक्षण करते हैं; उभय (पक्ष और प्रतिपक्ष) के कारण (प्रमाण) की उपपत्ति (सिद्धि) से उपपत्तिसम होता है; अर्थात् व्याप्ति की अपेक्षा त्याग के वादी के पक्ष को ही दृष्टान्त बनाकर किसी एक धर्म से अपने पक्ष की सिद्धि के द्वारा दोष देने को उपपत्तिसमा जाति कहते हैं, जैसे किसी ने कहा, कि अनित्य कार्य घट की नाईं शब्द भी कार्य होने से अनित्य है; इस पर जातिवादी ने कहा, कि तुमारे सप्रमाण पक्ष (शब्द अनित्य है) की नाईं मेरा कथन (शब्द नित्य है) भी पक्ष होने से प्रमाण है; सो बाध दोष लगा, इसी से उपपत्तिसम को बाध हेत्वाभास (मिथ्या बाध का प्रयोग) कहते हैं; । २५ ॥

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः । २६॥

इसका उत्तर यह है, यह तुमारा किया प्रतिषेध नहीं होसकता; क्योंकि मेरे पक्ष में साध्य (अनित्यत्व) के साधक प्रमाण को तुमने भी मान ही लिया है; क्यों

न् दृष्टान्त बनाने से ही सिद्ध होगया, कि मेरे पक्ष को तुम ने सप्रमाण मान लिया है; पुनः उसका खंडन करना सर्वथा सामर्थ्य से बाहर है, और यदि माने हुए पदार्थ का भी खंडन करो, तो यह क्या नियम है, कि वादी के पक्ष का ही खंडन करो; किन्तु माने हुए अपने पक्ष (मत) का ही खंडन करो । २६ ॥

इति न्यायसूत्र वृत्ति में उपपत्तिसम जाति के निरूपण का ८० वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भा दुपलब्धिसमः । २७ ॥

क्रम से प्राप्त उपलब्धिसम का लक्षण करते हैं, निर्दिष्ट (वादी के कहे) कारण (हेतु) से शून्य देश में साध्य के उपलंभ (प्रत्यक्ष) से दोष देने को उपलब्धिसम कहते हैं; जैसे किसी ने कहा, कि धूम हेतु से प्रतीत होता है, पर्वत में अग्नि है, इसपर जातिवादी ने कहा, केवल धूम से ही पर्वत में अग्नि माननी सर्वथा असंगत है, क्योंकि आलोक (प्रकाश) हेतु से भी पर्वत में अग्नि की सिद्धि हम कर सकते हैं; इससे सिद्ध हुआ, कि धूम हेतु वह्नि की सिद्धि नहीं कर सकता, यह विरुद्ध तर्क है, और धूम हेतु से केवल वह्नि की सिद्धि माननी भी असंगत है, क्योंकि धूम हेतु से इन्धन आदि की सिद्धि भी होसकती है, इसी रीति केवल पर्वत में ही वह्नि की सिद्धि माननी भी असंगत है, क्योंकि महानस में भी वह्नि रहती है,

नहीं तो महानस दृष्टांत भी ना होसके; ऐसेही वह्निसे शून्य भी कई पर्वत होने से बाध दोष भी आता है; इसे मिथ्याबाध आदि का प्रयोग कहते हैं । २७ ॥

कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः २८

उत्तर यह है, कारणान्तर (आलोक आदि अन्य हेतु) से साध्य (वह्नि) की उपपत्ति (सिद्धि) करने से धूम हेतु का खंडन नहीं होसकता; अर्थात् केवल धूम सेही वह्नि की सिद्धि जनाने के अर्थ अनुमान का प्रयोग नहीं किया, किन्तु संदिग्धसाध्य की सिद्धि के अर्थ प्रयोग किया है; नहीं तो किसी अन्य हेतु के संभव से तुम्हारे कहे खंडन की सिद्धि भी ना होवे; । २८ ॥

इति न्याय सूत्र वृत्ति में उपलब्धि सम जाति के निरूपण का २८ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ * ॥

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ
तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः । २९ ।

क्रम से प्राप्त अनुपलब्धिसम का लक्षण करते हैं, यद्यपि दूसरे अध्याय में विस्तार पूर्वक दिखा के अनुपलब्धि का खंडन भी कर दिया है, तौ भी अनुपलब्धि समा जाति वहां नहीं दिखाई, अब जाति के प्रसंगसे दिखाते हैं; उसमें यह क्रम है, कि नैयायिक लोग शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि करते हैं, युक्ति यह देते हैं; यदि शब्द नित्य हो, तौ उच्चारण (बोलने) से पहिले भी अवश्य सुनने में आवे; क्योंकि घट आदि के आवरण भीत (कुड्य) आदि की नाईं शब्द का आवरण (रोक

ने का हेतु) भी कोई नहीं देखने में आता; इस पर जातिवादी का यह आक्षेप है, आवरण का प्रत्यक्ष न होने से यदि आवरण का अभाव (ना होना) माना जावे; तौ अनुपलब्धि (प्रत्यक्ष ना होने) का प्रत्यक्ष ना होने से आवरण की सिद्धि ही होजावे; सिद्ध हुआ कि शब्द नित्य ही है; किसी आवरण के होने से सदा प्रत्यक्ष नहीं होता, यदि कहो कि एक अनुपलब्धि को अन्य अनुपलब्धि की अपेक्षा नहीं है; किन्तु अपने अभाव के प्रत्यक्ष में वह आपही कारण है, तौ सहज में ही आवरण की सिद्धि होजाने से नित्य शब्द सिद्ध होजावेगा; और यदि अनुपलब्धि को अन्य अनुपलब्धि की अपेक्षा हो, तौ अनवस्था स्फुट ही है; इस रीति दोष देने को अनुपलब्धिसम कहते हैं, इसे ही प्रतिकूल तर्क देशनाभास (मिथ्याविरुद्ध तर्क का प्रयोग) भी कहते हैं। २९ ॥

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ३०

उभा यह है, कि अनुपलब्धि की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) ना होने से आवरण की सिद्धि मानी है; यह असंगत है, क्योंकि उपलब्धि (ज्ञान) के अभाव को अनुपलब्धि कहते हैं; जिस का प्रत्यक्ष सहज में ही मन से हो जाता है, तौ अनुपलब्धि (ज्ञानाभाव) की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) ही होगई, अनुपलब्धि माननी योग्य नहीं है; और अनुपलब्धि (ज्ञानाभाव) का विषय कोई नहीं होसकता, कि अनुपलब्धि का विषय अनुपलब्धि

कहसकैं; इस में क्या विरोध आता है, घट का विषय ना होने से क्या घट से भिन्न घट होसकता है; और आवरणाभाव अनुपलब्धि का विषय है, यह भी तुम अपनी ओर से कहो, मेरा यह तात्पर्य है कि अनुपलब्धि के साहाय्य से इंद्रिय आवरणाभाव को ग्रहण करते हैं; इसीसे अनुपलब्धि को प्रत्यक्ष की हेतु मानलेते हैं; सिद्ध हुआ कि अनुपलब्धि की अनुपलब्धि माननी सर्वथा असंगत है; नहीं तो तुमारे हेतु में भी दोष की अनुपलब्धि की अनुपलब्धि से दोषही जानना योग्य है । २० ॥

ज्ञानविकल्पानांचभावाभाव
संवेदनादध्यात्मम् । २१ ॥

यदि अनुपलब्धि अपनी सिद्धि को नहीं करसकती, तौ अनुपलब्धि की सिद्धि किस से होगी; आत्मा में वर्तमान ज्ञान विशेषों के भाव और अभाव का मन से ही प्रत्यक्ष होता है; घट को प्रत्यक्ष से देखता हूं, इत्यादि प्रतीतियों से अनुपलब्धि का मन से ही प्रत्यक्ष जानना; ॥ २१ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में अनुपलब्धिसमजाति के निरूपण का ७२ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❀ ॥

साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानि
त्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः । २२ ॥

क्रम से प्राप्त अनित्यसम का लक्षण करते हैं, यदि दृष्टांत घट के साधर्म्य कार्यत्व से तुल्यता दिखा के

शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि की जावे; तो सत्ता प्रमेयत्व आदि साधारण धर्म के संबंध से जगत के संपूर्ण पदार्थों में अनित्यत्व की सिद्धि होजावे; सब में अनित्यत्व की सिद्धि करने से व्यतिरेकव्याप्ति का ज्ञान कहीं भी ना होनेसे अनुमान का खंडन करने से ही इष्ट सिद्धि मानी है; क्योंकि नाहो ने केवल अन्वय व्यतिरेकी को ही अनुमान माना है; इसी से अर्थान्तर दोष का भी संकर नहीं होसकता; अर्थात् व्याप्ति की अपेक्षा त्यागके दृष्टांत के किसी एक साधर्म्य से सब पदार्थों में साध्य की आपत्ति देने को अनित्यसमाजाति कहते हैं; अविशेषसमा में तो सब पदार्थों में सादृश्य दिया जाता है, और इस (अनित्यसमा) में साध्य (अनित्यत्व) की आपत्ति सब पदार्थों में देते हैं; इतना भेद है; और जो अनित्यत्व की समता (आपत्ति) देनी अनित्यसमा है, यह अक्षरोंसे ही लक्षण निकालते हैं; वह असंगत जानना, क्योंकि पर्वतो वह्निमान्धूमवान्महानसवत् इस अनुमान में महानसदृष्टांत के साधर्म्य प्रमेयत्व के संबंध से सब पदार्थों में वह्नि की आपत्ति भी एक पृथक् जाति होवे, आचार्य कहते हैं, कि आकाश के वैधर्म्य कार्यत्व से शब्द की नाईं आकाश के वैधर्म्य आकाशभेद से सभी अनित्य हैं; यह भी अनित्यसमा जाननी, इतना भेद है, कि सब को नहीं किन्तु आत्मा आदि में अनित्यत्व की आपत्ति देनी है; इससे अर्थान्तरदोष भी लगेगा, इससे मिथ्याविरुद्ध तर्क का प्रयोग करते हैं। २४

साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्याच्च । ३३ ॥

उत्तर यह है, यदि किसी एक धर्म से सब पदार्थों में साध्य की आपत्ति देते हुए तुम ने साधर्म्य से कार्य्य की सिद्धि का खंडन किया है, तो प्रतिषेध्य (खंडन करने के योग्य) मेरे हेतु (कार्यत्व) के साधर्म्य से यह तुम्हारा किया खंडन भी ना सिद्ध होवे, तुम यह ही सिद्ध करते हो, कि सत्ता आदि की नाईं दृष्टांत (घट आदि) का साधर्म्य (साधारणधर्म) होने से कार्यत्व हेतु साध्य (अनित्यत्व) की सिद्धि का कारण नहीं होसकता, इस अनुमान में तुम्हारा हेतु (साधारण धर्म होना) खंडन करने के योग्य मेरे हेतु (कार्यत्व) और दृष्टांत सत्ता आदि में भी रहने से साधारण धर्म है; इस से यह भी किसी कार्य (खंडन) की सिद्धि नहीं करसकेगा, । ३३ ॥

दृष्टान्तेचसाध्यसाधनभावेनप्रज्ञातस्यधर्मस्यहेतुत्वात्तस्यचोभयथाभावान्नाविशेषः । ३४ ॥

यदि कहो कि सब साधारण धर्म साधक नहीं हैं, किन्तु व्याप्तिसहित साधारणधर्म साधक हैं; तो व्याप्तिसहित होनेसे कार्यत्व हेतु साधक है, और व्याप्ति के ना होने से सत्ता आदि साधक नहीं हैं; इसी विशेषता को सूत्रकार दिखाते हैं; कि दृष्टांतमें अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति के द्वारा यथार्थ

रूप से जाना हुआ हेतु ही साध्य की सिद्धि का कारण होता है; कार्यत्व हेतु में उक्त दोनों व्याप्ति पाई जाती हैं, और सत्ता आदि में एक व्याप्ति भी नहीं आसकती, इससे कार्यत्व में सत्ता आदि की समता देकर दोष देना सर्वथा असंगत है। ३४ ॥

इति न्याय सूत्र वृत्ति में अनित्य सम जाति के निरूपण का ८२ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ * ॥

नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वो-
पपत्तेर्नित्यसमः । ३५ ॥

क्रम से प्राप्त नित्यसम का लक्षण करते हैं, अनित्य पदार्थों में अनित्यत्व यदि नित्य (सदा) माना जावे; तो शब्द भी नित्य हो, इस आपत्ति को नित्यसमाजाति कहते हैं; तात्पर्य यह है, कि अनित्यत्व यदि सदा ना माना जावे, तो उस समय अनित्यताभाव के रहने से नित्यत्व अवश्य रहे, क्योंकि इसके न होने पर कोई पुरुष इसे नहीं कह सकता; इसीरीति जिस समय अनित्यत्व नहीं रहा, उस समय कार्य अनित्य नहीं कहा सकता, किन्तु नित्य ही कहावेगा; इससे अनित्य पदार्थों में अनित्यत्व नित्य (सदा) ही मानना योग्य है, परन्तु आश्रय की नित्यता से बिना धर्म का नित्य रहना असंभव है; इससे शब्द भी नित्य ही मानना पड़ेगा, अर्थात् बाध अथवा सत्प्रतिपक्ष दोष लगेगा, इसी से नित्यसमा को (मिथ्याबाध का प्रयोग अथवा मिथ्या सत्प्रतिपक्ष का प्रयोग) कहते हैं; इसीरीति

अनित्यत्व आप यदि नित्य है, तो शब्दमें अनित्यत्व की सिद्धि कैसे होगा, कभी रक्तवर्ण का कुसुंभा अन्य पदार्थ को नील नहीं कर सकता; और यदि अनित्यत्व अनित्य है, तो उस (अनित्यत्व) के नाश से अनन्तर नित्यत्व होना योग्य है; इसी क्रम से लक्षण भी बनाना योग्य है, यह प्राचीनों का मत है; विश्वनाथका यह कथन है, कि अनित्यत्व यदि नित्य माना जावे, तो अनित्य पदार्थ भी नित्य होजावें; जैसे घट आदि की नाईं कार्य होने से पृथ्वी कर्त्ता से जन्य है; इसमें अनित्य पृथ्वी का धर्म कर्त्तासे जन्य होना यदि सदा पृथ्वी में ना मानें, तो परमाणु में बाध है; और इस का नित्य (सदा) मानना विरुद्ध है, इसी से मिथ्या विरुद्ध का प्रयोग भी कहते हैं । ३५ ॥

प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्येनि
त्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः । ३६ ॥

उत्तर यह है, प्रतिषेध्य (खंडन करने के योग्य) मेरे पक्ष (शब्द) में सदा ही अनित्यत्व रहता है, इस से शब्द अनित्य कहाता है, परन्तु ऐसा नहीं होसकता, कि शब्द में सदा अनित्यत्व रहने से अनित्यत्व नित्य होजावे, अथवा उस (अनित्यत्व) के ना रहने से शब्द ही नित्य होजावे, और नित्य पद का अर्थ यहां तीनों (भूत भविष्य और वर्त्तमान) कालों में वर्त्तमान नहीं करना, किन्तु उत्पत्ति से लेकर विनाश तक का समय नित्य पद से लेना, अर्थात उत्पत्ति से लेकर विना-

शातक शब्द में सदा ही अनित्यत्व रहता है, उतने समय के बीच बीच ऐसा कभी नहीं होता, कि शब्द में अनित्यत्व कभी ना रहे, जिससे शब्द को नित्य कहने लगें; इन हेतुओं से सिद्ध हुआ, हमारा किया प्रतिषेध (खंडन) किसी रीति भी नहीं होसकता; कोई ग्रंथकार इन सूत्रों को ऐसे लगाते हैं, कि अनित्य (अनित्यत्वयुक्त) पदार्थ में जो आपने हेतु (कार्यत्व) का प्रतिषेध (खंडन) किया है; वह नहीं होसकता । ३६ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में नित्यसमजाति के निरूपण का ७४ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❀ ॥

प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसमः ३७

इससे प्राप्त कार्यसम का लक्षण करते हैं, प्रयत्न के कार्य (संपादन करने के योग्य) अनेक (कई भांति के) होने से कार्यसम दोष आता है; अर्थात् किसी ने कहा, प्रयत्न से विना कभी ना उत्पन्न होने से सिद्ध है, कि शब्द अनित्य है; इस पर जाति वादी ने कहा, कि प्रयत्न से विना ना होना प्रयत्न के कार्य घट में भी पाया जाता है, और प्रयत्न से अनन्तर प्रतीत होने कीलक आदि में भी पाया जाता है; परन्तु कीलक उस प्रयत्न से जन्य नहीं है; इसीरीति का शब्द भी प्रयत्न से जन्य नहीं है; अर्थात् सामान्यरीति से कहे हेतु का किसी अप्रसंग पदार्थ के खंडन से खंडन करना, कार्यसमा जाति है; मिथ्या असिद्ध का प्रयोग इसे कहते हैं; अथवा प्रयत्न के कार्यों का

ं नर(एक दूसरेका विरोध) देख के विरोध देने को कार्य समा कहते हैं; इसे आकृतिगण मान के सूत्रमें नाके ही जातियों का भी ग्रहण कर लेना; जैसे तेरे पक्ष में भी कोई ना कोई दोष अवश्य होगा, ऐसे हठ के वाक्य को शाठीसमा जाति कहते हैं; और कार्य कारण की परम र अपेक्षा दिखाकर अनवस्था दोष देना, अनवस्थासमा जाति कहाती है; इत्यादि और भी ऊहा करके जान लेनी; । ३७ ॥

कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः । ३८ ॥

उत्तर यह है, कि वक्ता के प्रयत्न से शब्द में कार्यत्व का खंडन नव हो; यदि अनुपलब्धि (प्रत्यक्ष न होने) के कारण आवरण आदि कोई अन्यत् दीख पड़ें, परन्तु शब्द के आवरण आदि (रोकने वाले) कोई नहीं दीख पड़ते; जिन्होंने जातियों को आकृतिगण माना है, वे ऐसा अर्थ करते हैं; कार्यों (जातियों) के बहुत आवांतर भेद होने में यह उत्तर है; तुमारा दोष देने का प्रयत्न खंडन ना कर सकने से निष्फल है; क्योंकि व्याप्ति आदि नियमों की अपेक्षा के त्याग देने से तुमारा वाक्य अपने पक्ष (मत) का ही खंडन कर देता है; पुनः पराये मत (शब्द में अनित्यत्व) का खंडन कैसे होगा; । ३८ ॥

इति न्याय सूत्र वृत्ति में कार्यसमा जाति के निरूपण का ७४ वां प्रकरण समाप्त हुआ । ॥

ऐसा पीछे कह आये हैं, कि कथा (वादआदि) में दोनों (वादी और विवादी) पुरुषों को उचित है; यथार्थ उत्तरों के द्वारा अपने अपने पक्षों से दोषों का उद्धार करें; परन्तु दोनों पक्षों में यथार्थ उत्तर हों, तो पदार्थ के निश्चय और जय का होना असंभव के समान है; और यदि दोनों पक्षों में असत् (दुष्ट) उत्तर ही दिये जावें; तौभी दो नपुंसकों के संयोग की नाईं व्यर्थ ही हैं, फल (तत्वनिश्चय अथवा जय) की सिद्धि कभी नहीं होगी, इस बात को प्रगट करने के अर्थ शिष्यों की बुद्धि बढ़ाने के लिये कथाभास (अयथार्थ कथा) के प्रकरण में उत्तरोत्तर जो मिथ्याउत्तर दिखाये हैं ॥

प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः । ४९॥

व्यभिचारी होने से प्रयत्नजन्यत्व हेतु शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि नहीं कर सकता, यह दोष जो तुमने दिया है, वह हमारे हेतु प्रयत्नाभिव्यक्तत्व (प्रयत्न से प्रगट होने) में भी दोष तुल्य ही है; अथवा व्यभिचार दोष से असाधक बना के जो मेरे हेतु का खंडन किया है, वह प्रतिषेध (खंडन) भी व्यभिचारी होने से असाधक (अप्रमाण) है; क्योंकि वह (खंडन) सब को असाधक नहीं बना सकता, जिससे अपने आप को ही असाधक नहीं बनाता, ४९ ।

सर्वत्रैवम् ५० ।

यह समानता (हेत्वाभास आशंका की आज्ञा) कार्य

समा में ही है; इस संशय की निवृत्ति के अर्थ कहा है, सब जातियों में ऐसे ऐसे उत्तर होसकते हैं; जैसे कि कार्य होनेसे शब्द अनित्य है, इस पर नित्य आकाश के साधर्म्य अमूर्तत्व से शब्द नित्य हो, इस साधर्म्यसमा का उत्तर आकाश के साधर्म्य से यदि शब्द नित्य हो, तौ आकाश की नाईं शब्द में परम महत्परिमाण रहे, यह उत्कर्षसमा है; इसी रीति और भी जानलो, यद्यपि यह क्रम षट्पक्षी दिखा के पीछे से दिखाना योग्य था; तो भी त्रिपक्षी आदि का सूचन करने के अर्थ यहां ही दिखाया है, दोनों (वादी और विवादी) की अति अज्ञता जनाने के अर्थ षट्पक्षी कही है; त्रिपक्षी में भी यह फल तुल्य ही है; तीन पक्षों में ही जब मध्यस्थ पर्यनुयोज्योपेक्षण नामी निग्रहस्थान को प्रगट करेगा, तौ कथा (विचार) समाप्त होजावेगी, पुनः क्षेपक कहांसे प्रवृत्त होंगे, इसका उत्तर यह है, कि मनुष्यों के ज्ञान की विचित्रता से ये प्रवृत्त होते हैं। ४०

प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः ४१

तुल्य सामर्थ्य के दो पदार्थों का परस्पर विरोध विप्रतिषेध कहाता है; प्रतिषेध (खंडन) के विप्रतिषेध (विरोध) में भी खंडन के समान ही दोष है; जैसे कि यत्न से विना कभी ना होसकने से घट आदि की नाईं शब्द अनित्य है, यह सिद्धान्ती का १म पक्ष है; प्रयत्न से विना न होने के योग्य कीलकादि

की नाईं शब्द भी यत्न का कार्य नहीं है, सो कार्यसम (मिथ्यास्वरूपासिद्धि) दोष लगा, यह प्रतिवादी का २ य पक्ष है; दोनों पक्षों में व्यभिचार दोष तुल्य है, यह वादी (सिद्धांती) का ३ य पक्ष है; यह (तुल्यविरोध) की विप्रतिषेध है, इस पर भी व्यभिचार अथवा कोई अन्य दोष देना, यह ४ र्थ पक्ष है; । ४१ ॥

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्र
तिषेधे समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ४२

पांचवां पक्ष दिखाते हैं, कि दोष युक्त प्रतिषेध (द्वितीय) पक्ष को मान के अर्थात् दोषका उद्धार ना करके प्रतिषेध (२ य पक्ष) के विप्रतिषेध (खंडन) ३ य पक्ष में तुल्य दोष देने से तुम (जातिवादी) मतानुज्ञा नामी निग्रहस्थान में आगये हो; अर्थात् दोषों का उद्धार ना करने से प्रतीत हुआ, कि मेरे (वे दोष) तुमने मान लिये, इससे तुम परास्त हो; यह ५ वां पक्ष है । ४२ ॥

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे
हेतुनिर्देशे परपक्षदोषाभ्युपगमा
त्समानो दोष इति । ४३ ॥

छठा पक्ष दिखाते हैं, स्वपक्ष (सिद्धांती के ३ य पक्ष) पर प्रथम १ म पक्ष में दोष कोई भी ना देके अपने पक्ष की उपपत्ति (सिद्धि) करने के अर्थ जो तुमने हेतु दिया है, कि दोनों पक्षों में व्यभिचार दोष तुल्य है; इसलिये तुमने भी मेरे पक्ष १ म (खंडन) पक्ष

का स्वीकार कर ही लिया; तो तुम (सिद्धान्ती) भी मतानुज्ञा नामी निग्रहस्थान में आजाने से परास्त हुए; यह ६ ठा पक्ष है, इसरीति छे पक्षों के विचार में दोनों असंगत कहने जाते हैं; इससे प्रयोजन कुछ नहीं सिद्ध होसकता, और यदि सिद्धान्ती जातिवादी को यथार्थ उत्तर् देता जावे, तब ये छे पक्ष प्रवृत्त ही नहीं होसकते । ४३ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में कथाभास (मिथ्याविचार) के निरूपण का ८६ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में ५ वें अध्याय का १ मं आह्निक समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालंन्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभाविक्षेपोमतानुज्ञापर्यनुयोज्योपेक्षणंनिरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तोहेत्वाभासाश्चनिग्रहस्थानानि । १ ॥

अब निग्रहस्थानों के विशेष लक्षण किये हैं, यह ही इस आह्निक का प्रयोजन है, इस आह्निक में सात प्रकरण हैं, जिन में से आदि में प्रतिज्ञा और हेतु के आश्रित पांच निग्रहस्थानों के विशेष लक्षणों का प्रकरण है, अन्य प्रकरणों के नाम उन के स्थान पर लिखे जावेंगे, विशेष लक्षण करने की इच्छा से आदि में निग्रहस्थानों के विशेष विभाग दिखाये हैं; कि प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त और हेत्वाभास, ये २२ बाईस निग्रहस्थान हैं; इस सूत्र में चकार पढ़ने का यह तात्पर्य है, कि ये तो निग्रहस्थान हैं, परन्तु किसी रोग से

अथवा शीघ्रता से वाणी का रुक जाना आदि निग्रहस्थान नहीं कहावेंगे, यह प्राचीनों का सिद्धांत है; नवीन कहते हैं, चकार से दृष्टांत में हेतु का ना होना आदि भी बिन कहे निग्रस्थानों में गिन लेने । १ ॥

प्रतिदृष्टान्तधर्म्माभ्यनुज्ञास्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः । २ ॥

अब क्रम से प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थानों के विशेष लक्षण करने के अवसर में आदि में सब से प्रथम निग्रहस्थान प्रतिज्ञाहानि का लक्षण किया है; कि स्व (अपने) दृष्टांत (पक्ष) में प्रतिदृष्टांत (विरुद्धपक्ष) के धर्म की अभ्यनुज्ञा (स्वीकार) को प्रतिज्ञाहानि कहते हैं; अर्थात् विरोध करके कहे मत को त्याग के अन्य (विरुद्ध) मत के स्वीकार को प्रतिज्ञाहानि कहते हैं; सिद्धांत को विरोध करके आप नहीं कहा जाना, कि इसे अपसिद्धान्त से मिलावें, पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, साध्य और किसी अन्य अंग की हानि के भेद से यह (प्रतिज्ञाहानि) पांच प्रकार की है, जैसे किसी ने कहा, कार्य होने से शब्द अनित्य है, इस पर यही यह शब्द है, इस प्रत्यभिज्ञा केवल से किसीने बाध दोष दिया, तो उत्तर देना कि हमने शब्द नहीं पक्ष किया, किन्तु घट पक्ष किया है, इसी रीति उक्त अनुमान में ऐंद्रियकत्व हेतु रखने से किसीने व्यभिचार दोष दिया, तो उत्तर देना, कि कार्यत्व ही हेतु हो, और पर्वत में वह्नि की सिद्धि करने के अर्थ लोह पिंडका दृष्टांत देने पर जो किसी-

ने दृष्टान्त में साध्यासिद्धि दोष दिया, तौ उत्तर देना कि महानस सदृश दृष्टान्त होवे; पर्वत में सिद्ध साधन का उत्तर देना कि इंधन (काष्ठ) ही साध्य होवे; विशेषण हानि को अन्य हानि कहते हैं, उक्त अनुमान में नील धूम हेतु करने से नील विशेषण को व्यर्थ कहा, तौ उत्तर देना कि धूम ही हेतु होवे । २ ॥

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधेधर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशःप्रतिज्ञान्तरम् । ३ ॥

प्रतिज्ञान्तर का लक्षण करते हैं, प्रतिज्ञात (मानेहुए) अर्थ का प्रतिषेध (खंडन) होजाने पर धर्म (अन्य विशेषण) के विकल्प (निवेश) से उसी (मानेहुए) अर्थ का निर्देश (कथन) प्रतिज्ञान्तर होता है; अर्थात् माने हुए अर्थ में जब किसी ने कोई दोष दिया, तौ उस दोष का उद्धार करने के अर्थ अन्य विशेषण देके उसी अर्थ को पुनः कहना, प्रतिज्ञान्तर होता है; इस से बहुत शीघ्र कहे पदार्थ में आपही दोष जानकर विलंब से भी कोई विशेषण दिया जावे, तौ प्रतिज्ञान्तर नहीं कहावेगा; यहां प्रतिज्ञात अर्थ हेतु से भिन्न अर्थ को जनाता है, इस से उदाहरण में अथवा उपनय में अन्य विशेषण देना भी प्रतिज्ञान्तर में ही आजावेगा; पक्ष और साध्य में विशेषण के भेद से ये प्रत्येक प्रतिज्ञान्तर दो दो प्रकार के हैं; जैसे कि शब्द अनित्य है, इस पर किसी ने ध्वनि को नित्य मान के बाध दोष दिया, तौ पक्ष (शब्द) में व-

र्णात्मकत्व विशेषण देके उत्तर देना, कि वर्णात्मक शब्द ही पद होवे; यह प्रकृत का उपयोगी होनेसे अर्थान्तर नहीं है; और पहिले कहे अर्थका त्यागना करने से प्रतिज्ञाहानि भी नहीं है; इसी रीति सुगंधियुक्त मलिन धूम देखकर पर्वतमें वह्नि की अनुमिति करने से किसीने दोष दिया; कि हेतु (धूम) में सुरभि और मलिन विशेषण व्यर्थ हैं; तो उत्तर देना काले अगर की आगसाध्य है; इसी रीति उदाहरण आदि में अन्य विशेषण देने से भी प्रतिज्ञान्तर जानना । ३ ॥

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ४।

प्रतिज्ञा विरोध का लक्षण करते हैं, इस सूत्र में प्रतिज्ञा और हेतु शब्द से कथा (विचार) में कहे वाक्य लेने; अर्थ यह हुआ, विचार के समय कहे हुए अपने दो वाक्यों के परस्पर विरोध को प्रतिज्ञा विरोध कहते हैं; यद्यपि स्वर्ण के पर्वत में वह्नि की सिद्धि के समय पक्षासिद्धि, पर्वत में स्वर्ण की वह्नि सिद्ध करने के समय साध्याप्रसिद्धि और स्वर्ण के धूम से वह्नि की सिद्धि करने के समय हेत्वप्रसिद्धि आदि दोष भी लगते हैं; तो भी दोषों के भेद से एकता नहीं आसकती; और प्रतिज्ञा विरोध से विना अन्य दोष जहां कोई ना आवे, वह यह है; धूम के देखने से प्रतीत होता है, कि पर्वत में अग्नि है; जहां २ धूम होता है, वहां वह्नि नहीं होती ऐसे उदाहरण में, पर्वत में भी वह्नि नहीं है, इस उपनय में, और ऐसे निगमन में

प्रतिज्ञाविरोध दोषही आता है; ।४॥

पक्षप्रतिषेधेप्रतिज्ञातार्थापनयनं
प्रतिज्ञासंन्यासः ।५॥

प्रतिज्ञा संन्यास का लक्षण करते हैं, पक्ष (अपनेमत) का प्रतिषेध (खंडन) दूर करने के अर्थ माने हुए अर्थके अपनयन (परित्याग) को प्रतिज्ञा संन्यास कहते हैं; यथा इंद्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष होने से सिद्ध हुआ कि शब्द अनित्य है; इस अनुमान पर किसीने जाति में व्यभिचार दोष दिया, तो उसका उत्तर देना, कि हमने कब कहा है, शब्द अनित्य है। ५॥

अविशेषोक्ते हेतौ विशेषमिच्छतो
हेत्वन्तरम् । ६॥

हेत्वंतर का लक्षण करते हैं, पहिले कहे हुए हेतु (साधक) में प्रतिपक्षी के दिये दोषों का उद्धार करने के अर्थ उसी हेतु में अन्य विशेषण देना, अथवा इस हेतु को त्याग के अन्य हेतु कर लेना, इन दोनों को हेत्वंतर नामी निग्रहस्थान कहते हैं; अर्थात प्रतिवादी के दिये हुए दोषों का उद्धार करने की इच्छा से पहिले स्वीकृत हेतुतावच्छेदक (हेतुके विशेषण) को त्याग के अन्य हेतुतावच्छेदक (विशेषण) से हेतु का कथन हेत्वंतर है, पहिले हेतु में अन्य विशेषण देने सेही हेत्वंतर प्राचीनों ने माना है; पहिले माने हुए हेतु अथवा उदाहरण लेने, जैसे किसी ने कहा, बाहर की इंद्रिय से प्रत्यक्ष होने से

सिद्ध है, कि घट आदि की नाईं शब्द भी अनित्य है, इस पर जातिवादी ने सामान्य (जाति) में अभिचार दोष दिया, तो हेतु में सामान्यवत्व विशेषण देना, अथवा हेतु में ऐसा विशेषण देके भी जिस जिस का बाहर की इंद्रिय से प्रत्यक्ष होता है, वे सब अनित्य हैं, इस उदाहरण में भी न्यूनता को दूर करने के अर्थ अन्य विशेषण देना, इसी रीति उपनय में अन्य विशेषण देना आदि हेत्वंतर जानने । ६ ॥

इति न्यायसूत्र वृत्ति में प्रतिज्ञा और हेतु के आश्रित प्रतिज्ञाहानि आदि पांच निग्रहस्थानों के निरूपण का ७८ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥

प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् । ७ ॥

अर्थान्तर का लक्षण करते हैं, प्रकृत (कार्य के अनुकूल) अर्थ की उपेक्षा (त्याग) करके असंबद्ध अर्थ का कथन अर्थान्तर कहाता है, अर्थात् प्रकृत (कार्य की सिद्धि) में जिस की कुछ भी अपेक्षा न हो, बिना प्रसंग के ऐसे पदार्थ का कथन अर्थान्तर नामी निग्रहस्थान होता है, जैसे किसी ने कहा कार्य होने से शब्द अनित्य है, इस पर कहना कि शब्द तो गुण है, और आकाश में रहता है ।

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् । ८ ॥

निरर्थक का लक्षण करते हैं, शक्ति (अभिधा),

विरुद्ध (प्राचीन प्रमाणों से सिद्ध) लक्षण और शास्त्र की परिभाषाओं के द्वारा जो शब्द किसी अर्थ का भी बोध नहीं करा सकते, गजडदब इन अक्षरों की नाईं ऐसे शब्दों के प्रयोग को निरर्थक नामी निग्रहस्थान कहते हैं; परन्तु जहां कोई संकेत ना हो, वहां ही इसकी प्राप्ति है, क्योंकि जहां अपभ्रंश (व्याकरण से विरुद्ध) शब्दों से व्यवहार करने का संकेत हो, वहां अपभ्रंश शब्दों से ही व्यवहार होता है; शीघ्रता से चित्त का विभ्रम होजाने पर कोई निग्रहस्थान नहीं होता, यह पीछे कह ही आए हैं, यह (निरर्थक) प्रमाद से होता है । ८ ॥

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्य
विज्ञातमविज्ञातार्थम् । ९ ॥

अविज्ञातार्थ का लक्षण करते हैं, प्रमाद से चित्तकी चांचल्य हर करने की कामना से वादी जिस अर्थ को तीन वेर भी कहे, परन्तु एक वार चित्त को स्थिर करके सुनने पर भी कोई सभासद विद्वान अथवा प्रतिवादी भी जिस अर्थ को ना जान सके; तो ऐसे अर्थ के कथन से वादी अविज्ञातार्थ नामी निग्रहस्थान में आके परास्त होजाता है; और इस (अविज्ञातार्थ) में शक्ति (अभिधा) के द्वारा पदार्थ का कथन होने से निरर्थक और अपार्थक से भेद आजाता है; अन्य पुरुषों की बुद्धि में पदार्थ के ना आनेसे मैं जानजाऊंगा, इस भ्रम से पुरुष ऐसे वाक्य

कहता है, जिस किसी उपाय से जब दूसरे को जीतलेना है, तौ ना समुझने से अज्ञान नामी निग्रहस्थान ही प्रतिवादी पर लगा दो; सभासदों की बुद्धि में जो पदार्थ आजावे, और प्रतिवादी की बुद्धि में ना आवे, तब अज्ञान नामी निग्रहस्थान की प्राप्ति हो; वहीं तौ हानि के समय अति दुर्बोध पदार्थ कहके सब कोई जीत जावे, यह (अविज्ञातार्थ) तीन रीति से प्रवृत्त होता है, केवल एक शास्त्र में प्रसिद्ध पदार्थों को लेकर जैसे बौद्धों के ५ स्कंध कहे हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, चक्षु, रसना, घ्राण, त्वचा, और श्रोत्र इन्हें रूपस्कंध कहते हैं; सविकल्पक ज्ञान को संज्ञास्कंध, राग, द्वेष और अभिनिवेश को संस्कारस्कंध, सुख और दुःख को वेदनास्कंध, और निर्विकल्पक को ज्ञानस्कंध कहते हैं; दूसरे जो अर्थ जगत में और शास्त्र में कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है, जैसे कि शिवजी की ध्वजा देखने से प्रतीत होता है, कश्यप के पुत्र (वामन) के धैर्य का कारण यह मनुष्य महादेव के तुल्य नाम रखता है; तीसरे श्लिष्ट (अनेकार्थक) शब्दों के प्रयोग (उच्चारण) से जैसे श्वेतो धावति और बहुत शीघ्र कहने से भी अविज्ञातार्थ होता है, यह भाष्य की सम्मति है, यहां पहिला भेद नहीं आसकता, क्योंकि मध्यस्थ जब दो शास्त्र में अभिज्ञ हैं, तौ दो शास्त्रों में अभिज्ञों का ही विचार होसकता है; तौ भी जहां नैयायिक और मीमांसकों के विचार में

कोई एक बौद्धों की परिभाषा से बोले तो वह निगृहीत (पराजित) होगा; और जहां एक ने कहा, जिस परिभाषा से इच्छा हो कहो; वहां इस (अविज्ञातार्थ) निग्रहस्थान का तीनों में से कोई एक भेद भी नहीं आसकता; किन्तु अङ्गीकार करने से वहां किसी ना किसी परिभाषा के अज्ञान से निगृहीत होजाता है।९

पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थ
मपार्थकम्। १० ॥

क्रम से प्राप्त अपार्थक का लक्षण करते हैं; पौर्वापर्य्य (कार्यकारणभाव) के अयोग (ना होसकने) से अप्रतिसंबद्ध (असंगत) अर्थ के कथन को अपार्थक नामी निग्रहस्थान कहते हैं, यद्यपि दस दाडिम, छ पूड़े, कुंड, अजा, चर्म इत्यादि निराकांक्ष वाक्यों में भी अवांतर वाक्यार्थबोध होते ही हैं; इस से अव्याप्ति और निरर्थक में अतिव्याप्ति दोष लगता है, तो भी अभिलषित वाक्यार्थ बोध के अनुकूल आकांक्षा, योग्यता आदि से रहित शाब्दबोध के कारण पद का उच्चारण अपार्थक नामी निग्रहस्थान होताहै, अविज्ञातार्थ में तो मध्यस्थ और प्रतिवादी को बोध ना भी हो, परन्तु वादी को बोध होता ही है; इस से अविज्ञातार्थ आदि में अतिव्याप्ति नहीं लगी, शाब्द बोध के कारण योग्यता ज्ञान, आकांक्षा ज्ञान आदि की सामग्री (समूह) जिस वाक्य में ना होवे, वह वाक्य इस अपार्थक का उदाहरण जानना, । १० ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में अभिलषित वाक्यार्थबोध के प्रतिबंधक चार निग्रहस्थानों के निरूपण का १८ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❁ ॥ ❁ ॥

अवयवविपर्य्यासवचनमप्राप्त कालम् । ११ ॥

क्रम से प्राप्त अप्राप्तकाल का लक्षण करते हैं, अवयव (कथा के एक भाग) का विपर्यास (विपरीतता) से वचन (कथन) अप्राप्तकाल है; अर्थात् संकेत से माने हुए कथा के क्रम को त्याग के विपरीत (विरुद्ध) क्रम से कथा के किसी अवयव (खंड) का कथन अप्राप्त काल निग्रहस्थान होता है; इसका यह क्रम है, कि वादी भलीभांति अपने पक्ष की सिद्धि करके सामान्य रूप से हेत्वाभासों का उद्धार करेगा; यह १ म पक्ष है, इस पर प्रतिवादी ने दोष देने यह २ य पक्ष है; और अपने पक्ष की सिद्धि करके उस में से हेत्वाभासों का उद्धार करना यह प्रतिवादी (विरोधी) का ३ य पक्ष है; इस की जय और इस की हानि हुई यह जय पराजय की व्यवस्था बांधनी ४ र्थ पक्ष है; इसीरीति प्रतिज्ञा आदि पांच अवयव जिस क्रम से सूत्रकार ने कहे हैं, सभा के भय से अथवा किसी अन्यक्रम से इन अवयवों को आगे पीछे करके कह देना अप्राप्त काल नामो निग्रहस्थान कहाता है; पदों का अर्थ यह है, अन्य पदार्थ के अवसर में अन्यपदार्थ का कथन अप्राप्त काल है । ११ ॥

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेनन्यूनम् १२

न्यून का लक्षण करते हैं, अपने शास्त्र में निश्चित अवयवों में से अन्यतम (किसी एक) अवयव से हीन वाक्य में न्यून नामी निग्रहस्थान होता है; बौद्ध शास्त्र में दो ही अवयव माने हैं, इस से बौद्धों को दो अवयवों के कहने पर भी कोई न्यूनता नहीं है; यदि कोई कहे, कि अवयव हीन कहने से प्रतीत होता है, कि अवयवों का सामान्य निषेध होने से न्यून होता है; तो अकथन (अननुभाषण) ही कहे उत्तर ? ऐसे सूत्र में अन्यतम पद दिया है, अर्थात किसी एक अवयव को त्याग के अन्य अवयवों का कथन न्यून है; इसे अपसिद्धान्त भी नहीं कह सकते, क्योंकि सिद्धांत से विरुद्ध कुछ नहीं कहा, किन्तु सभा के लोभ से कहा नहीं गया; । १२ ॥

हेतूदाहरणाधिकमधिकम् । १३ ॥

अधिक का लक्षण करते हैं, किसी प्रयोजन से कहे रूप हेतु, उदाहरण, दोष आदि को बिना प्रयोजन के पुनः कहना अधिक नामी निग्रहस्थान है; अवार में पुनः कथन कार्य नहीं होता, प्रतिज्ञा का पुनः कथन पुनरुक्त होता है, महानस की नाईं, चत्वर की नाईं धूम से, आलोक से पर्वत में आग है; बिना संकेत के रचना के भ्रम से कहे हेतु आदि अधिक हैं; महानस की नाईं महानस यह अधिक नहीं किन्तु पुनरुक्त है । १३ ॥

इति न्यायसूत्र वृत्ति में अपने सिद्धांत के अनुकूल किया प्रयोग ३ तीन निग्रहस्थानों के निरूपण का ७४ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तम न्यत्रानुवादात् । १४ ॥

पुनरुक्त का लक्षण करते हैं, अनुवाद से विना शब्द और अर्थ का पुनः कथन पुनरुक्त है; अनुवाद में किसी प्रयोजन से पुनः कथन होता है, और इस (पुनरुक्त) में व्यर्थ पुनः कथन होता है, इतना भेद है; शब्दार्थयोः इस द्विवचन से प्रतीत हुआ, कि शब्द पुनरुक्त और अर्थपुनरुक्त इसरीति पुनरुक्त दो प्रकार का है; अर्थात एक शब्द से कहे अर्थ को उसी शब्द से व्यर्थ पुनः कहना शब्द पुनरुक्त है; और एक शब्द से कहे अर्थ को किसी अन्य शब्द से व्यर्थ पुनः कहना अर्थ पुनरुक्त है; घटो घटः यह शब्द पुनरुक्त और घटः कलशः यह अर्थ पुनरुक्त है, प्रमाद आदि दोषों से इसकी प्रवृत्ति होती है; । १४॥

अनुवादेत्वपुनरुक्तंशब्दाभ्यासाद र्थविशेषोपपत्तेः । १५ ॥

पुनरुक्त का अनुवाद से भेद दिखाते हैं, अनुवाद में तो विशेष अर्थ के लाभ का कारण होने से पुनः कथन व्यर्थ नहीं होसकता; । १५ ॥

अर्थादापन्नस्यस्वशब्देनपुनर्वचनम् (१६

पुनरुक्त का अन्य भेद दिखाते हैं; जिस शब्द के का

हने से जिस अर्थ की स्वाभाविक प्रतीति हो, उस अर्थ का पुनः कथन अर्थपुनरुक्त कहाजाता है; जैसे वह्नि उष्ण है, यहां पूर्वपद (वह्नि) से ही उष्णताका बोध होजाने से उष्ण कहना व्यर्थ है; ऐसे ही उष्ण वह्नि यहां उत्तर (वह्नि) पद से ही आक्षेप होगा, पुनः उष्ण पद व्यर्थ है; चैत्र घर में है यहां बाहर ना होने का आक्षेप है, चैत्र घरमें नहीं है, यहां बाहर होने का आक्षेप है; ये तीन भेद पुनरुक्त के भाष्य में भी लिखे हैं, कोई कहते हैं, कि शब्द पुनरुक्त दो प्रकार के हैं, उसी शब्द से और पर्याय से पुनः कथन और सब अर्थ पुनरुक्त हैं; । १५ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में पुनरुक्त नामी निग्रहस्थान के निरूपण का १० वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥

विज्ञातस्यपरिषदात्रिरभिहितस्या
प्यनुच्चारणमननुभाषणम् । १६ ॥

अननुभाषण का लक्षण करते हैं, परिषत् (सभा) ने जिस अर्थ को भली भांति विशेष रूप से जान लिया है; और वादी ने जो अर्थ तीन बार कह दिया हो, पुनः प्रतिवादी सुन के भी मौन धारण करे, कुछ भी ना बोले तो अननुभाषण नामी निग्रहस्थान में आके प्रतिवादी पराजित होजाता है; इससे यह भी जनाया, कि एक वार कहने से जो अर्थ प्रतिवादी की बुद्धि में ना आवे, तो वह अर्थ तीनवार

अवश्य कहना योग्य है; इस में प्राचीन आचार्यों का यह आशय है, कि अज्ञान और विक्षेप में अतिव्याप्ति दूर करने के अर्थ जो अज्ञान को नहीं प्रकाश करना और छल आदि से जिसने कथा में विच्छेद (विघ्न) नहीं पाया, ऐसा प्रतिवादी तीनवार सुन के मौन धारण करने से निगृहीत होता है, उत्तर ज्ञान के भी मौन करने से अननुभाषण होता है, इससे अप्रतिभा में अतिव्याप्ति नहीं लगती; यह (अननुभाषण) चार रीति से प्रवृत्त होता है; १म एक देश का अनुवाद करने से, २य विरुद्ध अनुवाद करने से, ३य केवल दोष देने से और अर्थ मौन धारण करने से, आचार्य कहते हैं, ४म सबके नाम शब्दों के द्वारा अनुवाद करने से, जहां अज्ञान अप्रतिभा और अननुभाषण तीनों रूप प्रतीत हों, वहां जो एक निश्चित हो, उसे प्रकाश कर देना; । १७ ॥

अविज्ञातं चाज्ञानम् । १८ ॥

अज्ञान का लक्षण करते हैं, जिस अर्थ को परिषत् (सभा) ने भलीभांति विशेष रूप से जान लिया और वादीने दृढ़ निश्चय कराने के अर्थ जिसे तीनवार कह दिया; उस अर्थ के न जानने को अज्ञान कहते हैं; इस सूत्र में सभा करके ज्ञात इत्यादि अर्थ के जनाने के अर्थ चकार पढ़ा है; क्या कहते हो हमने तो कुछ नहीं समझा, ऐसे २ वाक्य सुन के इस (अ-

ज्ञान) को जान सकते हैं; । १८ ॥

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा । १९ ॥

क्रम से प्राप्त अप्रतिभा का लक्षण करते हैं, उत्तर देने के योग्य वादी के कहे पदार्थ को भलीभांति जान के भी उत्तर के समय जहां उत्तर ना दियाजावे, वहां अप्रतिभा नामी निग्रहस्थान होता है, और इसे अननुभाषण में भी नहीं लासकते, क्योंकि जहां वादी के कहे पदार्थ का अनुवाद भी ना कियाजावे, केवल मौन ही कालियाजावे, वहां अननुभाषण होता है; जहां भली भांति अनुवाद करके भी उत्तर ना दियाजावे, वहां अप्रतिभा नामी निग्रहस्थान होताहै; उत्तर ना देके अपनी प्रशंसा के अर्थ पढ़े श्लोक आदि से मनुष्य इस (अप्रतिभा) को जान सकता है; अर्थात समय पर सहज उत्तर का ना फुरना अप्रतिभा है। १९ ॥

कार्यव्यासङ्गात्कथाविच्छेदोविक्षेपः २०।

क्रम से प्राप्त विक्षेप का लक्षण करते हैं, कथा (विचार) के समय अन्य समय में ना होने के योग्य किसी आवश्यक कार्य के व्यासंग (रोध) का उद्भावन (छल) कर के कथा में विच्छेद (अंतर) डालना, विक्षेप नामी निग्रहस्थान होता है; ऐसा अर्थ करने से यदि राजा के यहां बंधा चलाजाय, अथवा किसी यथार्थ आवश्यक कार्य के लिये गृह में चलाजावे, अथवा घर में आग लगी हुई देख के चलाजावे, अथवा शिर आदि अंगों की यथार्थ पीड़ा से रुका हो, तो उत्तर ना

देने पर भी विक्षेप नामी निग्रहस्थान में नहीं आसकता, इस पर आशंका है, कि कार्य का आसंग (रोध) कैसे कहा है; सभा के क्षोभ (भय) से कहो, तो अननुभाषण ही होवे, उत्तर के ना स्मरण से कहो, तो अप्रतिभा ही होवे; उत्तर यह है, कि समय (उत्तर का अवसर) ना होने से विक्षेप होता है; वास्तव यह है, उत्तर आने पर भी अन्यदोष के भय से विक्षेप होसकता है; जैसे किसी ने कहा कार्य होनेसे पृथ्वी कर्ता से जन्य है, इस पर अंकुर में व्यभिचार देना मुझे योग्य है, परन्तु वादी अंकुरको भी पक्ष ही मान लेगा, तो मैं क्या उत्तर देऊंगा, इसका उत्तर एक ग्रंथमें लिखा तो है, मैं किसी कार्य के व्याज से घर चल के उसे देखूं; ऐसे स्थान में विक्षेप होता है; २० ॥

इति न्यायसूत्र वृत्ति में अननुभाषण आदि चार निग्रहस्थानों के निरूपण का ८१ वां प्रकरण समाप्त हुआ।

स्वपक्षदोषाभ्युपगमात्परपक्षदोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा । २१ ॥

मतानुज्ञा का लक्षण करते हैं, अपने पक्ष से दोषका उद्धार करने से विनाही पर (शत्रुके) पक्ष में दोष देना मतानुज्ञा नामी निग्रहस्थान होता है; जैसे किसी ने कहा, श्रोत्र के द्वारा प्रत्यक्ष होने से सिद्ध है, कि शब्द अनित्य है; इस पर किसी ने ध्वनि में व्यभिचार दोष दिया; वादी ने इस (व्यभिचार) का वारण करने से विना ही कह दिया, कि कार्य होने से शब्द अनित्य है,

इस तमारे अनुमान में भी स्वरूपासिद्ध दोष लगता है, इसका नाम मतानुज्ञा है । २० ॥

निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्य्योज्योपेक्षणम् । २१ ॥

पर्य्योज्योपेक्षण का लक्षण करते हैं, निग्रहस्थान (पराजय होने के योग्य अशुद्ध पदार्थ) में प्राप्त पुरुष का निग्रह (दोषप्रगट) नहीं करना, पर्य्यनुयोज्योपेक्षण होता है; परन्तु जहां कई निग्रहस्थानों की प्राप्ति है, और उनमें से कोई एक भी बता दिया हो, तो वहां यह (पर्य्यनुयोज्योपेक्षण) नहीं आसकता, किन्तु एक अथवा कई निग्रहस्थानों की प्राप्ति पर कोई भी निग्रहस्थान ना दिखावे, तब यह आता है; यद्यपि अपनी कोपीन की नाईं इसे वादी तो नहीं दिखा सकता, तो भी मध्यस्थ को दिखाना योग्य है; और बाद में वादी के दिखाने पर भी कोई हानि नहीं है । २१ ॥

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः । २२ ॥

क्रम से प्राप्त निरनुयोज्यानुयोग का लक्षण करते हैं, समय पर प्रगट करने के योग्य निग्रहस्थान से भिन्न निग्रहस्थान को बिना अवसर के प्रगट करना निरनुयोज्यानुयोग नामी निग्रहस्थान होता है; इस अर्थ के करने से समय पर निग्रहस्थान के प्रगट करने में और एक निग्रहस्थान पर अन्य निग्रहस्थान के प्रगट क-

इन में लक्षण के ना जाने से अतिव्याप्ति दोष नहीं लगा; (निरनुयोज्यानुयोग) चार प्रकार का है, छलजाति, आभास और अनवसरग्रहण, इन में से व्यभिचार आदि के ऊपर असिद्ध आदि दोष देने को आभास कहते हैं; विना अवसर के दोष को प्रगट करना अनवसरग्रहण कहाता है; जैसे कि यदि हम अपने पक्ष को त्यागें, तो प्रतिज्ञाहानि और यदि कोई अन्य विशेषण देवें, तो हेत्वंतर नामी निग्रहस्थान आता है; इसी रीति समय विना के दोष देना भी निरनुयोज्यानुयोग है, जैसे कहने के समय प्रतीत होने के योग्य अपशब्द को कथा की समाप्ति होने पर प्रगट करना, अथवा मौन धारण करने से प्रतीत होने के योग्य अज्ञान आदि को समय पर प्रगट ना करके अपना बोध प्रगट करने के अर्थ वादी कुछ जब कहने लगा, तो प्रगट करना; इत्यादि । २२ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में मतानुज्ञा आदि तीन निग्रहस्थानों के निरूपण का ८२ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः । २४ ॥

क्रम से प्राप्त अपसिद्धांत का लक्षण करते हैं, सिद्धान्त (अपने शास्त्र में माने पदार्थ) का स्वीकार करके अनियम (शास्त्र के विरुद्ध रीति) से कथा प्रसंग (बातों का कथन) अपसिद्धांत है; अर्थात अपने

शास्त्र में स्वीकृत पदार्थ का कथा में परित्याग अपसिद्धान्त है, जैसे किसी ने प्रतिज्ञा की मैं सांख्य के मत से कहूंगा, पुनः कथा का प्रारंभ होने पर आविर्भाव का आविर्भाव मानने से अनवस्था दोष लगा, इस का उद्धार करने के अर्थ असत् मान के यदि आविर्भाव की उत्पत्ति मानी जावे, तो अपसिद्धांत नामी निग्रहस्थान आता है; क्योंकि असत् पदार्थ के मानने से ही माने हुए सांख्य के सिद्धांत का परित्याग होगया; और जो मनुष्य एकदेशी के मत से कथा का प्रारंभ करता है, उस के कथन से किसी शास्त्रकार के सिद्धांत का कोई विरोध आभी जावे तो अपसिद्धांत नहीं आता; इतनी बात जनाने के अर्थ सूत्र में अभ्युपेत्य कहा है; क्योंकि एकदेशी किसी सिद्धांत का भी स्वीकार नहीं करता; सौगत (बौद्ध) अपसिद्धांत को दोषों में नहीं गिनते यह अन्यबात है। ॥२४॥

हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ।२५।

क्रम से प्राप्त हेत्वाभासों के लक्षण ना करने का बीज (निमित्त) दिखाते हैं; इस सूत्र में चकार का अर्थ पुनः जानना, हेत्वाभास जिन २ धर्मों से पीछे कहे हैं, वैसे ही जानने, क्योंकि उन्हीं हेत्वाभासों के प्रयोग निग्रहस्थान हैं, इसलिये पुनः उन (हेत्वाभासों) के लक्षण करने की कोई अपेक्षा नहीं है; कोई लोग यूं कहते हैं, कि इस सूत्र में

चकार से विन कहे दृष्टांत में हेतु का नाहोना आदि लेलेने, परन्तु यह कथन असंगत है, क्योंकि यथोक्त इन अक्षरों की संगति नहीं लगेगी । २५ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में अपसिद्धांत आदि दो निग्रहस्थानों के निरूपण का ८२ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में निग्रहस्थानों के विशेष लक्षणों का ५ वें अध्याय का २ य आह्निक समाप्त हुआ ॥

ऋषियों में श्रेष्ठ गौतमजी के सूत्रों की सहज वृत्ति (व्याख्या) श्रीकृष्णदेव के परम भक्त श्रीमत् शिरोमणि के वाक्यों का आशय लेकर श्रीविश्वनाथ ने बनाई ॥ ॥

इतिश्री महामहोपाध्याय श्रीविद्यानिवास के पुत्र श्रीविश्वनाथभट्टाचार्य की बनाई न्यायसूत्रवृत्ति का न्यायभास्कर श्रीमत्पंडित ओझा जयपाल जी के पुत्र पंडित सुखदयालु शास्त्री का बनाया हिन्दी में अनुवाद समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥

न्यायसूत्रवृत्ति का सूचीपत्र।

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
मंगलाचरण	क	३
पहिले अध्याय की अवतरणिका	ग	९
न्यायशास्त्र के प्रयोजन और पदार्थों का उद्देश	१	३
तत्वज्ञान से मोक्ष की उत्पत्ति का क्रम	७	१
१ म प्रकरण की समाप्ति	८	१५
प्रमाणों के विभाग और लक्षण	९	१
प्रत्यक्ष का लक्षण	"	१५
अनुमान का लक्षण और विभाग	१२	१
उपमान का लक्षण	१३	१७
शब्द का लक्षण और विभाग	१४	११
२ य प्रकरण की समाप्ति	१५	४
प्रमेयों के विभाग और लक्षण	१६	१
आत्मा के लक्षण	"	२०
शरीर के लक्षण	१७	१४
इन्द्रियों के विभाग	१८	१२
भूतों के विभाग	२०	९
अर्थों के विभाग	२१	७
बुद्धि का लक्षण	२२	४
मन का लक्षण	२३	१
प्रवृत्ति का लक्षण और विभाग	"	२०
दोषों के लक्षण	२४	१५
प्रेत्यभाव का लक्षण	२५	११

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
फल का लक्षण	२६	५
दुःख का लक्षण	२७	१
अपवर्ग का लक्षण	,,	१८
३ रे प्रकरण की समाप्ति	२८	१०
संशय का लक्षण और विभाग	२९	१
प्रयोजन का लक्षण	३०	१६
दृष्टान्त का लक्षण	३१	११
४ थे प्रकरण की समाप्ति	३२	४
सिद्धान्त का लक्षण	३३	१
सिद्धान्त के विभाग	,,	२१
सर्वतन्त्रसिद्धान्त का लक्षण	३४	३
प्रतितन्त्रसिद्धान्त का लक्षण	,,	२२
अधिकरणसिद्धान्त का लक्षण	३५	४
अभ्युपगमसिद्धान्त का लक्षण	३६	१
५ वें प्रकरण की समाप्ति	३७	१६
अवयवों के विभाग	३८	१
प्रतिज्ञा का लक्षण	,,	२२
हेतु का लक्षण और विभाग	३९	७
उदाहरण का लक्षण	४०	१३
व्यतिरेकि उदाहरण का लक्षण	४१	७
उपनय का लक्षण	४२	१
निगमन का लक्षण	,,	२२
६ ठे प्रकरण की समाप्ति	४३	१४

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
तर्क का निरूपण	४४	१
निर्णय का लक्षण	४६	३
७ वें प्रकरण की समाप्ति	,,	१९
प्रथम अध्याय के १म आह्निककी समाप्ति	,,	२१
आह्निकों की संगति	४८	१
वाद का लक्षण	४९	१
जल्प का लक्षण	५०	६
वितण्डा का लक्षण	५२	१२
८ वें प्रकरण की समाप्ति	५३	४
हेत्वाभासों के विभाग और लक्षण	५४	१
सव्यभिचार का लक्षण	५५	१०
विरुद्ध का लक्षण	५८	१६
प्रकरण सम का लक्षण	५९	१३
साध्य सम का लक्षण	६१	३
कालातीत काल का लक्षण	६३	६
९ वें प्रकरण की समाप्ति	६४	१९
छल का लक्षण	६५	१
छलों के विभाग	६६	१
वाक् छल का लक्षण	,,	६
सामान्य छल का लक्षण	६७	१
उपचार छल का लक्षण	,,	१८
छलों के विभाग पर आशंका	६९	९
उस का समाधान	,,	१४

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
उत्तर का सहायक	६९	२०
१० वें प्रकरण की समाप्ति	७०	७
जाति का लक्षण	७१	१
निग्रहस्थान का लक्षण	,,	२२
११ वें प्रकरण की	७२	१८
दूसरे आह्निक की समाप्ति	७२	१६
प्रथम अध्याय की समाप्ति	७२	२०
२ य अध्याय की अवतरणिका	७३	१
संशय के कारणों पर आशंका	७४	१५
संशय का सिद्धान्त	७८	१०
संशय की परीक्षा में अन्यों की परीक्षा	८०	१
१२ वें प्रकरण की समाप्ति	,,	१८
प्रमाणों पर आशंका	८१	१
उत्तर	८३	१६
और उत्तर	,,	२२
और आशंका	८६	६
समाधान	८७	५
१३ वें प्रकरण की समाप्ति	८८	१५
प्रत्यक्ष के लक्षण पर आशंका	८९	१
उत्तर	,,	१६
पुनः आशंका	९०	३
उत्तर	,,	१२
मन की प्रधानता की सिद्धि	,,	२०

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
प्रत्यक्ष का सिद्धान्त	९१	११
पुनः आशंका	९३	२
उत्तर	,,	६
प्रत्यक्ष को अनुमिति मानने का आक्षेप	९४	१
उत्तर	,,	१२
अवयवी के अनुमान का खण्डन	९५	१
१४ वें प्रकरण की समाप्ति	,,	१७
अवयवी का खण्डन	९६	१
उत्तर	९७	१
और उत्तर	,,	२१
पुनः बौद्धों की आशंका और उत्तर	९८	५
१५ वें प्रकरण की समाप्ति	,,	२३
अनुमान का खण्डन	९९	१
समाधान	१००	१८
१६ वें प्रकरण की समाप्ति	१०१	१२
वर्तमान काल का खण्डन	१०२	१
उत्तर	,,	२२
१७ वें प्रकरण की समाप्ति	१०४	१२
उपमान पर आक्षेप	१०५	१
समाधान	,,	१७
उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव	१०६	१
इस का खण्डन	,,	२२
१८ वें प्रकरण की समाप्ति	१०७	८

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
शब्द का खण्डन	१०८	१
समाधान	११०	२१
१९ वें प्रकरण की समाप्ति	१११	१७
वेदों में प्रामाण्य का खण्डन	११२	१
उत्तर	,,	२२
वेदवाक्यों के विभाग	११४	२०
विधि का लक्षण	११५	१
अर्थवाद के विभाग	,,	९
अनुवाद का लक्षण	११६	४
वेदों को प्रमाण मानने में युक्ति	११७	१०
२० वें प्रकरण की समाप्ति	,,	१९
२ य अध्याय के १ म आह्निककी समाप्ति	,,	२०
प्रमाणों की चार संख्या पर आक्षेप	११८	१
उत्तर	११९	१७
चार से अधिक प्रमाणों का खण्डन	१२०	९
२१ वें प्रकरण की समाप्ति	१२४	१५
शब्द में अनित्यत्व के संदेह की युक्ति	१२५	१
शब्द के अनित्यत्व में गौतम का सिद्धांत	,,	२२
सिद्धांत पर आक्षेप	१२७	१
सिद्धान्ती का उत्तर	१२८	१
किसी भ्रांत की आशंका	१३०	१५
पुनः आक्षेप	१३१	१
समाधान	,,	१३

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
पुनः आशंका	१३२	१
उत्तर	"	५
पुनः आशंका	"	१०
उत्तर	१३३	३
आशंका	"	१२
उत्तर	१३४	४
आशंका	"	१५
उत्तर	"	२२
भेद का खण्डन	१३५	६
समाधान	"	१६
पुनः आक्षेप	१३६	२
उत्तर	"	५
सिद्धान्त	"	२१
आशंका	१३७	२२
उत्तर	१३८	१०
११ वें प्रकरण की समाप्ति	"	१९
शब्द को परिणाम मानने का संदेह	१३९	१
इस का खण्डन	"	१८
सांख्यकार का आक्षेप	१४०	६
उत्तर	"	२१
पुनः आशंका	१४१	२५
समाधान	"	२०
शब्द में विकार का व्यवहार	१४२	६

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
२३ वें प्रकरण की समाप्ति	१४८	२
पद का वर्णन	,,	४
पद के अर्थ में संदेह	१४९	१
केवल व्यक्ति में शक्ति का मत	,,	१९
केवल व्यक्ति में शक्ति का खण्डन	१५०	१४
आकृति में शक्ति का मत	१५२	१४
केवल जाति में शक्ति	१५३	१
केवल जाति में शक्ति का निषेध	,,	१५
पदार्थ का सिद्धान्त	१५४	१९
व्यक्ति का लक्षण	,,	२०
आकृति का लक्षण	१५५	१४
जाति का लक्षण	,,	२१
२४ वें प्रकरण की समाप्ति	१५६	२२
२ य अध्याय में २ य आह्निक की समाप्ति	,,	२४
२ य अध्याय की समाप्ति	,,	२६
३ य अध्याय की अवतरणिका	१५७	१
इन्द्रियों को चेतन मानने का खण्डन	१५८	४
आशंका	,,	१५
सिद्धांती का उत्तर	,,	२२
२५ वें प्रकरण की समाप्ति	१५९	११
शरीर को चेतन मानने का खण्डन	,,	१३
आशंका	१६०	३
समाधान	,,	१४

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
१६ वें प्रकरण की समाप्ति	१६१	८
चक्षु इंद्रिय में एकता की सिद्धि का प्रकरण	१६१	१०
इस का खण्डन	१६२	१
समाधान	१६२	५
१७ वें प्रकरण की समाप्ति	१६४	७
मन को चेतन मानने की आशंका	,,	९
उत्तर	,,	१४
१८ वें प्रकरण की समाप्ति	१६६	१२
आत्मा में नित्यत्व की सिद्धि	,,	१४
आशंका	१६७	१०
सिद्धान्ती का उत्तर	,,	१८
१९ वें प्रकरण की समाप्ति	१७०	१
शरीर में एक भूत से उत्पन्न होने की सिद्धि	,,	२
शरीर को पार्थिव मानने में अन्य युक्ति	१७१	१०
२० वें प्रकरण की समाप्ति	१७२	१२
इंद्रियों में भौतिकत्व की परीक्षा	,,	१४
सांख्य के मत से बौद्धों का खण्डन	१७३	११
इंद्रियों के विषय में सांख्य का खण्डन	१७४	१
बौद्धों की आशंका	,,	१३
उत्तर	,,	१८
चक्षु का प्रत्यक्ष न होने में युक्ति	१७५	६
२१ वें प्रकरण की समाप्ति	१६१	१३
बहुत इंद्रियों के मानने की परीक्षा	,,	१५

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
३२ वें प्रकरण की समाप्ति	१८५	१४
गुणों की परीक्षा	”	१६
३३ वें प्रकरण की समाप्ति	१९०	४
३ य अध्याय के १ म आह्निक की समाप्ति	”	५
बुद्धि में अनित्यता का संदेह	१९१	२
बुद्धि को नित्य मानने में सांख्य का मत	”	१५
सिद्धान्ती का उत्तर	१९२	६
बुद्धि को नित्य मानने में सांख्य की अन्य युक्तियोंका खंडन	”	१२
न्याय के मत से एक क्षण में अनेक ज्ञानों के न उत्पन्न होने की युक्ति ..	१९३	६
क्षणिक विज्ञान वादी बौद्ध की आशंका ..	१९४	९
इस का खण्डन	”	१५
३४ वें प्रकरण की समाप्ति	१९५	५
सब पदार्थों को क्षणिक मानने में बौद्धों का मत	१९५	७
न्याय मत से बौद्धों का खण्डन	१९६	४
सिद्धान्त की सहायक युक्ति	”	११
पुनः बौद्धों की आशंका	”	१७
न्याय का सिद्धान्त	१९७	१
बौद्ध के मत पर सांख्य का आक्षेप	”	९
सांख्य का खंडन और न्याय का सिद्धान्त	”	१५
३५ वें प्रकरण की समाप्ति	१९८	१५
बुद्धि आत्मा का गुण है, इस की सिद्धि ...	१९९	१
३६ वें प्रकरण की समाप्ति	२११	१७

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
उत्पत्ति से अनन्तर तीसरे क्षण में बुद्धि के नाश की सिद्धि	२११	१९
३७ वें प्रकरण की समाप्ति	२१४	१
शरीर में विशेषरूप से बुद्धि का खण्डन	"	३
३८ वें प्रकरण की समाप्ति	२१८	१५
परीक्षा के द्वारा प्रति शरीर में एक मन की सिद्धि	"	१६
३९ वें प्रकरण की समाप्ति	२२०	७
जीवों के अदृष्ट से देह की उत्पत्ति की सिद्धि	"	९
४० वें प्रकरण की समाप्ति	२२६	१६
३ य अध्याय के २ य आह्निक की समाप्ति	"	१८
३ य अध्याय की समाप्ति	"	१९
४ र्थ अध्याय की अवतरणिका	२२७	१
प्रवृत्ति की परीक्षा	"	१३
दोषों की परीक्षा	२२८	२०
४१ वें प्रकरण की समाप्ति	"	२३
दोषों के तीन समूहों की सिद्धि	२२९	१
४२ वें प्रकरण की समाप्ति	२३३	९
प्रेत्यभाव का सिद्धान्त	"	११
पदार्थों की उत्पत्ति का क्रम	२३४	१२
४३ वें प्रकरण की समाप्ति	२३६	३
अभाव से पदार्थों की उत्पत्ति का मत	"	५
इस का खण्डन	"	१६
४४ वें प्रकरण की समाप्ति	२३८	१३
ईश्वर को जगत का कारण मानना	"	१५

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
४५ वें प्रकरण की समाप्ति	२४१	३
कारण के बिना (अकस्मात्) जगत की उत्पत्ति का मत और खण्डन	,,	५
४६ वें प्रकरण की समाप्ति	२४३	७
सब पदार्थों को अनित्य मानने का मत और खंडन	,,	९
४७ वें प्रकरण की समाप्ति	२४५	११
सब पदार्थों को नित्य मानने का मत और खंडन	,,	१२
४८ वें प्रकरण की समाप्ति	२४७	१३
पुंजवाद और उसका खण्डन	,,	१५
४९ वें प्रकरण की समाप्ति	२४९	१६
सब पदार्थों को अभावरूप मानने का मत और खंडन	,,	१८
५० वें प्रकरण की समाप्ति	२५१	२३
पदार्थों के संख्या भेद और सिद्धान्त ...	२५२	१
५१ वें प्रकरण की समाप्ति	२५४	२
फल की परीक्षा	२५४	४
५२ वें प्रकरण की समाप्ति	२५६	१३
दुःख की परीक्षा	,,	१५
५३ वें प्रकरण की समाप्ति	२५७	१६
मोक्ष की परीक्षा	,,	१८
५४ वें प्रकरण की समाप्ति	२५९	११
४ र्थ अध्याय के १ म आह्निक की समाप्ति	,,	१३
तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति	२६०	१
५५ वें प्रकरण की समाप्ति	२६२	२२

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
अवयवी (स्थूलपदार्थों) का खंडन और सिद्धि	२८३	२
५६ वें प्रकरण की समाप्ति	२८५	१०
परमाणु के अवयवों की आशंका और खंडन	"	१२
५७ वें प्रकरण की समाप्ति	२८८	२०
बाह्य (ज्ञान से भिन्न) पदार्थों का खंडन समाधान	"	२२
५८ वें प्रकरण की समाप्ति	२८९	७
तत्त्वज्ञान की वृद्धि पर आशंका और समाधान	"	९
योगाभ्यास के योग्य स्थान	२९१	४
५९ वें प्रकरण की समाप्ति	२९५	५
तत्त्वज्ञान की रक्षा का क्रम	"	६
६० वें प्रकरण की समाप्ति	२९६	१०
४ थे अध्याय के २ य आह्निक की समाप्ति	"	१२
४ थे अध्याय की समाप्ति	"	१४
५ वें अध्याय की अवतरणिका ...	२९७	१
जातियों के विशेष विभाग का सूत्र ...	२९८	२
साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम का लक्षण	२९९	९
इन दोनों के दुष्ट होने में हेतु	३०१	१
६१ वें प्रकरण की समाप्ति	"	१७
उत्कर्षसम आदि ६ जातियों का वर्णन	"	१९
इन छओं की दुष्टता का बीज	३०७	११
६२ वें प्रकरण की समाप्ति	३०९	१८
प्राप्तिसम और अप्राप्तिसम का निरूपण	"	१९
इन की दुष्टता का बीज	३११	६

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
६३ वें प्रकरण की समाप्ति	३१२	५
प्रसंगसम और प्रति दृष्टांतसम का निरूपण	”	७
प्रसंगसम का खण्डन	३१३	१३
प्रतिदृष्टान्तसम का खण्डन	३१४	२
६४ वें प्रकरण की समाप्ति	”	२०
अनुत्पत्तिसम का लक्षण	”	२२
इसका उत्तर	३१६	१
६५ वें प्रकरण की समाप्ति	”	२१
संशयसम का लक्षण	३१७	१
इसका उत्तर	३१८	१
६६ वें प्रकरण की समाप्ति	”	१३
प्रकरणसम का लक्षण	३१९	१
इसका उत्तर	”	१५
६७ वें प्रकरण की समाप्ति	३२०	५
अहेतुसम का लक्षण	”	७
इसका उत्तर	३२१	३
६८ वें प्रकरण की समाप्ति	”	१५
अर्थापत्ति समका लक्षण	”	१७
इसका खण्डन	३२२	१४
६९ वें प्रकरण की समाप्ति	३२३	३
विशेष सम का लक्षण	”	५
इसका उत्तर	”	२१
७० वें प्रकरण की समाप्ति	३२४	६

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
उपपत्ति सम का लक्षण	३२४	८
उपपत्ति सम का उत्तर	”	२१
७१ वें प्रकरण की समाप्ति	३२५	७
उपलब्धि सम का लक्षण	”	९
इसका उत्तर	३२६	४
७२ वें प्रकरण की समाप्ति	”	१३
अनुपलब्धि सम का लक्षण	”	१५
इसका उत्तर	३२७	१५
७३ वें प्रकरण की समाप्ति	३२८	१९
अनित्य सम का लक्षण	”	२१
इसका उत्तर	३३०	१
७४ वें प्रकरण की समाप्ति	३३१	६
नित्य सम का लक्षण	”	८
नित्य सम का उत्तर	३३२	१४
७५ वें प्रकरण की समाप्ति	३३३	९
कार्य सम का लक्षण	”	११
कार्य सम का उत्तर	३३४	९
७६ वें प्रकरण की समाप्ति	”	२२
मिथ्या विचार का प्रकरण	३३५	१
७७ वें प्रकरण की समाप्ति	३३८	८
५ वें अध्याय के १म आह्निक की समाप्ति	”	१०
निग्रह स्थानों के विशेष विभाग	३३९	१
प्रतिज्ञा हानि का लक्षण	३४०	५

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
प्रतिज्ञान्तर का लक्षण	३४१	७
प्रतिज्ञाविरोध का लक्षण	३४२	१०
प्रतिज्ञासंन्यास का लक्षण	३४३	२
हेत्वन्तर का लक्षण	,,	११
७८ वें प्रकरण की समाप्ति	३४४	१०
अर्थान्तर का लक्षण	,,	२३
निरर्थक का लक्षण	,,	२२
अविज्ञातार्थ का लक्षण	३४५	१२
अपार्थक का लक्षण	३४७	७
७९ वें प्रकरण की समाप्ति	३४८	१
अप्राप्तकाल का लक्षण	,,	४
न्यून का लक्षण	३४९	१
अधिक का लक्षण	,,	१५
८० वें प्रकरण की समाप्ति	३५०	१
पुनरुक्त का लक्षण	,,	४
पुनरुक्त का अनुवाद से भेद	,,	१८
८१ वें प्रकरण की समाप्ति	३५१	१२
अननुभाषण का लक्षण	,,	१५
अज्ञान का लक्षण	३५२	१७
अप्रतिभा का लक्षण	३५३	२
विक्षेप का लक्षण	,,	१५
८२ वें प्रकरण की समाप्ति	३५४	१४
मतानुज्ञा का लक्षण	,,	१६

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
पर्यनुयोज्योपेक्षण का लक्षण	३५५	३
निरनुयोज्यानुयोग का लक्षण	"	७
८३ वें प्रकरण की समाप्ति	३५६	१६
अपसिद्धान्त का लक्षण	"	१९
हेत्वाभास का लक्षण	३५७	७
८४ वें प्रकरण की समाप्ति	३५८	४
५ वें अध्याय के २ य आह्निक की समाप्ति ..	"	६
न्यायसूत्रवृत्ति की समाप्ति	"	१२

इति ॥ ॐ ॥

न्यायसूत्रवृत्ति में अशुद्धि और शुद्धि पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
र्थ्य,	र्थ्य	१	९	ते	हो	२४	२२
ग,)	ग),	,,	१५	मि	नि	२५	१
क्ष	क	,,	२०	अर्थमेत्स्य	अर्थप्रेत्याभा	,,	१२
ये	यें	५	८	व्याकाण	व्याकरण	,,	१३
औ के	औं के	६	९	है	हैं	२६	२
ग,)	ग),	७	५	स्म	ग्य	३०	९
घ)	घ),	,,	५	हेत्वभाव	हेतु	३१	१८
य	प	९	१९	वेगे	वेगा	३३	२०
ज्ञन	ज्ञान	११	८	स	स	३४	१५
हैं	है	१४	४	ऽयि	ऽधि	,,	२१
ग	ण	,,	२१	प्र	प्र	,,	२३
के	को	१६	१२	दूसर	दूसरा	,,	२४
वे	वें	१७	१९	अर्थवा	अथवा	,,	,,
पारमी:	पदद्रशी	१८	१२	म.	मा	३५	७
ग्र	ग्रं	,,	१३	(ग)	ग	,,	१५
के	में	२१	१५	वृत्तिके	वृत्तिमें	३७	१५
ऐलीपुत्रन	ऐलीपुत्राय	,,	१९	मा	मा	४१	१२
स्म	नः	२२	१६	पद्द	पद	४२	१०
स	नर	,,	१८	विशेष	विशेषण	,,	११
य	प	२३	१	हैं,	है;	४३	१
से	सेंभी	२४	१	मे	से	४४	२४
नालन्व	नालन्द	,,	१५	म्र	स्र	४५	९

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
नव	नव	४६	१८	इतरकारवर्णे नकव	उअरकावर्णे नकर	७१	२०
उस	उसे	,,	२०	यहांजाति	जाति	७२	१९
वि	लि	४८	१	तिये	लिये	७३	१९
द:	द:	४९	३	अध्याश	अध्याय	७४	११
मे	ने	,,	७	कुभी	कभी	७५	४
दिये	दिये	,,	१६	क	के	७६	१२
राम	राग	,,	२४	विषा	विशे	७९	२०
है	हैं	५३	३	सकना	सकने	,,	२२
हों	हो	५४	१७	सुम	सुन	८०	१
आयाहै,	जनायाहै,	५४	२४	केपहिले	में १२वें	,,	१६
डुष्ट	दुष्ट	,,	२५	पदा	पत्त	८१	३
ल	स	५५	१६	व,	न,	,,	४
भिचारी	अभिचारी	५७	३	है;	हैं;	,,	१२
भाव	भाव	५९	३	खा	का	,,	२१
ऽकरण	प्रकरणं	,,	२२	हं	खं	,,	,,
र्थ	अर्थ	,,	२३	मा	मा	,,	२४
लक	न्यका	६२	११	गा	ण	,,	,,
था	थो	६५	८	मेद	भेद	८३	११
है,	हैं,	,,	१६	गान	मान	८७	१७
होहै,	हीहै,	६८	२४	उत्पन्ननहीं	उत्पन्न	९०	२
निश्चित्र	निश्चित	६९	७	मेद	भेद	९२	२०
हढा	हढ	,,	२२	कांपने	कांपने	९६	१६
अविरुद्द	विरुद्द	७०	३	धही	दही	९८	५

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
वन	बन	९८	१५	न	नु	१२९	१९
ह्मा	ह्या	९९	१	कितु	किंतु	१३१	५
से	सं	१०२	४	होना	होती	१३४	१९
कों	क्यों	,,	,,	ये	यो	१३५	२४
केवन	केवल	१०३	२०	नी	नो	१३७	२
उं	ऊं	,,	२२	या	गा	,,	१८
कों	को	१०५	१४	नित्य	अनित्य	,,	२०
९	२	,,	१९	२५	२२	१३८	२०
शेप	शेषे	१११	८	म	स	१४७	५
१८	१९	,,	१७	ब	उ	,,	२२
भतीजे	भ्रातृ	११४	९	हा	हो	१४८	२४
मे	से	,,	१७	त्रुना	तृपना	१४९	२०
१९	२०	११७	१९	तितो	तिमो	१५०	२
बि	नि	१२१	२	बोध	वोध	१५१	१
सं	एवं	,,	५	विनाविशि ष(विनो	विनाविशि ष(विशे	,,	३
त्र	न	,,	१३	जिन	इन	,,	७
षि	सि	१२२	३	न्या	ज्या	१५२	२२
मय	भेय	१२३	२४	त्रि	क्रि	१५३	३
च	स	१२५	२१	पत्रर्थों के	पदार्थों के	१५७	२
इ	ह	१२८	८	से	में	,,	१२
सा	ना	,,	११	त्रामवहां	नामवहां	,,	१८
ना	न	१२७	१८	इंद्रियोंमों	इंद्रियोंमें	,,	१७
स	ल	,,	१३	योकोरंप	योंकोचेत	,,	१८

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
है,	है,	१५७	१५	मा	आ	२०८	१८
सा	से	,,	२४	गुए	गुण	२०९	१०
व	न	१५८	४	आनि	आप्ति	,,	१९
(वत)	(वृत्त)	,,	१०	ओ	के	२१०	२२
स्वर्श	स्पर्श	,,	११	बुद्धि	बुद्धिको	२११	१७
चा	ना	१५९	७	ति	थि	,,	१९
स्य	स्त	१६१	४	नीष	नीस	,,	२२
ट्टि	ष्टि	१६२	५	ड	ढ	२१२	५
ह	ष्ट	,,	१४	न्स	न्सं	२१२	२१
ये	ष्ठे	,,	१७	ये	या	२१४	२१
र	त्र	१६५	१४	ब	ष	२१६	१४
किअवस्थ	किआत्मा अवस्थ	,,	२३	केअर्थे	अर्थ	२२४	१८
				आश	नाश	२२५	२२
बे	ने	१७५	१८	ख	खु	२२८	८
त्रि	ति	१८४	२	या	आ	२२९	२४
दी	ही	१८६	५	ह	है	२३०	५
तु	उ	,,	११	व	न	,,	१९
पम	सम	१९७	२३	र	द	,,	२१
यै	ये	,,	२४	घ	धः	२३१	२०
य	या	१९९	४	धौं	यों	,,	२३
साए	माए	२०६	७	दोष	दोष	२३३	७
है	है,	,,	८	ह	रु	,,	१३
त्रि	ति	२०७	२	पत्र	पवा	,,	१७

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
स्प	न्य	२३४	२१	संयोग	संयोग	२४९	२
(धारमाए)	(धारमाए)	२३५	१	मे	म	,,	१७
नाश	न्याश	२३६	२१	सना	दाना	२५०	१०
शु	शुं	२३८	७	थिवीम	थिवीया	,,	११
त्म	त्क	२४०	१८	घतीति	प्रतीति	,,	१३
मम	भ्रम	२४१	२२	अर्यात	अर्थात्	,,	१६
का	क्ता	२४२	१	में	में	,,	१७
हं	है	,,	१	मानमे	मानने	,,	१७
वहीं	नहीं	,,	३	र	व	,,	२०
उनो	नोड़	,,	६	ओरजातिया	औरजातियां	२५१	८+९
योंमे	योंमें	,,	११	का	ला	,,	१८
या	गा	,,	२२	एकेदी	एकही	२५२	७
वा	दा	,,	२३	पदार्थ	पदार्थ	,,	८
गा	मा:	,,	२४	पदार्थ	पदार्थ	,,	९
मन	मन्त्र	२४४	८	वेदन	वेदना,	,,	२३
अनिता	अनित्यता	,,	१०	क	फ	२५४	७
ध्रनि	ध्वनि	,,	१८	मे	ने	,,	८
मे	में	,,	२३	सें	कें	२५५	६
सेही	सेही	२४५	२३	का	क्या	,,	१२
दीं	हीं	,,	२६	डाल	जाल	,,	१६
नौनौ	नौ	२४७	११	त	ते	२५६	१७
स्पा	स्था	२४८	१८	ट	र	,,	२४
उत्रीपनीति	उत्रपनीति	२४९	१	ख	व	२६०	१२

अशुद्ध	शुद्ध	पृ.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध	पृ.	पं.
है,	है,	१५७	१९	मा	आ	२०८	१८
सा	से	,,	२४	बुण	गुण	२०९	१०
व	न	१५८	४	मानि	माति	,,	१९
(वत)	(वत्त)	,,	१०	ओ	के	२१०	२२
त्वर्श	स्पर्श	,,	११	बुद्धि	बुद्धिको	२११	१७
वा	ता	१५९	७	पि	षि	,,	१९
म्य	स्य	१६१	४	नीट	नीस	,,	२२
द्वि	द्धि	१६२	५	ड	ठ	२१२	५
ह	इ	,,	१४	न्त	न्तं	२१३	२१
ये	थे	,,	१७	गे	या	२१४	२१
२	र	१६९	१४	ब	ष	२१८	१४
किअवश्य	किआत्मा अवश्य	,,	२३	केअर्थ	अर्थ	२२४	१७
				ज्ञाश	नाश	२२५	२२
वे	ने	१७९	१८	रु	गु	२२८	८
सि	नि	१८४	२	था	श्रा	२२९	२४
दी	ही	१८८	५	ह	है	२३०	५
तु	उ	,,	११	व	न	,,	१९
रम	सम	१९७	२३	र	द	,,	२१
थे	ये	,,	२४	ध	धः	२३१	२०
य	श	१९९	४	यौं	यों	,,	२३
साए	माए	२०६	७	दोप	दोष	२३२	७
है	है,	,,	८	क	कु	,,	१३
स्रि	नि	२०७	३	षक	षका	,,	१७

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
न्म	न्य	२३४	११	सैयोग	संयोग	२४९	२
(धारमाण)	(धारमाएं)	२३५	१	मे	म	〃	७
माश	नाश	२३६	११	सना	दाना	२५०	१०
ष्ठ	ष्ठं	२३८	७	थिवीस्म	थिवीशा	〃	११
ला	त्क	२४०	१८	शतीति	प्रतीति	〃	१२
स्म	ग्म	२४१	२२	ष्र्यात्	अर्थात्	〃	१५
का	का	२४३	१	में	में	〃	१७
मं	मे	〃	१	मानमे	मानने	〃	१७
वहीं	नहीं	〃	२	ए	व	〃	२०
उनो	मोड़	〃	६	मैरजानिया	औरजातियां	२५१	८+९
योमे	योंमें	〃	११	का	सा	〃	१८
या	ए	〃	२२	एकेही	एकही	२५२	७
ला	दा	〃	२५	पदार्थे	पदार्थ	〃	८
गा	गः	〃	२६	पदार्थे	पदार्थ	〃	९
मन	मन्त्र	२४४	८	वेदैना	वेदना,	〃	२३
ज्ञनिता	ज्ञनिमता	〃	१०	फ	फ	२५४	७
ज्ञप्ति	ज्ञप्ति	〃	१५	मे	ने	〃	८
में	में	〃	२३	से	सें	२५५	६
सेही	सेही	२४५	१३	का	क्या	〃	१२
ही	हीं	〃	१६	डास	जाल	〃	१६
नौनौ	नौ	२४७	११	त्व	त्र	२५७	१७
स्पा	स्था	२४८	१८	ट	र	〃	२४
उभोपनीति	उआपनीति	२४९	१	स्व	ख	२६०	१२

अशुद्ध	शुद्ध	पृ॰	पं॰	अशुद्ध	शुद्ध	पृ॰	पं॰
है,	है,	१५७	१९	मा	स्रा	२०८	१८
ला	ले	,,	२४	त्रुए	गुण	२०९	१०
व	न	१५८	४	मानि	माति	,,	१९
(वत)	(वत्)	,,	१०	सो	के	२१०	२२
त्वर्श	स्पर्श	,,	११	बुद्दि	बुद्धिको	२११	१७
त्ता	ता	१५९	७	पि	थि	,,	१९
स्य	स्य	१६१	४	नीष	नीस	,,	२२
क्रि	क्लि	१६२	५	उ	ड	२१२	५
ह	ह	,,	१४	न्स	न्सं	२१२	२१
ये	थे	,,	१७	गे	या	२१४	२१
२	त	१६५	१४	ब	ब	२१८	१४
किअवश्य	कि आत्मा अवश्य	,,	२३	के अर्थ	अर्थ	२२४	१८
				ज्ञाश	नाश	२२५	२२
ने	ने	१७५	१८	ल	गु	२२८	८
म्नि	म्नि	१८४	२	ग्रा	ग्रा	२२९	२४
ही	ही	१८८	५	ह	है	२३०	५
उ	ड	,,	११	व	न	,,	१९
पम	सम	१९७	२३	र	द	,,	२१
ये	थे	,,	२४	घ	धः	२३१	२०
य	या	१९९	४	धौं	धों	,,	२३
साल	माल	२०३	७	दोष	दोष	२३३	७
है	है,	,,	८	क	रु	,,	१३
स्त्रि	त्रि	२०७	३	पभ	यथा	,,	१७

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
न्य	त्य	२३४	२१	संयोग	संयोग	२४९	२
(परमाख)	(परमाणु)	२३५	१	मे	म	”	७
माश	नाश	२३६	२१	कना	दाना	२५०	१०
श्र	श्रुं	२३८	७	चिकीषा	चिकीर्षा	”	११
त्प	स्फ	२४०	१८	प्रतीति	प्रतीति	”	१२
मम	भ्रम	२४१	२२	अर्थात्	अर्थात्	”	१६
का	क्ता	२४२	१	मैं	मैं	”	१७
र्ष	है	”	१	मानमे	मानने	”	१७
बहीं	नहीं	”	३	र	व	”	२०
उमो	मोड़	”	६	जैरजातिया	औरजातियां	२५१	८+९
योंके	योंमें	”	११	का	ला	”	१८
या	ता	”	२२	एकेही	एकही	२५२	७
बा	दा	”	२३	पदार्थे	पदार्थ	”	८
गा	मः	”	२४	पदार्थे	पदार्थ	”	९
मन	भन्न	२४४	८	वेदना	वेदना,	”	२३
अनिता	अनित्यता	”	१०	फ	फ	२५४	७
अग्नि	अग्नि	”	१५	मे	ने	”	८
में	मैं	”	२२	सें	में	२५५	९
से ही	से ही	२४५	२३	का	क्या	”	१२
दीं	हीं	”	२६	डास	जाल	”	१६
नौनो	नौ	२४६	११	त्व	त	२५६	१७
स्या	स्था	२४८	१८	ट	र	”	२४
उमौपनीति	उमापनीति	२४९	१	ख	रव	२६०	१२

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
त्रि	त्रि	२६१	२४	साथ	साम्य	३०५	१५
मर	भर	२६२	१९	मा	ना	३०८	२३
फोग	कोन्याग	२६३	७	६१	६२	३०९	१६
यम	मय	२६५	७	६२	६३	३१२	६
त्वगे	स्वगे	२६६	९	सूमा	समा	,,	२३
रो	मे	२७०	२०	कारण	वारण	३१३	६
ता	ना	२७४	१२	प्रयोग	प्रयोग	,,	१२
को	कों	२७५	११	६३	६४	३१४	३१
५५	५६	२७९	११	सु	तु	३१५	२
५६	५७	२८२	१९	६४	६५	३१६	२४
ते	त्रे	,,	१८	किंतुनिम्न सकीस्ति हि नाशे	०	३१८	३१
म	म्न	२८५	१९				
षा	ष्णा	२८६	४	६५	६६	,,	२४
हे	है	२८८	१९	६६	६७	३२०	६
५७	५८	२८९	८	६७	६८	३२१	१६
ध्या	घ्या	,,	१३	६८	६९	३२३	४
से	सो	२९१	६	ना	नी	,,	१८
दृट	दृढ	२९४	२१	६९	७०	३२४	७
५८	५९	२९५	६	७०	७१	३२५	८
५९	६०	२९६	१०	७१	७२	३२६	१२
रेख्या	रेकख्या	२९९	१३	७२	७३	३२८	११
६०	६१	३०१	१८	नादो	वादी	३२९	६
य्यो	यों	३०२	१२	ल्तां	ता	,,	८

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
७३	७४	३३१	७
७४	७५	३३२	३
मे	ने	"	१५
मेसे	नेसे	"	१५
फ	प्र	३३४	४
स्रा	स्म	"	५
७५	७६	"	२४
त	त्व	३३५	१८
ना	नौ	३३६	९
यात्न	यत्न	"	१२
कीवाईं	कीनाईं	"	१३
७६	७७	३३८	९
स	से	३४२	१२
७७	७८	३४४	११
गु	ग्र	३४५	२०
सें	सैं	"	२४
७८	७९	३४८	२
का	कै	"	७
स्र	स्य	३४९	९
७९	८०	३५०	३
टू	ष्ट	"	२४
८०	८१	३५१	१३
भोतिविशेय	भांतिविशेष	"	१८

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
बाले	बोले	३५१	२१
मिहों	मिले	३५२	१४
प	प्र	"	१५
गमताग्र	नो कुछ न हीं समझा	"	२४
स्पा	स्या	३५४	१
८१	८२	"	१५
८२	८३	३५६	१८
८३	८४	३५८	५

तमाम्

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
त्रि	त्रि	२६१	२४
मर	भर	२६२	१९
फोग	कोन्याग	२६३	७
यम	मय	२६५	७
त्वर्ग	स्वर्ग	२६८	९
रो	से	२७०	२०
ना	ना	२७४	१२
को	कों	२७५	११
५५	५६	२७९	२१
५६	५७	२८२	१९
न्ते	न्ते	"	२८
न्न	न्न	२८५	१९
षणा	ष्णा	२८६	४
ह्रै	ह्रैं	२८८	१९
५७	५८	२८९	८
ष्या	ष्या	"	१३
से	सो	२९१	६
ह्रट	ह्रठ	२९४	२१
५८	५९	२९५	६
५९	६०	२९६	१०
रेष्या	रेकष्या	२९९	१३
६०	६१	३०१	१८
ग्यो	ग्यो	३०२	११

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
साय	साम्य	३०६	१५
मा	ना	३०८	१३
६१	६२	३०९	१६
६२	६३	३१२	६
सूमा	सूमा	"	१३
काराग	कारग	३१३	६
प्रयोग	प्रयोग	"	१२
६३	६४	३१४	२१
सु	सु	३१५	२
६४	६५	३१६	२४
किंतुनित्य स्वकीति हि नाशो	०	३१८	२१
६५	६६	"	२४
६६	६७	३२०	६
६७	६८	३२१	१६
६८	६९	३२२	४
ना	नी	"	१८
६९	७०	३२४	७
७०	७१	३२५	८
७१	७२	३२६	१२
७२	७३	३२८	२१
नादो	वादो	३२९	६
क्तां	ता	"	८

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
७३	७४	३३१	७	वाले	वोले	३५१	२१
७४	७५	३३२	३	मिहौं	मिले	३५२	१४
मे	ने	,,	१५	घ	ध	,,	१५
मेसे	नेसे	,,	१५	गभसपढ़ा	नो कृष्ण हीं समझा	,,	२४
फा	था	३३४	४				
स्रा	स्त्र	,,	५	स्ता	स्त्रा	३५४	१
७५	७६	,,	२४	८१	८२	,,	१५
त्र	त्व	३३५	२६	८२	८३	३५६	२६
ना	नौ	३३६	९	८३	८४	३५८	५
यान्त्र	यन्त्र	,,	१९		तमाम		
कीवाईं	कीनाईं	,,	२३				
७६	७७	३३८	९				
स	से	३४१	२३				
७७	७८	३४४	१२				
गु	गु	३४५	२०				
सें	मैं	,,	२४				
७८	७९	३४८	२				
का	के	,,	७				
स	स्र	३४९	९				
७९	८०	३५०	३				
र्ट	ट्ट	,,	२४				
८०	८१	३५१	१३				
भोतिविशेष	भौतिविशेष	,,	१९				

CC-0. In Public Domain. Funded by IKS-MoE